TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186295

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University

lo. H370.1 M42S Accession No. H.3187

r माथुर एस०, एस०, डॉ०

शिक्षा - सिद्धान्त.

his book should be returned on or before the date
st marked below.

शिक्षा - सिद्धान्त

[शिक्षा के दार्शनिक तथा सामाजिक आधार]

[विभिन्न विश्वविद्यालयों के बी० टी०, बी० एड०,
एम० एड०, आदि के पाठ्यक्रमानुसार]

लेखक
डाक्टर एस० एस० माथुर
एम० ए०, पी-एच० डी०

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक :
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

Checked 1963

[सर्वाधिकार सुरक्षित है]
प्रथम संस्करण
सन् १९६१
मूल्य ६.००

मुद्रक :
राजकिशोर अग्रवाल
कैलाश प्रिंटिंग प्रेस
बागमुजफ्फरखाँ, आगरा

प्राक्कथन

आज सम्पूर्ण विश्व के समक्ष और विशेष रूप में भारत के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिए, उसका स्वरूप क्या हो ? किस प्रकार वह देश के नागरिकों को संकीर्ण राष्ट्रीयता की दुष्मनोवृत्ति से ऊपर उठाकर उन्हें विश्व नागरिक बनाने में सहायता प्रदान करे और कैसे मनुष्यों के सर्वाङ्गीण विकास में वह अपना योगदान दे। युद्ध की विभीषिकाओं और पतन के कगार पर खड़ी इस मानव जाति को किस प्रकार बचाया जाय ? कैसे विश्वशान्ति, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा की जाय ? किस प्रकार अधिनायक तन्त्र, और सर्वाधिकार तन्त्र को रोककर जनहित के लिए सम्यक् प्रजातन्त्रीय शिक्षा प्रदान की जाय ? आज की मानव जाति के सामने ये प्रश्न हैं और उनको हमें हल करना है। विश्व के यदि युद्धों को रोका जा सकता है, यदि मानव जाति और उसकी संस्कृति की रक्षा की जा सकती है, तो उसका एकमात्र साधन है सम्यक् शिक्षा। क्योंकि जिस राष्ट्र के जीवन में जो उसके लक्ष्य होंगे, शिक्षा उनको पूर्ण करने में सहायक होगी जैसा कि अधिनायकवादी नाजियों ने किया था। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा एक साधन है स्वयं साध्य नहीं। संसार के राजनीतिज्ञों और विचारकों को सर्व प्रथम मानव जीवन के ऐसे लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए जिससे विश्व शान्ति और विश्व कल्याण में सहायता मिले। शिक्षा उन लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक होगी यह निसन्देह है किन्तु उस समय हमें सोच समझ कर शिक्षा के स्वरूप को भी निर्धारित करना होगा जिससे नागरिकों में शुद्ध प्रजान्तत्रीय भावनाओं का विकास हो, जो मानव को मानव समझें उन्हें समान समझे और उन्हें प्रेम करना सीखें।

देश स्वतन्त्र हुए लगभग सत्रह वर्ष व्यतीत हो गये किन्तु भारतीय शिक्षा का ढांचा अब भी वही साम्राज्यवादी बना हुआ है। यहाँ की शिक्षा भारत के नागरिकों में प्रजातन्त्रीय भावनाओं के विकास में सर्वथा असफल है। आज शिक्षा के ढांचे के पुनर्गठन से कार्य नहीं चल सकता, इसमें तो आमूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता हैं, इसकी पुनर्रचना की आवश्यकता है। मैकाले ने जब

भारतीय शिक्षा का शिलान्यास किया था तो उसकी प्रथम आधार शिला थी पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति तथा उसका उद्देश्य था क्लर्कों और जी हुजूर करने वाले लोगों का निर्माण करना तथा भारतीयों को ऐसा बना देना जिससे वे अपनी ही सभ्यता और संस्कृति से घृणा करने लगें, अपन भाइयों को ही हेय समझने लगें। जिसका परिणाम यह हुआ कि देश का वह नव-शिक्षित वर्ग जिसे अपनी सभ्यता, संस्कृति से घृणा थी अंग्रेजी और अंग्रेज का उपासक बन बैठा। उसी वर्ग ने अंग्रेजों की साम्राज्यवादी लिप्सा को अपने ही हाथों से अहंकार और क्रूरता की मदिरा पिलायी और देश का अनन्त शोषण हुआ। मैं पूछता हूँ क्या वह सड़ी गली शिक्षा पद्धति जिसे विदेशियों ने अपना शासन बनाये रखने के यहाँ प्रारम्भ किया था, आज भी वाँछनीय है? क्या यह आज देश के हित साधन में काम आ सकती है? मैं कहूँगा हर्गिज नहीं। आज तो देश की शिक्षा की पुनर्रचना की आवश्यकता है जिसकी नींव की शिलायें भारतीय जनजीवन और संस्कृति से ग्रहण की गयी हों तथा जिसमें पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान को भी स्थान हो, जो सच्चे प्रजातन्त्रीय जीवन के लिये भारतियों को तैयार करे और उन्हें विश्व नागरिक बनाए। यही मेरा सुझाव इस पुस्तक में रहा है। पुस्तक सुधीजनों के हाथ में है, वे इस समस्या की ओर सोचे और समझें तथा कुछ नये विचार प्रदान करे जिससे भारतीय शिक्षा के नव निर्माण में सहायता मिले। मेरा तो केवल यही प्रयास रहा है कि भारतीय जन अंग्रेजी और पाश्चात् भौतिकवाद के चुङ्गल से निकल कर भारतीय संस्कृति और आध्यात्म को अपनाए जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ाती है किन्तु पश्चिम का जो श्रेयस्कर है, ग्राह्य है—विज्ञान, उसे भी ग्रहण करें।

प्रस्तुत पुस्तक में विषय से सम्बन्धित बहुत सी पाश्चात्य पुस्तकों की सहायता ली गयी है तथा पाश्चात्य मान्य विद्वानों और मनीषियों की उक्तियां और मतों को यथा स्थान दिया गया हैं साथ ही लेखक ने अपने मतों और अनुभवों को यथा स्थान अभिव्यक्त किया है। इस पुस्तक के लिखने में लेखक का प्रयास यह रहा है कि 'शिक्षा-सिद्धान्त' से सम्बन्धित सभी वादों का उल्लेख किया जाय और अपने मत को भी स्पष्ट रखा जाय। पुस्तक सामग्री की योजना इस प्रकार बनायी गयी हैं जिससे विभिन्न विश्वविद्यालयों के बी० टी०, बी० एड०, एम० एड०, बी० ए०, एल० टी० आदि के क्षात्रों के लिये भी उपयागी हो।

जिन पाश्चात्य और पौरवात्य शिक्षा-विदों के ग्रन्थों के अध्ययन से मुझे प्रस्तुत पुस्तक लिखने की प्रेरणा मिली है उन सबका मैं बड़ा ऋणी हूँ। मेरे मित्र और सहयोगी श्री नारायणसिंह दुबे एम० ए० (हिन्दी, राजनीति) साहित्य-

रत्न, प्राध्यापक हिन्दी विभाग, आर०ई० आई० कॉलेज दयालबाग का मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने पाण्डुलिपि शुद्ध करके, भाषा परिमार्जन और हिन्दी अनुवाद में मेरी बड़ी सहायता की है। यहाँ मैं अपनी पत्नी श्रीमती उर्मिला माथुर के प्रति भी सानुराग आभार प्रदर्शित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने मुझे प्रस्तुत पुस्तक रचना में बड़ी सहायता दी और समय समय पर प्रोत्साहन तथा ठोस सुझाव देकर कृतकार्य होने में योग दिया।

शिक्षा विभाग
आर० ई० आई० ट्रेनिंग कॉलेज
दयालबाग, आगरा।
रामनवमी, चैत्र सं० ९०१८ वि०

एस० एस० माथुर
एम० ए०, पी-एच० डी०

विषय-सूची

अध्याय विषय	पृष्ठ
१–शिक्षा के आधार–दार्शनिक एवं सामाजिक	१—६
पुस्तक योजना	१
शिक्षा के दार्शनिक आधार को समझने की आवश्यकता	२
सरांश	४
अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न	५
सहायक पुस्तकों की सूची	५-६
भाग १ [शिक्षा के दार्शनिक आधार]	७
२–शिक्षा तथा दर्शन	८—१९
दर्शन क्या है ?	१०
शिक्षा दर्शन क्या है ?	११
शिक्षा के उद्देश्य तथा दर्शन शास्त्र	१३
दर्शनशास्त्र तथा पाठ्यक्रम	१५
दर्शन शास्त्र तथा पठ्य पुस्तकें	१५
दर्शन शास्त्र का शिक्षण विधियों पर प्रभाव	१६
दर्शन शास्त्र तथा अनुशासन	१६
दर्शन शास्त्र तथा शिक्षक	१७
सारांश	१७
अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न	१८
सहायक पुस्तकों की सूची	१८

३—दर्शनशास्त्र के सम्प्रदाय: प्रकृतिवाद २०—४२

प्रकृतिवाद का संक्षिप्त इतिहास तथा उसके प्रमुख व्याख्याकार २१
रूसो का शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण २२
रूसो के अनुसार विकास की अवस्थाएँ २४
रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य २६
रूसो द्वारा प्रतिपादित शिक्षा पद्धति का स्वरूप २७
रूसो का शिक्षा पर प्रभाव २८
हर्बर्ट स्पेन्सर २९
स्पेन्सर महोदय का शिक्षा सिद्धान्त ३०
शिक्षा में प्रकृतिवाद ३३
प्रकृतिवाद और शिक्षण विधि ३५
अनुशासन की समस्या ३६
प्रकृतिवाद की आलोचना ३७
सारांश ३९
अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न ४१
सहायक पुस्तकों की सूची ४२

४—आदर्शवाद ४३-६२

आदर्शवाद का संक्षिप्त इतिहास एवं इसके प्रवर्त्तकों का दर्शन ४४
आदर्शवादियों के अनुसार वातावरण का महत्व ४७
आदर्शवाद और शिक्षा ४८
आदर्शवादी शिक्षा के उद्देश्य ५०
आदर्शवाद की आलोचना ५६
आदर्शवाद की देन ५७
सारांश ५९
अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न ६२
सहायक पुस्तकों की सूची ६२

५—प्रयोजनवाद ६३-८८

प्रयोजनवाद का संक्षिप्त इतिहास ६३
जॉन ड्यूवी और उसका दर्शन ६४

ड्यूवी का शिक्षा प्रक्रिया पर प्रभाव ७४
ड्यूवी के दर्शन की आलोचना ७५
शिक्षा में प्रयोजनवाद ७७
सारांश ८३
अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न ८७
सहायक पुस्तकों की सूची ८८

६—शिक्षा और उसका अर्थ ८९-९५

शिक्षा ईश्वर के प्रति एक उर्ध्वगामी अनुकूलन ८९
शिक्षा द्वारा समूह में परिवर्तन ९१
वास्तव में शिक्षा क्या है ? ९२
सारांश ९४
अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न ९४
सहायक पुस्तकों की सूची ९५

७—शिक्षा के उद्देश्य ९६-१२४

उद्देश्यों का महत्व ९७
ज्ञान का उद्देश्य ९८
शिक्षा का सांस्कृतिक उद्देश्य १०२
शिक्षा का वैयक्तिकता के विकास का उद्देश्य १०६
शिक्षा तथा आत्मानुभूति १०८
सामाजिक उद्देश्य १११
सामाजिक तथा व्यक्तिगत उद्देश्यों का समन्वय ११३
शिक्षा में नैतिक उद्देश्य ११५
हर्बर्ट के नैतिकता के सम्बन्ध में विचार ११५
बरट्रेन्ड रसेल का दृष्टिकोण ११७
आदर्शवादी दृष्टिकोण ११९
सारांश १२०
अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न १२३
सहायक पुस्तकों की सूची १२४

८—स्वतन्त्रता और अनुशासन १२५—१३७

अनुशासन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण १२६
अवदमनात्मक विचारधारा १२९

प्रभावात्मक विचारधारा १२६
मुक्त्यात्मक विचारधारा १३०
अनुशासन सम्बन्धी नवीन विचारधारा १३०
विद्यालयों में अनुशासन रखने के सम्बन्ध में ठोस सुझाव १३२
सारांश १३५
अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न १३६
सहायक पुस्तकों की सूची १३७

९—पाठ्यक्रम १३८–१६१

पाठ्यक्रम का अर्थ १३८
आदर्शवाद और पाठ्यक्रम १४०
प्रकृतिवाद और पाठ्यक्रम १४२
यथार्थवाद और पाठ्यक्रम १४२
प्रयोगवाद और पाठ्यक्रम १४३
पाठ्यक्रम के अन्य आधार १४५
पाठ्यक्रम निर्माण के प्रमुख सिद्धान्त १४८
सेकेन्डरी एडूकेशन कमीशन के अनुसार वर्तमान पाठ्यक्रम के दोष तथा पाठ्यक्रम निर्माण के मूल सिद्धान्त १५१
पाठ्यक्रम के विभिन्न प्रकार १५३
सारांश १५८
अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न १६०
सहायक पुस्तकों की सूची १६१

१०—संवेगात्मक समायोजन के लिये शिक्षा १६२–१७१

संवेगात्मक समायोजन तथा कुसमायोजन का अर्थ १६३
कुछ सामान्य प्रकार के कुसमायोजन १६४
व्यक्तित्व के कुसमायोजन किस प्रकार सीखे जाते हैं १६५
शिक्षा का कार्य १६७
सारांश १७०
अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न १७१
सहायक पुस्तकों की सूची १७१

११—व्यावसायिक शिक्षा १७२–१८१

व्यावसायिक शिक्षा से तात्पर्य १७३

व्यावसायिक शिक्षा का महत्व १७५
व्यावसायिक शिक्षा और उदार शिक्षा १७७
सारांश १७८
अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न १७९
सहायक पुस्तकों की सूची १८०

भाग २ [शिक्षा के सामाजिक आधार] १८१

१२—शिक्षा के सामाजिक आधार १८३–१९४

शिक्षा-समाज-विज्ञान १८६
शिक्षा-समाज-विज्ञान के अध्ययन का विस्तार १८८
शिक्षा-समाज-विज्ञान का अन्य विषयों से सम्बन्ध १८९
शिक्षा-समाज-विज्ञान की सीमाएं १९१
सारांश १९२
अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न १९४
सहायक पुस्तकों की सूची १९४

१३—सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा १९५–२०४

सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा का अर्थ १९६
सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा के उद्देश्य १९७
शिक्षा के कार्य १९८
शिक्षा-समाज-विज्ञान तथा शिक्षण पद्धतियाँ २०२
सारांश २०३
अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न २०४
सहायक पुस्तकों की सूची २०४

१४—समाज शिक्षा के सिद्धान्त २०५–२२०

समाज-शिक्षा का अर्थ २०६
समाज-शिक्षा के उद्देश्य २०८
समाज-शिक्षा के लक्ष्य २०९
समाज-शिक्षा की आवश्यकता २१४
भारतवर्ष में समाज-शिक्षा कार्यक्रम २१७
सारांश २१८
अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न २१९

सहायक पुस्तकों की सूची २२०

१५—शिक्षा के साधन २२१–२३३

शिक्षा के अविधिक साधन २२०
विद्यालय, विद्यालय के कार्य २२३
विद्यालय तथा समाज का पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध २२४
विद्यालय का सनातनी कार्य; विद्यालय का प्रगतिशील कार्य २२५
भारतवर्ष के विद्यालय तथा उसमें दोष २२६
भारतवर्ष के विद्यालयों के लिये पुनुर्संङ्गठन के सुझाव २२९
सारांश २३१
अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न २३२
सहायक पुस्तकों की सूची २३३

१६—शिक्षा के अविधिक साधन २३४–२४२

परिवार और शिक्षा २३४
आधुनिक काल में परिवार की अवस्था २३५
बालक की शिक्षा में परिवार का सहयोग २३७
सारांश २४१
अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न २४२
सहायक पुस्तकों की सूची २४२

१७—समाज और शिक्षा २४३–२५१

समाज, समाज का वर्गीकरण २४४
समाज और मानव २४५
समाज पर शिक्षा का प्रभाव २४५
विद्यालय तथा समाज २४६
अध्यापक और समाज २४७
शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन २४८
सारांश २४९
अध्यापन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न २५०
सहायक पुस्तकों की सूची २५१

१८—राज्य एक शिक्षा-संस्था के रूप में २५२–२५८

सर्वाधिकार तन्त्र तथा जनतन्त्र राज्य तथा शिक्षा २५३

राज्य तथा शिक्षा २५३
सर्वाधिकार केन्द्रित राज्य तथा शिक्षा २५४
राज्य को शिक्षा में कहाँ तक भाग लेना चाहिए ? २५५
सारांश २५६
अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न २५७
सहायक पुस्तकों की सूची २५८

१९—धर्म और शिक्षा २५९—२७२

धर्म क्या है ? २५९
धार्मिक शिक्षा की आवश्यक २६२
धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा समिति के प्रमुख सुझाव २६५
सारांश २६९
अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न २७१
सहायक पुस्तकों की सूची २७२

२०—राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा २७३—२८९

देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता में अन्तर २७३
राष्ट्रीयता का अर्थ २७४
राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा २७५
राष्ट्रवादी शिक्षा में दोष २७७
शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीयता २७८
संयुक्त राष्ट्र संघ २८०
शिक्षा के उद्देश्य २८३
अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा का कार्यक्रम २८५
सारांश २८७
अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न २८९
सहायक पुस्तकों की सूची २८९

२१—प्रजातन्त्र और शिक्षा २९०—३०७

प्रजातन्त्र क्या है ? २९०
जनतन्त्र के लिये शिक्षा २९३
जनतन्त्र की शिक्षा के लिये अविधिक तथा सविधिक शिक्षा-संस्थाओं का उत्तरदायित्व २९४

जनतन्त्र और शिक्षा के उद्देश्य २९७
जनतन्त्र और पाठ्यक्रम २९८
जनतन्त्र और विद्यालय २९९
जनतन्त्र में अध्यापक २९९
जनतन्त्र में अनुशासन ३००
जनतन्त्रीय विचार धारा की सफलता के लिये
छः मूल सिद्धान्त ३०२
सारांश ३०५
अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न ३०७
सहायक पुस्तकों की सूची ३०७

२२—अवकाश के लिये शिक्षा ३०८—३१६

अवकाश का अर्थ ३०८
अवकाश के सदुपयोग का महत्त्व ३०९
अवकाश के लिए शिक्षा की आवश्यकता ३१०
अवकाश के लिये शिक्षा किस प्रकार दी जाय ३१२
अवकाश के समय की क्रियाएं ३१३
सारांश ३१५
अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्न ३१६
सहायक पुस्तकों की सूची ३१६

२३—भारतीय शिक्षा की पुनर्रचना ३१७—३३३

भारतीय शिक्षा की वर्तमान स्थिति के कारण ३१८
शिक्षा की पुनर्रचना से तात्पर्य ३२१
शिक्षा की पुनर्रचना कैसे हो ३२२
शिक्षा की पुनर्रचना में किन बातों पर ध्यान देना
आवश्यक है ? ३२९
सारांश ३३२
अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न ३३३
सहायक पुस्तकों की सूची ३३३

अनुक्रमणिका १३५—१४३

—: o :—

अध्याय १

शिक्षा के आधार—दार्शनिक एवं सामाजिक

शिक्षा किसी न किसी रूप में आदि काल से ही दी जाती रही है। सर्व-प्रथम,शिक्षा बालक को माता-पिता द्वारा ही दी जाती थी और वे ही बालक को जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से अवगत कराते थे। परन्तु धीरे-धीरे समाज में ज्ञानार्जन की भावना बढ़ी, समाज का स्थान गौण होगया तथा समाज में शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव होने लगा, अतएव समाज ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि शिक्षा विशेष व्यक्तियों द्वारा विशेष स्थानों पर ही प्रदान की जाय। इस प्रकार शिक्षक तथा विद्यालयों का विकास हुआ।

शिक्षा का आवश्यकता प्रत्येक मनुष्य को है। बिना शिक्षा के मानव जीवन भार स्वरूप हो जाता है। कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो कुछ सीखे बिना जीवन की गुत्थियों को सरलता से सुलझा सके। कोई भी कठिनाई आने पर या किसी भी समस्या के आने पर व्यक्ति अपने सीखे हुये ज्ञान के आधार पर उसका हल ढूँढ़ता है। यदि उसकी शिक्षा उच्चकोटि की है तो अपनी समस्या का उपयुक्त तथा सम्यक् हल ढूंढ़ लेता है। परन्तु यदि उसको ठीक से शिक्षा प्राप्त नहीं हुई है तो वह समस्या का हल दोषपूर्ण ढङ्ग से करता है और जो हल वह ढूँढ़ निकालता है वह प्रायः अपूर्ण एवं अशुद्ध ही होता है। समस्या फिर भी ज्यों

1, Meaning of Education, 2, Primitive,

की त्यों बनी ही रहती है चाहे व्यक्ति अपने मन को बहलाकर समझले कि उसने उपयुक्त हल ढूंढ़ लिया है। इसी कारण प्रत्येक समाज ने अपना यह कर्त्तव्य समझा कि शिक्षा का प्रबन्ध समाज के प्रोमक बालक के लिये किया जाये। प्रत्येक समाज में चाहे वह विकसित, अर्ध विकसित या अविकसित दशा में हो, शिक्षा अवश्य ही दी जाती है। जब जंगली मनुष्य, जो हमारे सभ्य संसार के दृष्टिकोण से कोसों दूर है, अपनी जाति के युवा बालकों को शिकार करना या दुश्मन से रक्षा करना सिखाते हैं तो वह वास्तव में शिक्षा ही प्रदान करता है।

शिक्षा की आवश्यकता की ओर दृष्टिपात करने से ही हमारा काम नहीं चल सकता। हमें यह भी स्पष्ट रूप से समझना चाहिये कि शिक्षा से हमारा क्या तात्पर्य है? शिक्षा वास्तव में किसे कहते हैं? तथा शिक्षा किन उद्देश्यों को दृष्टिकोण में रखकर दी जानी चाहिये? शिक्षा का वास्तविक अर्थ क्या है? शिक्षा के साधन क्या हैं? शिक्षा के पाठ्य-क्रम का चुनाव कैसे किया जाय? शिक्षा देने में अनुशासन के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए? शिक्षा तथा समाज एक दूसरे पर क्या प्रभाव डालते हैं? शिक्षा द्वारा जनतन्त्रीय भावना का विकास कैसे किया जा सकता है? इत्यादि। प्रस्तुत पुस्तक में हमारा ध्येय इन्हीं प्रश्नों पर विचार करना है जो एक शिक्षक को जानना अत्यावश्यक है।

पुस्तक-योजना

इस पुस्तक में शिक्षा के सम्बन्ध में मूल प्रश्नों का उत्तर दो दृष्टिकोणों को सामने रखकर दिया गया है। वे हैं:—

(१) दार्शनिक

(२) सामाजिक

पुस्तक के प्रथम भाग में शिक्षा के दार्शनिक आधार का विवेचन किया गया है तथा विभिन्न दार्शनिकों के मतानुसार शिक्षा के मूल प्रश्नों का उत्तर प्रदान किया गया है।

द्वितीय भाग में शिक्षा के सामाजिक आधारों को दृष्टिकोण में रखकर समाज तथा शिक्षा का सम्बन्ध, शिक्षा के साधन, सामाजिक शिक्षा-विज्ञान का महत्व, शिक्षा तथा जनतंत्र, शिक्षा में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया गया है।

शिक्षा के दार्शनिक आधार को समझने की आवश्यकता

यदि हम किसी भारतीय विद्यालय के कार्य-क्रम पर दृष्टिपात करें तो ऐसा अनुभव करेंगे कि वहाँ का कार्यक्रम दूषित उद्देश्यों पर आधारित ही नहीं वरन् निरुद्देश्य भी है। कहीं-कहीं का कार्यक्रम शिक्षा के उद्देश्यों के विरुद्ध भी दीख

पड़ता है। उदाहरणार्थ—एक अध्यापक कक्षा में प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति की महानता को स्पष्ट करने के लिये ऐसा कार्यक्रम निर्धारित करता है जो प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता को समझने में सहायता प्रदान करता है। वह समझता है कि यदि बालक प्राचीन संस्कृति के आधार पर जीवन व्यतीत करने योग्य बन जाता है तो उसका शिक्षा उद्देश्य सफल हो गया। परन्तु दूसरा अध्यापक प्राचीन सभ्यता को रूढ़िवादिता समझता है। उसके विचार से जाति की पुरानी संस्कृति नष्ट कर देनी चाहिये तथा बालकों का नव-निर्माण नई सभ्यता के आधार पर किया जाना चाहिये। वह शिक्षा देते समय प्राचीन संस्कृति की कड़ी आलोचना करते हुये धज्जियाँ उड़ाता है और बालकों में प्राचीन संस्कृति के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार के अध्यापक विद्यालय में एक दूसरे के उद्देश्यों को नष्ट करने में संलग्न रहते हैं। फल यह होता है कि बालक की शिक्षा अधूरी तथा अपूर्ण रह जाती है। इसके अतिरिक्त ये विरोधी विचारधारायें बालक के मन में द्वन्द्व उत्पन्न कर देती हैं तथा उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधक होती हैं। यदि शिक्षा देने में ऐसी परिस्थितियों को बचाना है और शिक्षा का नियोजन उचित ढँग से करना है तो अध्यापक को शिक्षा के दार्शनिक आधार का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा दर्शन ही शिक्षक के सम्मुख विभिन्न दार्शनिक विचार धाराओं को प्रस्तुत करता है तथा इस बात के लिये उसे प्रोत्साहित करता है कि वह शिक्षा प्रदान करने में सबसे उचित दृष्टिकोण को अपनाये।

भारतवर्ष में इस समय शिक्षा के सम्बन्ध में बहुत ही भ्रान्त धारणायें फैली हुई है। भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा है और इन दोनों में समन्वय अभी स्थापित नहीं हो पाया है। परिणामस्वरूप एक-दूसरे के अनेकों विरोधात्मक मत शिक्षा की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में प्रतिपादित किये जारहे हैं। इन सबने शिक्षक को कठिनाइयों को इतना जटिल और गम्भीर बना दिया है कि वह शिक्षा प्रदान करने के लिये एक निश्चित कार्य-क्रम को अपनाने में अपने को असफल पाता है। वह शिक्षण कार्य किस प्रकार करे? यह प्रश्न हर अध्यापक के सामने है। उसकी यह शिक्षा पुराने ऋषियों के आश्रम में दी जाने वाली हो? या यह शिक्षा बौद्ध युग के विहारों में दी जाने वाली हो; या यह वर्तमान युग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने वाली हो? अध्यापक कुछ भी निश्चित करने में अपने को सर्वथा अयोग्य पाता है। परन्तु यदि वह शिक्षा के प्रति विभिन्न दार्शनिक मतों को देखे, साथ ही यहदेखे कि हिन्दू ऋषियों का दार्शनिक आदर्शवाद क्या था? भौतिक-वाद का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा है? या वर्तमान युग का शिक्षा के सम्बन्ध

में वैज्ञानिक दृष्टिकोण क्या है ? तो निःसन्देह उसे अपना मार्ग चुनने में अत्यन्त सरलता हो जायगी। जो उसे शिक्षा के कार्य-क्रम को निर्धारण करने में सफलता प्रदान करेगा।

एक शिक्षक को शिक्षा के सामाजिक आधार का ज्ञान क्यों आवश्यक है ?

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है तथा समाज विद्यालयों का संगठन अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये करता है। बालक का सर्वाङ्गीण विकास इसी दृष्टिकोण से करना शिक्षा का परम ध्येय समझा जाता है, ताकि बालक अपना जीवन उचित प्रकार से समाज में व्यतीत कर सके। शिक्षा द्वारा समाज का उत्थान और समाज से शिक्षा के प्रति प्रेरणा पाना दोनों ही महत्वपूर्ण कार्य हैं। परन्तु एक शिक्षक इन कार्यों के सम्बन्ध में कुछ भी सहयोग नहीं कर सकता जब तक कि वह शिक्षा के सामाजिक आधारों के सम्बन्ध में भली भांति परिचित न हो।

आज के जनतंत्रीय युग में शिक्षक का उत्तरदायित्व बहुत ही बढ़ गया है। प्रत्येक जनतंत्र राज्य में नागरिक के कर्त्तव्य एवं अधिकारों की सम्यक् जानकारी के बिना प्रजातंत्रीय भावना का विकास सम्भव नहीं हो सकता। शिक्षा द्वारा ही नागरिकों को इस जानकारी से आगमन कराया जाता है। परन्तु उपयुक्त रूप से यह जानकारी उसी समय हो सकती है जब शिक्षा और समाज के सम्बन्ध में शिक्षकों को स्पष्ट ज्ञान हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि बिना सामाजिक आधार के ज्ञान के एक शिक्षक अपने व्यवसाय में सफल सिद्ध नहीं हो सकता।

सारांश

शिक्षा की आवश्यकता प्रत्येक मानव को है। अत. हर प्रकार का समाज अपने सदस्यों के लिये शिक्षा का कुछ न कुछ प्रबंध करता है। शिक्षा की आवश्यकता के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं परन्तु एक शिक्षक को यह जानना आवश्यक है कि वह शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य, अथवा साधन आदि क्या हैं ? उसे शिक्षा देने से पहले शिक्षा के प्रति उचित दृष्टिकोण अपनाना होगा। इसके लिये उसे शिक्षा के आधारों को समझना होगा। इस अध्याय में शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार का वर्णन किया गया है।

शिक्षा के दार्शनिक आधार के अध्ययन के द्वारा शिक्षक शिक्षा-सम्बन्धी विभिन्न विचारधाराओं से अवगत हो जाता है और उसे इस बात के लिये बाध्य होना पड़ता है कि वह शिक्षा प्रदान करने में सबसे उचित ष्टिकोण

को अपनाये। विभिन्न दार्शनिक मतों का ज्ञान अध्यापक को ऐसा मार्ग चुनने में सरलता प्रदान करता है जिसके द्वारा शिक्षा का कार्यक्रम निर्धारण सुगमता से किया जा सके।

शिक्षा के सामाजिक आधार के अध्ययन के द्वारा शिक्षक को समाज का संगठन एवं शिक्षा के सम्बन्ध का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। वह जान लेता है कि समाज शिक्षा का आयोजन कैसे करता है ? और इसके कार्यक्रम पर कैसे प्रभाव डालता है ? तथा शिक्षा समाज की प्रगति में किस प्रकार सहायक हो सकती है ? इस प्रकार का ज्ञान भी उसके लिये आवश्यक है क्योंकि शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है और समाज की शक्तियों इत्यादि का इसके साथ सम्बन्ध के स्पष्ट ज्ञान के बिना शिक्षा का आयोजन उचित एवं प्रभावशाली ढंग से नहीं हो सकता।

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. 'शिक्षा की प्रत्येक मानव को आवश्यकता है', इस कथन की पुष्टि करते हुये बताइये कि किसी भी समाज में बिना शिक्षा उसके सदस्यों की क्या दशा होगी ?
२. शिक्षा के दार्शनिक आधार का ज्ञान प्रत्येक शिक्षक को क्यों आवश्यक है ?
३. शिक्षा के सामाजिक आधार से क्या तात्पर्य है ? क्या शिक्षा का कार्य बिना इन आधारो को ध्यान में रखे चल सकता है ? अपने मत की सोदाहरण पुष्टि कीजिये।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) ब्रुबेचर : **मार्डन फिलास्फी ऑफ एजूकेशन**
(२) कनिङ्गम : **दि पिवेटल प्रोबलम्बस ऑफ एडूकेशन**
(३) चेपमेन एण्ड काउन्टस् : **प्रिन्सिपल्स ऑफ एडूकेशन**
(४) फिन्डले : **दि फाउन्डेशन्स ऑफ एडूकेशन**
(५) हेन्डरसन : **ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि फिलासफी ऑफ एडूकेशन**
(६) किलपेट्रिक : **सोर्स बुक इन दि फिलासफी ऑफ एडूकेशन**
(७) किलपेट्रिक : **फिलासफी ऑफ एडूकेशन**

(८) रॉस	:	ग्राउण्ड वर्क ग्रॉफ एडूकेशनल थ्यौरी
(९) टॉमसन	:	ए मॉर्डन फिलासफी ग्रॉफ एडूकेशन
(१०) भाटिया	:	थ्यौरी ग्रॉफ एडूकेशन एण्ड हिस्ट्री ग्रॉफ एडूकेशनल थौट
(११) बियर	:	दि सोसल फन्क्शन्स ग्रॉफ एडूकेशन
(१२) ब्राउन	:	एडूकेशनल सोश्यालॉजी
(१३) कुक एण्ड कुक	:	ए सोशियोलॉजीकल एप्रोच टु एडूकेशन
(१४) फ्लेमिन्ग	:	दि सोशल साइकॉलॉजी ग्रॉफ एडूकेशन
(१५) ग्रोटेवे	:	एडूकेशन एण्ड सोसायटी

— :०: —

भाग १

शिक्षा के दार्शनिक आधार

अध्याय २

शिक्षा तथा दर्शन[1]

आज के युग मे ऐसा व्यक्ति मिलना नितान्त असम्भव है जो शिक्षा के सम्बन्ध में किसी न किसी प्रकार की धारणा न रखता हो। आप यह देखेंगे कि विभिन्न व्यक्तियों की धारणायें एक-दूसरे से बहुत ही भिन्न होती हैं। व्यक्तियों की धारणाओं की विभिन्नता का आधार हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का आदर्श एक-दूसरे से भिन्न होता है। जैसा जिसके जीवन का आदर्श या उद्देश्य होता है, शिक्षा के प्रति वह वैसा ही अपना दृष्टि-कोण रखता है। अतएव हम कह सकते हैं कि शिक्षा के प्रति धारणायें मानव के जीवन दर्शन[2] से ही सम्बन्धित होती हैं। यही कारण है कि शिक्षकों और अभिभावकों को इस निर्णय तक पहुँचने में अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है कि 'शिक्षा से क्या तात्पर्य है?' 'शिक्षा के क्या उद्देश्य हैं?" और "किस प्रकार इन उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकती है?" वे शिक्षा का उपयुक्त मार्ग निर्धारण करने के लिये तथा शिक्षा के साधनों[3] और साध्य[4] का क्रमबद्ध एवं आलोचनात्मक अध्ययन करके उसकी समस्याओं का उचित हल निकालने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार शिक्षा दर्शन[5] एवं जीवन दर्शन को तथा उनके सम्बन्धों को समझने का प्रयास करते हैं।

---

1. Philosophy and Education, 2. Philosophy of life of the people, 3. Means, 4. Ends, 5. Philosophy of Education.

दर्शन क्या है ?

जैसे ही हम शिक्षा दर्शन शब्द का प्रयोग करते हैं तो स्वाभाविक रूप से हमारे सामने एक प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर 'दर्शन' शब्द का अर्थ है क्या ? और शिक्षा दर्शन से हमें क्या समझना चाहिये ? वस्तुत: दर्शन शब्द का अर्थ कुछ पेचीदा है और समझने में कुछ कठिन । साधारणतया लोग इस शब्द से कुछ ऐसे अर्थों का सम्बन्ध जोड़ते हैं कि यह स्थूल[1] की अपेक्षा सूक्ष्म[2] का वर्णन अधिक करता है । यहाँ हम दर्शन की कुछ परिभाषाओं पर दृष्टिपात करेंगे ।

ब्राइटमैन महोदय का कथन है कि "दर्शन शास्त्र की परिभाषा एक ऐसे प्रयास के रूप में दी जा सकती है जिसके द्वारा सम्पूर्ण मानव अनुभूतियों के सम्बन्ध में सत्यता से विचार किया जाता हो, अथवा जो हमारी सम्पूर्ण अनुभूतियों को बोधगम्य बनाता हो ।"[3] उनका कहना है कि सृष्टि में जो कुछ भी मानव अनुभव गम्य है या मानव पर प्रभाव डालता है अथवा मनुष्यों द्वारा जान लिया जाता है, वह सब दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत ही है ।

सैलर्स महोदय का कथन है कि "दर्शन शास्त्र एक ऐसा अनवरत प्रयत्न है जिसके द्वारा मनुष्य संसार तथा अपनी प्रकृति के सम्बन्ध मे क्रमवद्ध ज्ञान द्वारा एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने की चेष्टा है ।"[4] दर्शन शास्त्र सदैव मौलिक तथ्यों, भौतिक संसार, जीवन, मन, समाज, ज्ञान, आदर्श और मूल्य आदि के सम्बन्ध में सूझ प्राप्त करने की चेष्टा करता है ।

बर्ट्रेन्ड रसैल महोदय की परिभाषा अत्यन्त व्यापक है । उनका कहना है कि **"दर्शन शास्त्र एक ऐसा प्रयत्न है जो चिरंतन प्रश्नों का आलोचनात्मक उत्तर ढूंढने के लिये, उन सब बातों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करता है जो इन प्रश्नों को अपूर्ण बना देती है तथा हमारे सामान्य विचारों की अव्यवस्था के**

---

1. Concrete, 2. Abstract.

3. Brightman, *'An Introduction to Philosophy'*, N. Y., Holt, 1925 : "Philosophy may be defined as the attempt to think truly about human experience as a whole, or to make our whole experience intelligible."

4. Sellars, R. W., "The Principles and Problems of Philosophy", N. Y., Macmillan, 1926 : "Philosophy is a persistent attempt to gain insight into the nature of world and of ourselves by means of systematic reflection."

सम्बन्ध में भी सम्यक् जानकारी प्राप्त करता है।"[1]

इन परिभाषाओं तथा दूसरे दर्शन शास्त्रियों के मतों के आधार पर हम कह सकते है कि **दर्शन उचित ढंग से अनवरत विचारने की एक कला है जो मानव जीवन के सम्बन्ध में किसी भी रूप में आने वाली सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में तर्क पूर्ण ढंग से विचार करता है।** दर्शन ईश्वर का स्वरूप, जीव का उससे सम्बन्ध संसार की व्याख्या तथा आत्मा के रहस्य के सम्बन्ध में विचार करता है।

दर्शन शब्द के अर्थ से अवगत होने के पश्चात् हम इस पर विचार करेंगे कि शिक्षा दर्शन क्या है ?

शिक्षा-दर्शन क्या है ?[2]

हमने ऊपर देखा है कि दर्शन शास्त्र अन्तिम प्रश्नों; जैसे-संसार क्या है ? ईश्वर का स्वरूप क्या है ? आत्मा क्या है ? आदि के उत्तरों पर विचार करता है। इसी प्रकार शिक्षा-दर्शन शिक्षा सम्बन्धी अन्तिम प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ता है। शिक्षा दर्शन ऐसे प्रश्नों से सम्बन्धित है-जैसे; शिक्षा क्या है ? शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं ? आदि। अतएव हम कह सकते है कि **शिक्षा-दर्शन शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का दर्शन की दृष्टि से विवेचन करता है।**

शिक्षा-दर्शन के अध्ययन की आवश्यकता

शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का हल जीवन दर्शन की सहायता से ढूंढ़ा जाता है, यह कह देने के पश्चात् इस बात का समझना कठिन न होगा कि एक ऐसे व्यक्ति को जो शिक्षा देने या प्राप्त करने से सम्बन्धित है, उसे शिक्षा-दर्शन के अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है। परन्तु फिर भी कुछ ऐसे मनुष्य अवश्य होंगे जो इस बात से सहमत नही होंगे। उनका मत यह होगा कि शिक्षा और दर्शन का कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि शिक्षा का सम्बन्ध स्थूल से है जबकि दर्शन का सूक्ष्म से। वे कहेंगे कि हम सूक्ष्म की ओर ध्यान देकर क्यों जीवन की वास्तविकता से दूर हो जायँ ? उनकी विवादास्पद युक्तियों का उत्तर देने के लिये हमें उन कारणों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए जिनके आधार पर हम शिक्षा दर्शन के अध्ययन की आवश्यकता समझते हैं।

---

1. Bertrand Russell : *The Problems of Philosophy*, N. Y. Holt, 1927. : "Philosophy is the atiempt to answer ultimate questions critically, after investigating all that makes such questions puzzling and after realizing the vaguness and confusion that underlie our ordinary ideas.

2. What is philosophy of education.

हमारा मत तो यह है कि **दर्शन और शिक्षा एक-दुसरे पर अन्योन्याश्रित हैं**। दर्शन शास्त्र शिक्षा पर प्रभाव डालता है और शैक्षिक विचारधारायें दार्शनिक दृष्टिकोण पर नियन्त्रण रखती हैं तथा उसकी त्रुटियों को दूर करती हैं। यही कारण है कि उच्चकोटि के दार्शनिक उच्चकोटि के शिक्षा शास्त्री भी हुए हैं। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण शैक्षिक विचारधारा के साथ-साथ चलता है। उदाहरणार्थ—प्लेटो जिसे हम एक आदर्शवादी विचारक मानते हैं, उसने शिक्षा के लिये **"आदर्शों की सांस्कृतिक योजना"** का प्रतिपादन किया।[1] स्पेन्सर[2] जो एक भोगवादी[3] विचारक था, उसने शिक्षा में प्रकृतिवाद को उच्च स्थान दिया। इसी प्रकार लॉक,[4] ड्यूवी आदि की शिक्षा सम्बन्धी विचार धारा आवश्यक रूप से उनके दार्शनिक दृष्टिकोण पर आधारित है। ड्यूवी का कथन तो यह है कि **दर्शन अपने सामान्मतम रूप में शिक्षा-सिद्धान्त ही है**।[5] फिक्टे महोदय कहते हैं कि **क्षिक्षा दर्शन-शास्त्र की सहायता के बिना पूर्णता एवं स्पष्टता को प्राप्त नहीं कर सकती**।[6]

वर्तमान समय में दर्शन शास्त्र तथा शिक्षा में बहुत ही कम सम्बन्ध तथा अन्योन्याश्रिता है। बहुत से शिक्षा शास्त्री शिक्षा के क्षेत्र में वर्तमान दोषों का यही कारण मानते हैं वे कहते हैं कि शिक्षा तथा दर्शन शास्त्र की प्रथकता दोनों के लिये ही दुर्भाग्यशाली बन गई है। शिक्षा में वैज्ञानिक विधि के प्रयोग से अनेकों अनुसन्धान हुए हैं और हो रहे है। इन अनुसन्धानों के अनुसार ही ही शिक्षा का प्रतिपादन किया जा रहा है। परन्तु ये सब दार्शनिक तत्वो से शिक्षा को बहुत दूर लिये जा रहे हैं। फलस्वरूप बहुत से शिक्षक शिक्षा के उचित उद्देश्यों तथा प्रयोजनों की जानकारी से वंचित रह जाते हैं। सत्य तो यह है कि न तो **केवल अमूर्त एवं सूक्ष्म के बारे में विचारक ही दर्शन शास्त्र के लिये मात्र लाभदायक है और न उचित शिक्षा ही तब तक सम्भव है जब तक कि शिक्षा उद्देश्यों के सम्बन्ध में शिक्षा शास्त्रियों को भली-भाँति ज्ञान न हो**।

प्रत्येक शिक्षा विशारद एवं समाजशास्त्री इस बात से सहमत है कि **शिक्षा के दार्शनिक आधारों को बिना समझे हुए शैक्षिक विचार एक अन्धकारमय मार्ग में चलना होगा**। यदि उचित ढंग से शिक्षा देना है तो शिक्षा सम्बन्धी विचारों में स्पष्टता लानी होगी। यह स्पष्टता दार्शनिक आधार

---

1. Plato advocated a cultural scheme of ideas, 2. Spencer 3. Hedonist, 4. Lock, 5. Dewey : 'Philosophy is the theory of education in its most general phase', 6. Fichte : 'The art of education will never attain complete clearness on itself without philosophy'.

द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। दर्शन द्वारा ही शिक्षा में सत्यता तथा उपयोगिता का समावेश हो सकता है। स्पेन्सर महोदय ने तो यहाँ तक कह दिया कि वास्तविक शिक्षा का संचालन वास्तविक दार्शनिक ही कर सकता है।"[1]

इसी प्रकार से जेन्टिल का मत है कि "शिक्षा, दर्शन की सहायता के बिना सही मार्ग पर नहीं बढ़ सकती।"[2] रूसो का कथन है कि हमारे "वास्तविक अध्ययन का विषय मनुष्य का भाग्य होना चाहिये और यह वास्तव में एक दार्शनिक समस्या है।"[3] रौस महोदय शिक्षा व दर्शन को एक सिक्के के दो पहलू मानते है। तात्पर्य यह है कि शिक्षा और दर्शन में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जैसे सिक्का एक ही है परन्तु उसके दो रूप हैं एक सीधा, दूसरा उल्टा। इसी प्रकार शिक्षा तथा दर्शन एक ही वस्तु के दो रूप हैं। इस विवेचन से तथा विभिन्न शिक्षा शास्त्रियों के मतानुसार हम कह सकते हैं कि शिक्षा और दर्शन में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

प्रत्येक शैक्षणिक प्रश्न निश्चित रूप से "जीवन दर्शन" से सम्बन्धित होता है। प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित जीवन दर्शन होता है चाहे वह सत्य हो या असत्य, सुव्यवस्थित हो अथवा अव्यवस्थित। शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियाँ, अनुशासन की समस्या, पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव आदि सब उन व्यक्तियों के जीवन दर्शन पर आश्रित होते हैं जो समाज में शिक्षा देने के लिये उत्तरदायी है। अतएव हम शिक्षा का उचित रूप तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि व्यक्तियों के 'जीवन दर्शन' की ओर दृष्टिपात न कर लें। यह समस्या दार्शनिक है और इस कारण हमारे पास दर्शन शास्त्र की सहायता के बिना शैक्षणिक प्रश्नों का उत्तर देने का कोई अन्य साधन नहीं है। यहाँ अब हम कुछ महत्वपूर्ण शैक्षणिक समस्याओं का विवेचन करेंगे और देखेंगे कि दर्शन शास्त्र उनके सुलझाने में कैसे सहायक होता है।

(अ) शिक्षा के उद्देश्य तथा दर्शन शास्त्र[4]

बिना उद्देश्य के किसी भी प्रकार की शिक्षा देना उपादेय नहीं होती है। शिक्षा के उद्देश्य जीवन के उद्देश्यों पर आश्रित होते है। परन्तु जीवन के

1. Spencer : 'True education is practicable only by a true Philosopher'.

2. Gentile : "The process of education cannot go along right lines without the help of philosophy."

3. Rousseau: "Our real study should be of Human Destiny and this is surely a philosophical problem", 4. Aims of education and philosophy.

उद्देश्यों में व्यक्तिगत भिन्नता होती है। इसीलिये शिक्षा के उद्देश्य भी निश्चित रूप से नहीं बताये जा सकते। ये विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा विभिन्न प्रकार से बताये जाते हैं। समाज, काल तथा परिस्थिति के कारण इनमें भी विभिन्नता पायी जाती है क्योंकि जीवन के उद्देश्य जो एक काल विशेष में होते हैं दूसरे काल में उनमें परिवर्तन आ जाता है। यह अन्तर देश बदलने या समाज के बदलने से भी आ जाता है। अतएव हम कह सकते हैं कि शिक्षा के उद्देश्य कभी भी चिरंतन नहीं हो सकते। उनमें परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन जीवन के ध्येय में विभिन्नता के कारण भी होता है। परन्तु जीवन के उद्देश्य का अध्ययन एक दार्शनिक समस्या है तो फिर शिक्षा के उद्देश्यों का अध्ययन भी एक दार्शनिक समस्या के ही रूप में माना जाना चाहिये। उच्च दार्शनिक विचारधारा ही हमें सच्चे आदर्शों और मानव जीवन के उद्देश्य सम्बन्धी ज्ञान को प्रदान करती है और इसी कारण यह शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करती है।

दार्शनिक शिक्षा के उद्देश्यों पर प्रभाव हमें बहुत से उदाहरणों द्वारा प्राप्त होता है। प्राचीन भारत में धर्म पर बड़ा जोर दिया जाता था और जीवन का लक्ष्य केवल मोक्ष प्राप्त करना समझा जाता था जिससे मनुष्य आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाय और अपने को परम-आत्म में लीन कर ले। इसीलिये हिन्दुओं ने चरित्र निर्माण को ही शिक्षा का उद्देश्य माना। उन्होंने इस उद्देश्य को ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य कहा और अन्य उद्देश्य जैसे ज्ञानोपार्जन आदि इस उद्देश्य के सहायक एवं गौण उद्देश्य समझे गये। इसी प्रकार स्पार्टा निवासी जो राष्ट्र को ही अपने जीवन का सर्वस्व समझते थे, उन्होंने शिक्षा का उद्देश्य कठोर अनुशासित तथा आज्ञाकारी सिपाही तथा हृष्ट-पुष्ट नागरिकों का निर्माण करना ही रखा।

मध्यकाल तथा आधुनिक काल में भी शिक्षा के उद्देश्य जीवन-दर्शन से ही प्रभावित हैं। मध्यकालीन योरुप में धर्म का संकीर्ण दृष्टिकोण था तथा शिक्षा उसी के अनुसार दी जाती थी। शिक्षा का ध्येय केवल धर्म से सम्बन्धित था। अन्य किसी भी प्रकार का ज्ञान वर्जित समझा जाता था जो बाइबल द्वारा दिये गये प्रवचनों से किसी भी रूप में संघर्ष में आता था।

आधुनिक काल में प्रजातंत्र राज्यों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को उदार दृष्टि से देखा जाता है तथा नागरिक के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को महत्त्व दिया जाता है। अतएव प्रजातन्त्रीय राज्यों में; जैसे इंगलैण्ड तथा अमरीका में सफल नागरिक का निर्माण, जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के साथ सामाजिक उन्नति का भी ध्यान में रखे, ही शिक्षा का उद्देश्य माना जाता है। हमारे देश में क्योंकि

अभी तक शिक्षा सम्बन्धी विचार धारा स्पष्टता को गृहीत नहीं हुई है, इसी कारण कोई भी निश्चित उद्देश्य स्थिर नहीं हो पाया है । इसका एक मात्र कारण यही है कि हमारे पुराने जीवन दर्शन पर पाश्चात्य दर्शन का प्रभाव पड़ा है । हम अभी तक उन दोनों का समन्वय करने में सफल नहीं हो पाये हैं। हमारे जीवन के हर पहलू में एक परिवर्तन की भावना है । परन्तु वह क्या हो ? इस पर अनेकों विरोधी मत हमारे सम्मुख हैं। इन सब का दुष्प्रभाव हमारे शिक्षा के उद्देश्यों पर भी पड़ रहा है, यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि वर्तमान शिक्षा शास्त्री इस ओर प्रयत्न-शील है कि देश की शिक्षा को उचित रूप प्रदान किया जाय तथा उसका उद्देश्य भी स्वस्थ हो । कदाचित हम निकट भविष्य में इस प्रयास में शीघ्र सफल हों किन्तु इससे पूर्व हमारे जीवन-दर्शन एवं जीवन के उद्देश्यों को स्थिर करना भी आवश्यक है । बिना इस नींव के शिक्षा का महत्व दृढ़ एवं उपयोगी नहीं बन सकेगा ।

(आ) दर्शनशास्त्र तथा पाठ्य-क्रम

पाठ्य-क्रम पर भी दर्शन शास्त्र का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । हमने ऊपर देखा है कि शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण दर्शनशास्त्र द्वारा ही होता है । पाठ्य-क्रम द्वारा ही इन उद्देश्यों की प्राप्ति करने की चेष्टा की जाती है । अतएव पाठ्य-क्रम का दर्शन शास्त्र से प्रभावित होना स्वभाविक ही है ।

किसी भी देश में जिन आदर्शों का प्रतिपादन किया जाता है अथवा जो सामाजिक मान्यताएँ होती हैं उन्हीं के अनुसार पाठ्य-क्रम का निर्माण किया जाता है जैसे साम्यवादी देशों में साम्यवाद को बहुत ही उच्च दृष्टिकोण से देखा जाता है और यह समझा जाता है कि यदि साम्यवाद के सिद्धान्तों को अपना लिया जाय तो संसार की सारी कठिनाइयाँ दूर हो जायंगी यही कारण है कि वहाँ का सारा पाठ्य-क्रम इस प्रकार से अनुप्रेरित होता है कि साम्यवाद की भावना प्रत्येक बालक में जाग्रत हो जाय और उसका विकास इस प्रकार हो कि उनमें साम्यवाद की महानता के अतिरिक्त कुछ अन्य धारणायें पनप ही न सकें ।

(इ) दर्शनशास्त्र तथा पाठ्य-पुस्तकें

पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव भी देश की दार्शनिक विचारधारा के अनुकूल ही होता है। ऊपर हमने साम्यवाद का उदाहरण दिया है। यहाँ भी हम उसी उदाहरण को ले सकते है । पाठ्य-क्रम की सफलता उचित पाठ्य-पुस्तकों पर ही निर्भर है । यही कारण है कि साम्यवादी देशों में

ऐसी पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव होता है जो उनके आदर्श के अनुकूल हों। उन पुस्तकों को पढ़कर बालक के अन्दर वांछित भावनायें उत्पन्न की जा सकती हैं और साम्यवाद में उनकी श्रद्धा बढ़ जाती है। इस समय हमारे देश को भी ऐसी पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता है जो देश की एकता को प्रोत्साहन दें और जनतंत्र राज्य के नागरिकों को उनके कर्त्तव्यों से अवगत करावें क्योंकि हमारे देश का आदर्श है—जनतंत्र।

(ई) दर्शनशास्त्र का शिक्षण विधियों पर प्रभाव

दार्शनिक विचार धारा का प्रभाव शिक्षण विधियों पर भी पड़ता है। शिक्षण विधि से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जो बालक तथा पाठ्य-क्रम में सम्बन्ध स्थापित करती है। यह क्रिया बहुत कुछ इस दार्शनिक विचार पर ही निर्भर होती है कि बालक को शिक्षा देते समय अध्यापक को रोक-टोक करनी चाहिये अथवा नहीं।

उचित शिक्षण विधियों द्वारा ही जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। हम यह देख ही चुके हैं कि जीवन के लक्ष्य का निर्धारण एक दार्शनिक समस्या है अतएव यह स्पष्ट है कि शिक्षण विधियों का निर्माण करना भी एक दार्शनिक समस्या है।

(उ) दर्शनशास्त्र तथा अनुशासन

अनुशासन की समस्या पूर्ण रूपेण जीवन-दर्शन पर ही आधारित होती है। जसा जीवन-दर्शन एक काल या स्थिति में किसी समाज का होता है वैसा ही अनुशासन का सिद्धान्त उस समाज में अपनाया जाता है प्राचीन भारत में जीवन का उद्देश्य धर्म पर आधारित था। इसी के प्रभाव के कारण गुरू पूज्य समझा जाता था और उसकी आज्ञा का पालन प्रत्येक विद्यार्थी का धर्म माना जाता था इसी प्रकार स्पार्टा (ग्रीक) में जहाँ देश की सुरक्षा को जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य समझा जाता था, कठोर सैनिक अनुशासन और सामरिक कौशल के सिद्धान्त को ही मान्य समझा जाता था।

प्रकृतिवादी विचारधारा का विकास होने पर अनुशासन का सिद्धान्त भी बदल गया। प्रकृतिवादियों ने अनुशासन के मुक्ति वादी सिद्धान्त का समर्थन किया। मुक्तिवादी सिद्धान्त के अनुसार बालक को स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है और उसे अपने ऊपर स्वयं नियन्त्रण रखने का भार सौंपा जाता है। बालक के ऊपर से कठोर नियंत्रण हटा लिया जाता है। क्योंकि प्रकृतिवादी इस दार्शनिक सिद्धान्त में आस्था रखते हैं कि बालक निर्दोष उत्पन्न होता है और वह निर्दोष ही बना रहेगा यदि उसे स्वतन्त्रता दे दी जाये। परन्तु यदि समाज का कठोर

नियंत्रण उस पर लाद दिया जायेगा तो उसमें दोषों के उभर आने की सम्भावना है।

(अ) दर्शनशास्त्र तथा शिक्षक

शिक्षक का बालक के ऊपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। जो कुछ भी शिक्षक कहता है या करता है, वह सब बालकों द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा की जाती है। शिक्षक प्रायः अपने आदर्शों के अनुकूल ही शिक्षा देने का प्रयास करता है। जो उसका जीवन दर्शन होता है उसी की ओर वह बालकों को आकर्षित करता है। इस प्रकार से बालकों पर शिक्षक की दार्शनिक विचार-धाराओं का बहुत प्रभाव पड़ता है।

यही कारण है कि प्रत्येक शिक्षाशास्त्री इस बात से सहमत है कि शिक्षक सदैव सच्चरित्र एवं उच्च आदर्श रखने वाला होना चाहिये जिससे बालकों को वह ठीक मार्ग की ओर ले जाने में सफल हो तथा अपने आदर्शों से उनको प्रभावित करते हुये प्रेरणा दे सके।

अभी हमने शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया और यह स्पष्ट रूप से देखा कि दर्शन तथा शिक्षा का गहरा सम्बन्ध है और कोई भी व्यक्ति जो शिक्षा क्षेत्र में रुचि रखता है उसे शिक्षा दर्शन का अवलोकन करना अत्यन्त आवश्यक है।

अन्त में हम बटलर महोदय के इस कथन को दुहरा सकते हैं कि **"दर्शन शास्त्र शैक्षिक प्रक्रिया के लिये एक पथ-प्रदर्शन का काम करता है जबकि शिक्षा एक अनुसंधान का क्षेत्र होने के कारण कुछ इस प्रकार की पदत्त सामग्री को प्रस्तुत करता है जो दार्शनिक निर्णय का आधार होती हैं।"**

सारांश

दर्शन एक अनवरत विचारने की कला है जो मानव जीवन के सम्बन्ध में किसी भी रूप में आने वाली सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में तर्क पूर्ण ढंग से विचार करता है। यह जीवन सम्बन्धी अन्तिम प्रश्नों; जैसे—संसार क्या है? ईश्वर क्या है? आदि का उत्तर ढूंढ़ता है। इसी प्रकार शिक्षा-दर्शन शिक्षा सम्बन्धी अन्तिम प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने की चेष्टा करता है।

शिक्षा-दर्शन के अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है क्योंकि (१) दर्शनशास्त्र और शिक्षा का एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दर्शनशास्त्र शिक्षा पर

प्रभाव डालता है और शैक्षिक विचारधारा दार्शनिक दृष्टिकोण पर नियंत्रण रखती है तथा उसकी त्रुटियों को दूर करती है। (२) वर्तमान समय में शिक्षा तथा दर्शनशास्त्र की दूरी दोनों ही के लिये दुर्भाग्य पूर्ण बन गई है। (३) प्रत्येक उच्च विचारक इस बात से सहमत है कि शिक्षा के दार्शनिक आधारों को बिना समझे हुये शैक्षिक विचार एक भ्रम है। (४) प्रत्येक शैक्षिक प्रश्न निश्चित रूपेण जीवन दर्शन से प्रभावित होता है तथा शैक्षिक समस्याओं का उचित हल दर्शनशास्त्र की सहायता से खोजा जा सकता है। दर्शनशास्त्र का प्रभाव (अ) शिक्षा के उद्देश्यों पर, (आ) पाठ्य-क्रम पर, (इ) पाठ्य-पुस्तकों के चुनाव पर, (ई) शिक्षण विधियों पर, (उ) अनुशासन, तथा (ऊ) शिक्षक पर पड़ता है।

अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न

१. आप दर्शन-शास्त्र से क्या समझते हैं? दर्शन-शास्त्र का शैक्षिक सिद्धान्त पर क्या प्रभाव पड़ता है? स्पष्ट कीजिये।

२. कुछ उदाहरण देकर समझाइये कि विभिन्न समय और विभिन्न स्थानों में किस प्रकार से प्रचलित जीवन दर्शन ने शैक्षिक उद्देश्य को निर्धारित किया है?

३. "शिक्षा दर्शन का व्यावहारिक रूप है और दर्शन शिक्षा का सैद्धान्तिक रूप,"—आप कहाँ तक इस दृष्टिकोण से सहमत हैं?

४. प्रसिद्ध दार्शनिक प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री भी हुए हैं। इसके कारणों पर प्रकाश डालिए। पाँच ऐसे प्रसिद्ध दार्शनिकों का शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण प्रस्तुत कीजिये तथा किस सीमा तक उनकी दार्शनिक विचारधारा ने शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण को प्रभावित किया है इसका भी वर्णन कीजिये।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) जोड, सी० ई० ऐम : **फिलासफी**
(२) ड्यूवी, जॉन : **रिकन्सट्रेक्शन इन फिलासफी**
(३) हैन्डरसन, सेटला वान पेटन: **इन्ट्रोडक्शन टू फिलासाफी ऑफ एडूकेशन**
(४) भाटिया : **फिलासफी एण्ड एडूकेशन**
(५) रॉस : **ग्राउन्डवर्क ऑफ एडूकेशन थ्योरी**
(६) बेड, वी : **फन्डामेन्टलस् आफ एडूकेशन**

(७) अग्रवाल, एस० के० : शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त
(८) लॉज, आर० सी० : फिलासफी आफ एडूकेशन
(९) रस्क : दि फिलॉसॉफिकल बेसेज़ ऑव एडूकेशन
(१०) होर्न, एच० एच० : दि डेमोक्रैटिक फिलासॉफी ऑव एडूकेशन

— :o: —

अध्याय ३

दर्शन शास्त्र के सम्प्रदाय[1] : प्रकृतिवाद

दर्शन शास्त्र द्वारा उठाये हुये विभिन्न प्रश्नों के उत्तर विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न प्रकार से दिये गये हैं। इन विभिन्न प्रकार के उत्तरों को इनकी कुछ विशेषताओं के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है। दार्शनिक विचारधाराओं का विभाजन, जिनका उल्लेख बहुधा किया जाता है वे इस प्रकार हैं। ये सम्प्रदाय, प्रकृतिवाद[2], आदर्शवाद[3], प्रयोगवाद[4] तथा यथार्थवाद[5] कहलाते हैं।

प्रकृतिवाद अपने शुद्ध रूप से वैज्ञानिक विचारधारा पर केन्द्रित है। यह सम्प्रदाय केवल भौतिक ब्रह्माण्ड[6] में आस्था रखता है। यह प्रकृति को सर्वोच्चतम सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। यह आध्यात्म को किसी भी प्रकार से कोई महत्व नहीं देता।

दूसरी ओर आदर्शवाद यह मानता है कि प्रकृति की एकाकी रूप में कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। वह प्रकृति को एक व्यापक मन[7] या ब्रह्म या

---

1. Schools of Philosophy, 2. Naturalism, 3. Idealism 4. Pragmatism. 5. Realism, 6. Physical universe, 7. Universal Mind.

ईश्वर पर अवलम्बित मानता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार यथार्थता[1] मनुष्य के आन्तरिक अनुभवों द्वारा ही ज्ञात हो सकती है। वह बाहरी संसार में नहीं देखी जा सकती। इससे तात्पर्य है कि यथार्थ या सत्य वह नहीं है जो बाह्य संसार में दिखाई पड़ता है। यह तो सब हमें धोखे में डालने के लिये है। यदि किसी को सत्य को पहचानना है और वास्तविकता से साक्षात्कार करना है तो उसे अपने आन्तरिक अनुभवों का विकास करना चाहिये जिनके द्वारा ही उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति होगी।

प्रयोगवाद आधुनिकतम विचारधारा है। यह विचारधारा प्रकृतिवाद की विधियों तथा आदर्शवाद के निर्णयों के समवेत रूप है[2]। यह एक नये प्रकार का आदर्शवाद है जो आध्यात्मिक जीवन का प्रत्यक्षीकरण सांसारिक जीवन के अनुभवों द्वारा करने पर बल देता है।

यथार्थवाद को हम प्रकृतिवाद के बालक की संज्ञा दे सकते हैं परन्तु बहुत से यथार्थवादियों का विश्वास प्रकृतिवाद से बहुत ही भिन्न है। यह सम्प्रदाय ज्ञान की समस्या को बहुत महत्त्व देता है। यह हमारे अनुभव की वस्तुओं को यथार्थता प्रदान करता है और कहता है कि इनकी यथार्थता हमारे मस्तिष्क पर निर्भर नहीं है।

ऊपर हमने बहुत ही संक्षेप में प्रत्येक सम्प्रदाय की विचारधारा के मुख्य पहलुओं पर प्रकाश डाला है प्रस्तुत अध्याय में तथा आगे के दो अध्यायों में हम इनका विस्तृत वर्णन करेंगे और मुख्य रूप से यह देखेंगे कि शैक्षिक विचार धाराओं पर इन सम्प्रदायों का क्या प्रभाव पड़ा है ?

प्रकृतिवाद

प्रकृतिवाद का संक्षिप्त इतिहास तथा उसके प्रमुख व्याख्याकार[3]

पाश्चात्य दार्शनिक विचारधारा के अन्तर्गत प्रकृतिवाद सबसे पुरातन है। इसके बीज हमें ईसा से छटी शताब्दी पूर्व ही मिल जाते हैं। उस समय थेल्स[4] नामक दार्शनिक जो माइलेटस[5] एशिया माइनर के तटीय नगर में रहते थे, उन्होंने इसका सर्वप्रथम प्रतिपादन किया। उन्होंने चरम सत्य[6] के दर्शन प्रकृति में किये और इस कारण ही वे प्रकृतिवादी समझे जाते हैं। इस सम्बन्ध में प्राचीन काल के चार और बड़े दार्शनिकों का नाम उल्लेख किया जा सकता है जिन्हें हम

---

1. Reality, 2. It combines the methods of Naturalism with Conclusions of Idealism. 3. Brief History of Naturalism and its chief exponents 4. Thales, 5. Milatus, 6. Ultimate Reality,

प्रकृतिवादी कह सकते हैं। ये हैं—ल्यूसिपस[1], डिमाक्रिटस[2], अपीक्यूरस[3] तथा ल्यूकरटियस[4]। ये चारों परिमाणुवादी दार्शनिक कहलाते है क्योंकि इन्होने संसार की वास्तविकता को मूल रूप से परमाणुओं को गतिशील होने के रूप मे समझा। इसके पश्चात् हम सीधे १६ वीं तथा १७ वीं शताब्दी में आ जाते हैं। इस समय तक प्रकृतिवाद की जड़ें मजबूत हो चुकी थीं। इस समय के प्रकृतिवादी दार्शनिकों में हम मुख्य रूप से फ्रान्सिस बेकन[5] (१५६१-१६२६) तथा थामस होब्स[6] का नाम ले सकते है। परन्तु बेकन महोदय प्रयोगवादी विचारधारा के विकास के साथ अधिक सम्बद्ध समझे जाते हैं यद्यपि वे प्रकृति के अतिरिक्त किसी और वास्तविकता में विश्वास नहीं रखते थे।

हॉब्स महोदय के दार्शनिक विचार केवल कुछ उनके धर्म सम्बन्धी विचारो को छोड़कर प्रकृतिवादी ही कहे जा सकते हैं। हॉब्स महोदय भी पुरातन दार्शनिकों की भाँति प्रकृति को पदार्थों के स्थान में गतिशील होने के रूप मे मानते थे।

रूसो[7] :—अठारवीं शताब्दी में हमारे समक्ष प्रकृतिवादियो में रूसो का नाम भी आता है (१७१२-१७७८), परन्तु इनके सम्बन्ध मे कुछ विद्वानों मे मतभेद है। वे रूसो को पूर्ण रूप से प्रकृतिवादी नहीं मानते। इसका कारण वह उसके आध्यात्म सम्बन्धी विचार को मानते हैं।

रूसो को प्रकृतिवादी इस कारण कहा जाता है कि उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि सरल तथा सादा जीवन जो प्रकृति के निकट व्यतीत किया जाता है, वह सबसे उत्तम जीवन है। इसके अतिरिक्त वे यह कहते हैं कि प्रकृति द्वारा जो मार्ग निर्धारित किये जाते है वे समाज द्वारा निर्धारित मार्गों से उत्तम होते हैं। इस कारण उनको प्रकृतिवादी कहने में हमें कोई संकोच नहीं होता। उन्होंने प्रकृति को बहुत महत्व दिया तथा समाज को सारी बुराइयों की जड़ समझा। इस प्रकार रूसो प्रकृतिवाद को प्रोत्साहन देने वाले विचारक है, विशेष रूप से शिक्षा मे यह रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक ऐमाइल है[8] जो शिक्षा के क्षेत्र मे एक उच्चकोटि की पुस्तक समझी जाती है। इससे पूर्व कि हम प्रकृतिवाद की व्याख्या करें, यह समीचीन होगा कि हम रूसो के दर्शन शास्त्र तथा उनके शिक्षा पर प्रभाव को समझ लें।

रूसो का शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण[9] :—रूसो एक ऐसे समय उत्पन्न हुये

1. Leucippus, 2. Democritus, 3. Epicuaus, 4. Lucretius, 5. Francis Bacon, 6. Thomas Hobbes, 7. Rousseau, 8. Emile, 9. Rousseau's views regarding education.

थे जिस समय में औपचारिकता[1] स्वेच्छाचारिता[2] तथा पाखण्ड[3] का बोलवाला था। उस समय बालक को एक छोटे युवक के रूप में समझा जाता था। उसकी शिक्षा उसके विचारने की शक्ति के विकास के लिये नहीं दी जाती थी और न वह उसके जीवन से ही किसी भी प्रकार सम्बन्धित थी। ऐसे समय में रूसो की शैक्षिक धारणायें शिक्षा में औपचारिकता के विरुद्ध विद्रोह थीं। उसका विचार था कि सच्ची शिक्षा वही है जो बालक की मूल प्रकृति का विकास करे। रूसो अपनी पुस्तक एमाइल के प्रथम वाक्य में ही अपना मूल सिद्धान्त हमारे समक्ष रख देते है। उनका कथन है कि "प्रत्येक **वस्तु प्रकृति के नियन्ता के यहाँ से अच्छे रूप में आती है। केवल मनुष्य के सम्पर्क से ही वह दूषित हो जाती है।**"[4]

उनका यह भी कथन है कि विधाता ने प्रत्येक वस्तु को अच्छा बनाया है परन्तु मनुष्य उसके साथ छेड़छाड़ करता है और उसे दूषित बना देता है।[5]

नकारात्मक शिक्षा[6]—रूसो इस सिद्धान्त का शिक्षा में प्रयोग करता है। उनका मत है कि बालक की प्रथम शिक्षा पूर्ण रूप से नकारात्मक या निषेधात्मक होनी चाहिये। निषेधात्मक शिक्षा से उनका तात्पर्य **उस शिक्षा से है जो ज्ञान को सीधे रूप में प्रदान कर बालक के मस्तिष्क को ज्ञान का भंडार बनाने से पहले उसके विभिन्न अङ्गों और ज्ञानेन्द्रियों का विकास करे जो ज्ञान के द्वार हैं।** रूसो का विचार है कि ज्ञानेन्द्रियों के उचित अभ्यास द्वारा तर्क के लिये मार्ग तैयार किया जा सकता है। निषेधात्मक शिक्षा बालक को उस मार्ग पर लेजाने के लिये तैयार करती है जो उसे उस आयु पर जिस पर वह समझ सके सत्य की ओर ले जाय। रूसो इस बात पर बल देता है कि गुण[7] और सत्य[8] के सिद्धान्त बालक को नहीं पढ़ाये चाहिये, वरन् प्रयत्न यह करना चाहिये कि उसका हृदय पाप से और मस्तिष्क भ्रम से सुरक्षित रहे।

रूसो बालक के मस्तिष्क को उस समय तक निष्क्रिय ही रखना चाहता है जब तक, जहाँ तक यह सम्भव हो। वह चाहता है कि बालक बाहरी दूषित वातावरण से बचा रहे। वह बालक को अस्त्यात्मक[9] शिक्षा देने का विरोधी

---

1. Formalism, 2. Despotism, 3. Hypocresy 4, Emile, Book V: Everything is good as it comes from the hands of the auth or of nature, everything degenerates in the hands of man. 5. Emile : God makes all things good, man maddles with them and they become evil. 6. Negative Eduction, 7. Virtue, 8. Truth, 9. Positive education.

है। अस्त्यात्मक शिक्षा से उसका तात्पर्य उस शिक्षा से है जो उचित समय के आने से प्रथम ही मस्तिष्क को प्रौढ़ता प्रदान करना चाहती है। यह शिक्षा ऐसी है जो बालक को उसके कर्त्तव्य के सम्बन्ध में नहीं वरन् प्रौढ़ व्यक्तियों के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में शिक्षा देती है। वह बालक को ऐसी ओर ले जाना चाहती है जो प्रौढ़ व्यक्तियों द्वारा मान्य हो। परन्तु बालक ऐसी शिक्षा से कोई लाभ नहीं उठा पाता। उसका मस्तिष्क भ्रमजाल में पड़ जाता है और उसका जीवन दोषपूर्ण हो जाता है। रूसो कहता है, बालक को प्रारम्भ में शिक्षा, उसके मस्तिष्क को ज्ञान से भरने के रूप में कदापि नहीं देनी चाहिये। इस प्रकार की शिक्षा का समय बाल्यकाल नहीं है, तब तो ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा ही सबसे उत्तम शिक्षा है।

रूसो के अनुसार विकास की अवस्थायें—रूसो मानव जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित करता है और हरेक अवस्था की अपनी स्वयं की अलग विशेषता की ओर संकेत करता है।

वह बाल्यकाल को ऐसा समय मानता है जब बालक में मानसिक निष्क्रियता रहती है। जैसे-जैसे ज्ञानेन्द्रियों मे परिपक्वता आती जाती है, मानसिक क्रियाशीलता की अवस्था धीरे-धीरे विकसित हो जाती है और प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त होते-होते सबसे उच्च स्तर पर पहुँच जाती है।

रूसो के अनुसार पहली अवस्था **शैशव काल** है। यह अवस्था जन्म से पाँच वर्ष तक रहती है। इस अवस्था में बालक पशु सदृश होता है। इस आयु में बालक के ऊपर कपड़े आदि पहनने की रोक नहीं लगानी चाहिये। उसे पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिये। उसके कपड़े ऐसे होने चाहिये कि वह सरलता से भाग दोड़ सके। उसका जीवन ऐसा स्वतन्त्र होना चाहिये कि वह खेल-कूद आदि में अपना समय व्यतीत कर सके, और नगर के संकुचित वातावरण में बन्द न रहकर खुले मैदानों में विचरण करे। रूसो का कहना है कि "निर्बलता दुष्टता की जननी है।" अतः यह आवश्यक है कि बालक को शक्तिशाली बनाया जाय ताकि वह दुष्टता से दूर रहे। बालक का पूर्ण रूपेण शारीरिक विकास होना आवश्यक है परन्तु यह उसी समय सम्भव है जब बालक को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय। बालक इस आयु में हर समय कुछ न कुछ करना चाहता है जिससे उसकी क्रियाशीलता में कोई बाधा न पड़े। रूसो के अनुसार इस अवस्था में शिक्षा का उद्देश्य बालक का स्वतन्त्र विकास है। बालक की स्वाभाविक क्रियाओं पर कोई रोकटोक न हो और उनका स्वतन्त्रता पूर्वक विकास हो, यही शिक्षा का उद्देश्य है।

रूसो के अनुसार दूसरी अवस्था **बाल्यकाल** है। यह अवस्था पाँच से बारह वर्ष

तक रहती है। इस काल में बालक एक असभ्य तथा जंगली मनुष्य की अवस्था में होता है। उसका मस्तिष्क इस काल में पूर्णरूपेण उसकी ज्ञानेन्द्रियों से नियंत्रित रहता है और उसमें उचित तर्क करने की शक्ति का विकास नहीं हो पाता। इस काल में शिक्षा नकारात्मक होनी चाहिये। जो कुछ भी सिखाना हो, खेल द्वारा ही होना चाहिये। शिक्षा इस प्रकार से होनी चाहिये जिससे बालक की ज्ञानेन्द्रियाँ प्रशिक्षित हो जाय। बालक यदि कुछ छूना या उठाना चाहे तो हमें चाहिये कि उसे ऐसा करने दें क्योंकि छूकर ही उसे यह ज्ञान हो जायेगा कि गर्म और ठण्डे में क्या अन्तर है, या कोमल तथा कठोर क्या है? बालक की ज्ञानेन्द्रियों को इस प्रकार स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयोग में लाने से बालक में आकार, रूप, रंग, स्थिति आदि के ज्ञान का विकास होगा।

रूसो के अनुसार इस अवस्था में पुस्तकीय ज्ञान नहीं देना चाहिये। पुस्तक द्वारा सीखने में ज्ञानेन्द्रियाँ शिक्षित नहीं हो पायेंगीं। क्योंकि हमारी सारी मानसिक प्रक्रियायें ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही होती हैं इसलिये विवेक के विकास के लिये सर्वप्रथम उनका ही विकास करना आवश्यक है। पुस्तक द्वारा जो कुछ बालक को ज्ञान दिया जाता है वह विश्वास के आधार पर बालक मान लेता है, अस्तु उसमें स्वयं विचारने की शक्ति नहीं पनप पाती। इसलिये यह आवश्यक है कि बालक को ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा सर्वप्रथम दी जावे। उसे कूदना, फाँदना, तैरना आदि सिखाया जाय। संगीत की शिक्षा दी जाये जिससे उसकी श्रवणेन्द्रिय भी शिक्षित हो सके।

बाल्यकाल के पश्चात् की अवस्था है कैशोर[1]। यह अवस्था बारह से पन्द्रह वर्ष तक रहती है। यह वह अवस्था है जब बालक अपनी क्रियाओं के फल को समझ सकता है। उसकी शारीरिक शक्ति में वृद्धि होती है और उसकी बुद्धि का विकास होने लगता है। परन्तु इस अवस्था मे भी विवेक का पूर्ण विकास नहीं हो पाता और स्वयं का स्वार्थ ही उसकी सारी क्रियाओं का प्रेरक तत्व होता है। रूसो कहता है कि इस अवस्था में बालक द्वारा ज्ञान प्राप्त करने पर बल दिया जा सकता, परन्तु पुस्तकीय ज्ञान को वह व्यर्थ समझता है। रूसो उस सीखने को उचित समझता है जो बालक की मूल रुचि के अनुसार हो। कैशोर काल में बालक में जिज्ञासा की प्रवृत्ति बहुत विकसित होती है। वह चाहता है कि वह अन्वेषक बन जाय। इसलिये इस अवस्था में प्राकृतिक-विज्ञानों की उसे शिक्षा देनी चाहिये। कैशोर काल में शिक्षा देते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शिक्षा इस प्रकार दी जाय जिससे बालक के व्यक्तित्व

---

1. Boyhood.

का विकास हो सके। उसको उपयोगी तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये। इस प्रकार उसमें अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता आ जायेगी।

अन्तिम अवस्था है—युवावस्था[1]। यह अवस्था पन्द्रह वर्ष की आयु से लेकर विवाह के समय तक लगभग पच्चीस वर्ष तक रहती है। रूसो इस अवस्था को नयी उत्पत्ति के रूप में समझता है।

इस समय काम-भावना जाग्रत हो जाती है और सामाजिक भावनाओं का विकास होने लगता है। बालक अब आदर्श इत्यादि को समझने लगता है। यही काल सच्ची शिक्षा का समय है। इस काल की शिक्षा का उद्देश्य नैतिक पूर्णता तथा संवेगात्मक विकास होना चाहिये। परन्तु सारी शिक्षा शब्दों के रूप में न देकर क्रियाओं के रूप में होनी चाहिये। इस प्रकार इस अवस्था में बालक में नैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं का विकास करना चाहिये जिसके लिये यह अवस्था सर्वथा उपयुक्त है।

✓ **रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य**—उपर्युक्त चार अवस्थाओं के वर्णन के साथ हमने इस ओर भी संकेत किया है कि रूसो के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य विभिन्न अवस्थाओं पर क्या होना चाहिये। यहाँ हम सामान्य रूप से शिक्षा के उद्देश्यों का वर्णन कर रहे है जिन पर रूसो ने अधिक बल दिया है।

रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक की विभिन्न शक्तियो का विकास करना है जो बालक की स्वाभाविक क्रियाओं मे सहायता प्रदान करके किया जा सकता है। रूसो शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना नहीं मानता। उसका कहना है कि शिक्षा का सबसे बड़ा ध्येय यह है कि वह व्यक्ति को सैनिक, शादरी, या मजिस्ट्रेट न बनाकर सबसे प्रथम मनुष्य बनाय।

रूसो के अनुसार शिक्षा का पाठ्यक्रम—रूसो ने 'एमाइल' नामक बालक के लिये अपनी पुस्तक एमाइल में शिक्षा के स्वरूप का प्रतिपादिन किया। उसी के द्वारा हमें शिक्षा के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में उसके विचारों का पता लगता है। उसने शैशवावस्था में बालक को सामान्य विषयों का निश्चित ज्ञान देना उचित नहीं समझा और यह कहा कि सर्व प्रथम उसे स्वस्थ तथा शक्तिशाली बनाना आवश्यक है। ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण ही उसने सबसे उत्तम शिक्षा मानी।

✓ बाल्यकाल मे भी रूसो पुस्तकीय ज्ञान का विरोधी है। वह निषेधात्मक शिक्षा[2] पर ही बल देता है। ज्ञानेन्द्रियों का विकास करने के लिये कुछ क्रियायें आवश्यक है; जैसे—तैरना, खेलना, देखना, सुनना तथा कूदना

1. Aduthood. 2. Negative education,

आदि / इनको ही वह इस काल के पाठ्यक्रम का अंग मानता है। / इस काल में नैतिक शिक्षा बालक को प्राकृतिक परिणामों[1] के आधार पर देनी चाहिए, न पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर नहीं।

/ किशोरावस्था में शिक्षा का पाठ्यक्रम इस प्रकार का होना चाहिये जिससे उसे "श्रम, शिक्षा और अध्ययन" के लिये अवसर प्राप्त हो / इस काल में विज्ञान की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त पाठ्यक्रम में भाषा, गणित, लकड़ी का काम, ड्राइंग, संगीत, सामाजिक जीवन की शिक्षा सम्मिलित होनी चाहिए। इसके साथ-साथ इस काल में किसी भी व्यवसाय की शिक्षा देना भी आवश्यक है।

/ युवावस्था में शिक्षा के पाठ्यक्रम में नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा का समावेश होना चाहिये / परन्तु यह शिक्षा केवल व्याख्यान प्रणाली द्वारा ही नहीं होनी चाहिए। व्यक्तियों के सम्पर्क मे आकर स्वयं भी सीखी जानी चाहिये।

रूसो द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति का स्वरूप—रूसो की शिक्षा पद्धति में 'क्रिया द्वारा सीखना' के सिद्धान्त को अपनाया गया है / उनकी पद्धति के अनुसार बालक को सीखने के लिये पुस्तकीय ज्ञान देने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह व्याख्यान द्वारा शिक्षा प्रदान करने का विरोधी है तथा क्रिया द्वारा सीखने के पक्ष में है क्योंकि बालक जो कुछ सीखता है वह उसकी स्वानुभूति के आधार पर होता है। रूसो 'रोबिन्सन क्रूसो' नामक पुस्तक को छोड़कर सब पुस्तको को बालकों के लिये हानिप्रद मानता है।

रूसो रटने के द्वारा स्मरण शक्ति के विकास के पक्ष में नहीं है। वह शिक्षा का एक अमूल्य सिद्धान्त हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। / उनके मत से बालक की विवेक शक्ति का विकास करने की चेष्टा करनी चाहिये स्मरण शक्ति की बढ़ाने की नही /

रूसो निरीक्षण, अनुभव, तथा अन्वेषण द्वारा बालक को शिक्षा देने पर विशेष बल देता है / वह चाहता है कि बालक स्वयं निरीक्षण करे और अपने अनुभव के आधार पर अन्वेषण की ओर प्रवृत्त हो / शिक्षा देते समय यह चेष्टा करनी चाहिये कि बालक में उस कार्य के प्रति इतनी उत्सुकता जाग्रत हो जाय, जिसके द्वारा उसे शिक्षा ग्रहण करनी है, कि वह स्वयं ही उस कार्य करने के तत्पर हो जाय और अपने अनुभव के आधार पर अपने स्वस्थ दृष्टि कोण का निर्माण करे। इस प्रकार की शिक्षा से बालक के मस्तिष्क का विकास अच्छी प्रकार हो जाता है।

---

1. Natural consequences.

रूसो तथा अनुशासन :—रूसो स्वतन्त्रता का पक्षपाती है। वह बालक के विकास में किसी भी प्रकार के नियन्त्रण का विरोधी है। वह अनुशासन का जो सिद्धान्त अपनाता है, वह है 'प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन।[1] इससे तात्पर्य है कि यदि कोई व्यक्ति प्रकृति के नियमों के विरुद्ध कार्य करेगा तो प्रकृति स्वयं उसे दण्डित करेगी। अतएव कहा जा सकता है कि शिक्षक तथा अभिभावक को बालक को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये और उसे दण्ड नहीं देना चाहिये। बालक यदि दुर्व्यवहार करेगा तो दण्ड उसे स्वाभाविक परिणामों के रूप में मिल जावेगा।

रूसो तथा स्त्री-शिक्षा :—रूसो ने जो विचार स्त्री-शिक्षा पर व्यक्ति किये हैं, वे संकीर्ण हैं। उनका कथन है कि पुरुष की शिक्षा इस प्रकार होनी चाहिये कि मानव का पूर्ण विकास हो सके। परन्तु स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में उनका मत है कि उनकी शिक्षा केवल पुरुष के योग्य बनाने के ध्येय को रखकर ही होनी चाहिये इसलिये स्त्रियों को सबसे पहले शारीरिक शिक्षा देनी चाहिये जिससे वे स्वस्थ तथा सुन्दर बन सकें। क्योंकि उन्हें घर सँभालना है इसलिये उनका गृह कार्य मे निपुण होना आवश्यक है। रूसो चाहता कि वे सीने, काढ़ने, बुनने, खाना बनाने आदि में कुशल हों। वह दर्शन, कला, विज्ञान, की शिक्षा को उनके लिये अनावश्यक नहीं मानता।

रूसो का शिक्षा पर प्रभाव :—रूसो ने शिक्षा को एक स्वाभाविक क्रिया के रूप में व्यक्त किया है उसे एक कृत्रिम क्रिया के रूप में स्वीकार नहीं किया। उसके अनुसार शिक्षा आन्तरिक विकास है न कि बाह्य विकास।[2] रूसो का विश्वास था कि वर्तमान को अनिश्चित भविष्य पर बलिदान नहीं करना चाहिये। बालक के ऊपर हर प्रकार के बन्धन इसलिये नहीं लगाने चाहिये कि उसको किसी भविष्य के लिये तैयार किया जा रहा है। उसके अनुसार "शिक्षा आनन्ददायक, तर्क युक्त, सन्तुलित, उपयोगी और प्राकृतिक जीवन के विकास की क्रिया है।"[3]

रूसो का शिक्षा पर प्रभाव तीन प्रवृत्तियों—मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, तथा सामाजिक के रूप में दिखाई पड़ता है। यहाँ पर हम उनका वर्णन बहुत ही संक्षेप में करेंगे।

मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति—रूसो ने बालक को बालक समझ कर शिक्षा देने पर बल दिया। इसके अतिरिक्त उसने यह भी कहा कि शिक्षा बालक के स्वभावानुसार

---

1. Discipline by natural consquences, 2. It is development from within not an acquistion from without, 3. Education is the process of development into an enjoyable, rational, harmoniously balanced, useful and natural life.

ही होनी चाहिये। बालक को बालक समझ कर ही शिक्षा देना उसने आवश्यक समझा। उसकी शिक्षा प्रणाली विषय प्रधान न होकर बालक-प्रधान थी। शिक्षा-मनोविज्ञान द्वारा बालक के स्वभाव, रूप, आकृति का अवलोकन रूसो की शैक्षिक विचार धारा के आधार पर होने लगा। इस प्रकार शिक्षा में मनोविज्ञान का प्रयोग होने लगा। अतः हम रूसो को ऐसा क्षिशा-शास्त्री मानते हैं जिसने शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया।

वैज्ञानिक प्रवृत्ति :—रूसो ने प्रकृति निरीक्षण को शिक्षा का एक आवश्यक अंग समझा। इसने विज्ञान को महत्ता दी और विज्ञान की उपयोगिता पर व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित किया। अतएव मूल रूप में उसकी विचार-धारा के कारण ही शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति का जन्म हुआ।

सामाजिक प्रवृत्ति :—रूसो ने शिक्षा में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बल दिया परन्तु उसने सामाजिक विकास को कभी भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर न्यौछावर नहीं किया। उसके विचार सामाजिक विकास में सहायक ही रहे। उसने सहानुभूति और सहयोग की भावना पर जोर दिया जो सामाजिक भावना के लिये आवश्यक तत्व हैं। इसके साथ-साथ औद्योगिक निपुणता सम्बन्धी विचार भी सामाजिकता की भावना की उन्नति में सहायक हुये। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो की विचारधारा केवल मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक या व्यक्तिगत प्रवृत्ति के विकास की आधार शिला ही नहीं अपितु सामाजिक प्रवृत्ति का भी मूल आधार हुई।

रूसो एक महान् शिक्षा शास्त्री माना जाता है। हमने ऊपर देखा है कि कैसे उसकी विचारधारा ने शिक्षा प्रणाली में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है। रूसो ने चेष्टा की कि शिक्षा से रूढ़िवादिता दूर हो जाये। योरुप में उसके विचार अपनाये गये। परन्तु १९वीं शताब्दी के मध्य तक ही फ्रांस और इंगलैण्ड में उसके विचारों को तुच्छ ही समझा गया। इसके पश्चात् वहाँ के विद्यालयों में भी उसकी विचारधारा के अनुकूल शिक्षा पद्धति में अनेकों संशोधन किये गये।

आजकल जितनी भी नवीन पद्धतियाँ; जैसे—ह्यूरिस्टिक पद्धति, प्रोजेक्ट पद्धति, डाल्टन प्रणाली आदि हैं वे सब रूसो की शिक्षा पद्धति पर ही आधारित हैं।

हर्बर्ट स्पेन्सर[1]

रूसो के पश्चात् प्रकृतिवाद का एक अन्य महान् समर्थक हुआ—हरबर्ट

---

1. Herbert Spencer,

स्पेन्सर (१८२०-१९०३)। हर्बर्ट स्पेन्सर की विचारधारा का अवलोकन भी हमारे लिये महत्वपूर्ण हैं क्योंकि स्पेन्सर का शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण वैज्ञानिक प्रवृत्ति का प्रतीक है।

स्पेन्सर महोदय का शिक्षा-सिद्धान्त

स्पेन्सर महोदय के शिक्षा के सम्बन्ध में विचार उनकी पुस्तक "एडूकेशन, इन्टलैक्चुयल, मौरल एण्ड फिज़ीकल"[1] में व्यक्त किये गये हैं। इस पुस्तक का प्रकाशन १८६० ई० में हुआ था। स्पेन्सर महोदय को प्रकृतिवाद का समर्थक इस कारण कहा जाता है कि उन्होंने चरम सत्य को शक्ति[2] के रूप में समझा। यहाँ पर हम स्पेन्सर महोदय के दार्शनिक विचारों पर अधिक प्रकाश न डालकर अपने को उनके शैक्षिक सिद्धान्तों के विवेचन तक ही सीमित रखेंगे।

शिक्षा के उद्देश्य :—स्पेन्सर महोदय ने शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को "पूर्ण जीवन के लिए तैयार करना"[3] बताया। उन्होंने कहा कि किसी भी शिक्षा की सफलता इस बात से आँकी जा सकती है कि वह किस सीमा तक व्यक्ति को पूर्ण जीवन के लिये तैयार करती है। स्पेन्सर महोदय ने शिक्षा द्वारा व्यक्ति के जीवन को पूर्णतया सफल बनाने पर बल दिया। वे व्यक्ति को अच्छे प्रकार से जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाना ही शिक्षा का परम ध्येय समझते हैं। उन्होंने उस शिक्षा की कड़ी आलोचना की जो बालक की रुचियों को नष्ट कर देती है और उसकी शक्तियों के विकास पर रोक लगा देती है। उनके मतानुसार उनके समय का पाठ्यक्रम इसी प्रकार का था। अतएव वह ऐसे पाठ्यक्रम के दोषों की ओर संकेत करके इस प्रकार के पाठ्यक्रम का निर्माण करने पर महत्व देते हैं जो व्यक्ति को सबसे अधिक मूल्यवान ज्ञान प्रदान करे और उसको पूर्ण जीवन के लिए तैयार करे।

मनुष्य के पाँच महत्वपूर्ण कार्य :—स्पेन्सर महोदय के शिक्षा सम्बन्धी सारे विचार विविध विषयों के तुलनात्मक मूल्यों पर आधारित हैं। यह निश्चित करने के लिए कि कौन सा ज्ञान सबसे महत्वपूर्ण है या शिक्षा प्रदान करने में किन विषयों का महत्व अधिक है और किस क्रम में इन विषयों की शिक्षा दी जाय—वह मानव जीवन के सम्पूर्ण कार्यों को पांच भागों में विभाजित करता है। यह अपने महत्व के क्रम में इस प्रकार रखे जा सकते हैं।

---

1. Education, Intellectual, Moral and Physical, 2. Power or energy, 3. Spencer defined education as a preparation for complete living.

(१) वे कार्य जो प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की प्राण रक्षा में सहयोग दे सकते हैं। इसके लिए विज्ञान; जैसे—प्राणि शास्त्र, स्वास्थ्य विज्ञान, भौतिक विज्ञान आदि का अध्ययन आवश्यक है।

(२) वे कार्य जो परोक्ष रीति से मनुष्य की जीवन-रक्षा में सहायक होते हैं। वे व्यक्ति के लिए जीवन की आवश्यक वस्तुओं को इकट्ठा करके करते हैं; जैसे—खाना, कपड़ा या रहने के स्थान का आयोजन करना।

(३) वे कार्य जो कि सन्तान के पालन पोषण और शिक्षण से संबन्ध रखते हैं।

(४) वे कार्य जो समाज-नीति और राजनीति के उचित व्यवस्थापन में योग देते हैं जिससे कि एक व्यक्ति योग्य नागरिक और अच्छा पड़ौसी बन सके।

(५) वे विविध कार्य जो व्यक्ति मनोरंजन के लिये करता है[1] जिनके द्वारा वह अपनी रुचियों और भावों को सन्तुष्ट करता है; जैसे—साहित्य कला तथा विभिन्न भाषाओं का ज्ञान।[1]

पाठ्यक्रम :—इस प्रकार हम देखते है कि इन पांच कार्यों की पूर्ति के लिए स्पेन्सर महोदय विभिन्न विषयों के पढ़ने पर बल देते हैं। उनके अनुसार पहिले तीन कार्य प्राकृतिक विज्ञानों के ज्ञान द्वारा और अन्तिम दो कार्य सामाजिक विज्ञान के द्वारा सम्पन्न हो सकते है। अतएव उनका कथन हैं कि पाठ्यक्रम मे अधिक महत्व प्राकृतिक विज्ञानों को देना चाहिए न कि सामाजिक विज्ञानो को। परन्तु स्पेन्सर महोदय ने भाषा, साहित्य इत्यादि की बिलकुल अवहेलना नहीं की है जैसो कि रूसो ने की थी। उन्होंने इन विषयों को पाठ्यक्रम में गौण स्थान दिया।

शिक्षण विधि :—हर्बर्ट स्पेन्सर ने शिक्षण विधि का विवेचन अपनी पुस्तक "एडूकेशन" के एक दूसरे निबन्ध में किया है। परन्तु शिक्षण विधि के

---

1. Spencer (1) Those activities which directly minister for self-preservation, (2) those activities which by securing the necessities of life, indirectly minister to self-preservation such as securing food, clothing, shelter etc. (3) those activities which have for their end the rearing and discipline of off-spring, (4) those activities which are involved in the maintenance of proper social and political relations such as shall make one an intelligent citizen and neighbour, (5) those miscellaneous activities which fill up the lisure part of life devoted to the gratification of the tastes and feelings such as the knowledge of literature art, language etc.

सम्बन्ध में उनके विचार मौलिक नहीं हैं। उनसे पहिले एक महान् शिक्षा शास्त्री पेस्टलॉजी ने उनका प्रतिपादन किया था। वे सिद्धान्त जिनको स्पेन्सर महोदय ने बनाया है इस प्रकार हैं :—

(१) सरल से क्लिष्ट की ओर शिक्षा देना[1]।

(२) ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ना[2]।

(३) अनिश्चित से निश्चित की ओर शिक्षा प्रदान करना[3]।

(४) मूर्त से अमूर्त की ओर चलो[4]।

(५) जिस क्रम और जिस रीति से मनुष्य जाति ने शिक्षा पाई है उसी क्रम और रीति से बालकों को शिक्षा देनी चाहिए[5]।

(६) अनुभव ज्ञान से तर्क पूर्ण ज्ञान की ओर चलो[6]।

(७) शिक्षा देने में बालकों को आत्म-विकास के लिए सबसे अधिक प्रोत्साहन देना चाहिए[7]।

और (८) पाठन प्रणाली मनोरंजक होनी चाहिए।[8]

इन सब अध्यापन सिद्धान्तों को प्रायः सभी लोग मानते हैं और ये बालक को शिक्षा प्रदान करने में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

अनुशासन और नैतिक शिक्षा :—रूसो महोदय की भाँति स्पेन्सर महोदय भी "प्राकृतिक परिणामों"[9] के आधार पर अनुशासन के सिद्धान्त में आस्था रखते हैं। नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि बालक की दूषित प्रवृत्तियों का दमन करना चाहिए अथवा उन्हें नष्ट कर देना चाहिए।

शारीरिक विकास :—स्पेन्सर महोदय बालक के शारीरिक विकास पर भी उचित ध्यान देने को कहते हैं। उनका विचार है कि मानसिक विकास तथा शारीरिक विकास दोनों बालक के लिए आवश्यक हैं।

यहाँ पर हमने बहुत ही संक्षेप में हर्बर्ट स्पेन्सर महोदय के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का वर्णन किया। प्रकृतिवादी विचारधारा पर इन विचारों का गहन प्रभाव पड़ा है और इसी कारण हमने 'प्रकृतिवाद और शिक्षा' के वर्णन से पहिले इन विचारों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। अब हम आगे "प्रकृतिवाद और शिक्षा" के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

---

1. Proceed from simple to complex, 2. Proceed from known to unknown, 3. Proceed from indefinite to definie't 4. Proceed from concrete to abstract, 5. Genesis of knowledge in the individual must follow same course as Genesis of knowledge in the race, 6. Proceed from empirical to rational, 7. In education the process of self-development should be encouraged to the utter most and 8. It should create pleasureable excitem- ent in pupils. 9. Discipline by natural consequences.

प्रकृतिवाद दर्शनशास्त्र के सम्प्रदाय के रूप में

प्रकृतिवाद का यह मूलसिद्धान्त है कि यथार्थता[1] तथा प्रकृति एक ही वस्तु है और प्रकृति से परे कोई भी यथार्थता नहीं है। यही वह मुख्य विशेषता है जिसके कारण प्रकृतिवाद दूसरे दर्शन शास्त्र के सम्प्रदायों से भिन्न है। प्रकृतिवाद आदर्शवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप है। यह प्रकृति को सर्वप्रधान मानता है। इस विचारधारा के अनुसार प्रकृति के अतिरिक्त सृष्टि में कोई अन्य सत्ता नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रकृतिवाद ईश्वर, आत्मा आदि को अन्तिम यथार्थता[2] अथवा चरम सत्य के रूप में न मानकर प्रकृति को ही अन्तिम सत्य मानता है।

परन्तु यहाँ हमें प्रकृतिवाद को एक दर्शन शास्त्र के सम्प्रदाय के रूप में अध्ययन नहीं करना है। हमारा तो मुख्य उद्देश्य यही है कि हम प्रकृतिवाद का शिक्षा पर होने वाले प्रभाव का विवेचनात्मक अध्ययन करें।

शिक्षा में प्रकृतिवाद

हमने अभी ऊपर बताया कि शिक्षा में प्रकृतिवाद के प्रयोग का श्रेय रूसो महोदय को है परन्तु उससे प्रथम शैक्षिक विचार धारा में प्रकृतिवाद का प्रयोग बेकन तथा कमेनियस ने किया था। रूसो के अतिरिक्त शिक्षा में प्रकृतिवाद के समर्थक हैं—बैसेडो,[3] पेस्टालॉजी,[4] हर्बर्ट, स्पेन्सर[5] तथा फ्रोबेल[6] आदि।

अब हम प्रकृतिवाद की मुख्य विशेषताओं पर विचार करेंगे।

(१) बालक की शिक्षा के लिये साधनों की आवश्यकता[7]

प्रकृतिवादी इस बात पर बल देते हैं कि बालक को शिक्षा इस प्रकार की देनी चाहिये जो प्राकृतिक हो। सच्ची शिक्षा प्रकृतिवादियों के अनुसार वह है जो प्रकृति द्वारा बताये हुये मार्गों का अनुकरण करें। इस प्रकृतिवादी विचार धारा पर ध्यान देने से हमें यह विदित होता है कि यदि प्रकृति ही इतनी प्रमुख है तो ऐसे किसी भी सविधिक साधन[8] जैसे कि स्कूल की बालक को कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह दृष्टिकोण हमें गलत मार्ग पर ले जाने वाला है। यह स्पेन्सर तथा दूसरे प्रकृतिवादियों के दृष्टिकोण के विपरीत है।

---

1. Reality, 2. Ultimate reality. 3. Basedow, 4. Pestalozzi 5. Herbart Spencer 6. Froebel 7. Need for creating the agencies of education for the child, 8. Formal agency,

प्रकृतिवादी सम्प्रदाय पाठशाला की स्थापना में विश्वास रखता है। वे शिक्षण संस्थाओं की स्थापना को इस कारण समीचीन समझते हैं कि बाल्यावस्था मानव जीवन का वह काल है जिसमें वह प्रौढ़ता को प्राप्त करता है और वह एक दो सप्ताह का न होकर कई वर्षों की अवधि का होता है। इस काल में जब वह प्रौढ़ता प्राप्त नहीं कर पाता तो वह दूसरों पर आश्रित रहता है। उसे चलना, बोलना तथा अपने अंगों पर नियंत्रण करना आदि सीखना पड़ता है। यह वह समय है जब उसे शिक्षा की आवश्यकता है क्योंकि बिना शिक्षा के उसकी शक्तियों[1] का विकास सम्भव नहीं। इस कारण स्कूलों की स्थापना उसकी शिक्षा के लिये आवश्यक है।

(२) विद्यार्थी की शिक्षा

यह निश्चित करके कि प्रकृतिवादी स्कूलों की स्थापना के विरोधी न होकर समर्थक हैं, हमें अब यह देखना है कि वे किस प्रकार विद्यार्थी की शिक्षा का प्रतिपादन करते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर बालक को एक छोटे पशु के समान मानता है। उसे इस अवस्था से उचित शिक्षा द्वारा सभ्य व्यक्ति के स्तर पर ले जाना चाहता है। परन्तु वास्तव में बालक की ज्ञान प्राप्त करने की सहजात प्रक्रियायें,[2] उसकी प्राकृतिक क्रियायें ही हैं। जिस प्रकार की क्रियाओं में बालक आनन्द लेता है वह इस बात का सूचक होता है कि बालक को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय। अतएव बालक को शिक्षा प्रदान करने में प्रकृतिवादी निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं।

(अ) बालक की शिक्षा उसके प्राकृतिक विकास के अनुकूल होनी चाहिए। बालक के विकास के प्रत्येक स्तर पर विभिन्न प्रकार की शिक्षा का आयोजन करना चाहिये। प्राकृतिक विकास के लय और ताल के अनुसार ही शिक्षा का होना अभिप्रेत है। इसी सिद्धान्त का प्रयोगात्मक रूप हम ऊपर रूसो की शैक्षिक विचारधारा के अन्तर्गत पाते हैं।

(ब) बालक की प्रकृति का अध्ययन पाठ्य-वस्तु के अध्ययन से अधिक महत्वपूर्ण है। अतएव शिक्षा प्रदान करते समय बालक की प्रकृति को समझने पर ही अधिक बल देना चाहिये।

(स) बालक की शिक्षा केवल ज्ञान प्रदान करने तक ही सीमित नहीं होनी चाहिये। परन्तु उसका ध्येय बालक की स्वयं की प्रकृति का विकास करना भी होना चाहिये।

---

1. Faculties. 2. Spontaneous activities.

(३) शिक्षा के उद्देश्य

प्रकृतिवाद के द्वारा प्रस्तुत किये गये उद्देश्य भौतिक ही कहे जा सकते हैं आदर्शवादी नहीं। प्रकृतिवाद द्वारा आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य प्रतिपादित नहीं किया गया है। जो भी उद्देश्य प्रस्तुत किये गये हैं वे सांसारिक दृष्टिकोण से ही उचित प्रतीत होते हैं। कुछ विद्वानों ने इस बात की चेष्टा अवश्य की है कि प्रकृतिवादी उद्देश्यों पर आदर्शवाद का आवरण चढ़ा दें। परन्तु वे अपने प्रयत्न में सफल हुये हैं, यह कहना अत्यन्त कठिन है। यहाँ हम इस वाद-विवाद में न फँसकर विभिन्न प्रकृतिवादी विचारकों द्वारा जो शिक्षा के उद्देश्य प्रतिपादित किये गये हैं उनका विवेचन करेंगे।

हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का सामान्य उद्देश्य मनुष्य को "**पूर्ण जीवन**[1] **के लिये तैयार करना है।**" इस पूर्ण जीवन के आदर्श को प्राप्त करने के लिये ही एक वह पाँच विशिष्ट उद्देश्यों का वर्णन करता है। इनके सम्बन्ध में हम पीछे चर्चा कर चुके प्राप्त करता हैं।

नॅन महोदय के मत से शिक्षा का उद्देश्य '**मानव के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से विकास करना है।**'[2] उनका कहना है कि व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास ऐसा उद्देश्य है जिसकी ओर शिक्षा को पूर्ण रूपेण ध्यान देना चाहिए। नन महोदय इस उद्देश्य को स्वच्छन्दता के रूप में नहीं रखते। परन्तु उनका तात्पर्य व्यक्ति के विकास में आत्मानुभूति प्राप्त करना है।

अतएव हम कह सकते हैं कि प्रकृतिवाद शिक्षा में वैयक्तिक शिक्षा का उद्देश्य प्रस्तुत करता है। रूसो ने स्पष्ट रूप से इस प्रकार की शिक्षा पर बल दिया जो स्वतन्त्र रूप से व्यक्तित्व का विकास कर सके। यह विकास कृत्रिमता से दूर तथा प्रकृति के सम्पर्क में होना आवश्यक समझा गया।

व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास ही प्रकृतिवादी विचारकों ने शिक्षा का मुख्य लक्ष्य माना है। ये एक ऐसी शिक्षा की ओर ध्यान आकर्षित कराते हैं जहाँ स्वाभाविक क्रियाओं का दमन नहीं किया जाता, जहाँ व्यक्ति की रुचियों पर पूर्ण ध्यान दिया जाता है और जहाँ व्यक्ति की प्रवृत्तियों को पूर्ण महत्ता प्रदान की जाती है।

(४) प्रकृतिवाद और शिक्षण विधि

प्रकृतिवादी कहते हैं "**प्रकृति के पथ का अनुसरण करो।**" परन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं हैं कि बालक को स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय और इस भरोसे

1. Complete living, 2. Autonomous development of the individuality.

बैठे रहें कि प्रकृति ही उसे सब कुछ सिखायगी। बालक का पथ-प्रदर्शन अत्यन्त आवश्यक है। प्रकृतिवादी तो इस कथन को इस रूप में मानते हैं कि बालक को स्वयं कार्य करके सीखना चाहिए। अतएव मुख्य शिक्षण विधि, जिसे प्रकृतिवादी अपनाते हैं वह है "**कार्य करके सीखना**"[1]। वे कहते हैं कि **सीखना बालक के प्रत्यक्ष अनुभव**[2] पर निर्भर होना चाहिये। वे अध्यापक को केवल पथप्रदर्शक के रूप में देखते हैं जिसको यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बालक उचित मार्ग की ओर अग्रसर हो रहा है अथवा नहीं। शिक्षक को बालक की स्वाभाविक क्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये बल्कि उनको प्रोत्साहित करना ही उसके लिये उपयुक्त समझा जाता है।

प्रकृतिवाद की शिक्षण विधि को अपना कर ही शिक्षा में बहुत सी नवीन पद्धतियों का प्रतिपादन हुआ है। इनमें से मुख्य हैं—ह्यूरिस्टिक पद्धति, डाल्टन प्रणाली, प्रोजेक्ट पद्धति, मान्टेसरी प्रणाली आदि। इन सब का वर्णन हम आगे के अध्याय में करेंगे।

(५) अनुशासन की समस्या[3]

प्रकृतिवादी '**प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन**'[4] का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। वे यह मानते हैं कि प्राकृतिक नियमों का उल्लङ्घन करने वालों को प्रकृति क्षमा प्रदान नहीं करती और वह प्रकृति द्वारा दण्डित किया जाता है। अतएव हमें चाहिए कि बालक को स्वतन्त्र छोड़ दें और उसे किसी भी प्रकार का दण्ड न दें। उसे जो कुछ भी मिलना है वह प्रकृति स्वयं देगी। उदाहरणार्थ—यदि एक बालक सर्दी के दिनों में गर्म कपड़े नहीं पहिनता और नंगा घूमना चाहता है तो उसे ऐसा करने दिया जाय। प्रकृति उसे ऐसा करने पर दण्ड देगी। बालक बीमार पड़ जायगा और वह स्वयं ही सीख जायेगा कि जाडे के दिनों में गर्म कपड़े पहिनने की आवश्यकता है। इसी प्रकार बालक खुला ब्लैड लिये है तो उसकी उँगली कट जावेगी और इस प्रकार प्रकृति उसे दण्डित करेगी। फलस्वरूप वह फिर खुले ब्लैड को हाथ में लेने से डरेगा। बालक इस प्रकार से प्रकृति द्वारा अनुशासित हो जावेगा। अध्यापक या अभिभावक को बालक को मारना पीटना नहीं चाहिए और न उस पर कठोर नियन्त्रण ही रखना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार से बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन होता है और उसका विकास रुक जाता है।

प्रकृतिवादियों के इस अनुशासन के सिद्धान्त की कटु आलोचना भी जाती है

---

1. Learning by doing, 2. Direct experience, 3. Problem of discipline, 4. Discipline by natural consequences.

और यह कहा जाता है कि प्रकृतिवादी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय इस बात को भूल जाते हैं कि एक छोटी सी भूल की बहुत बड़ी सजा भी बालक को मिल सकती है। यदि उंगली पूरी कट जाय या निमोनियाँ जैसे भयंकर रोग से पीड़ित हो जाय तो उसे ऐसी सजा मिल जाती है जो उसकी त्रुटि के अनुपात से कहीं बहुत अधिक है। इसके अतिरिक्त बालक को इस प्रकार अनुशासित करने में नैतिकता की शिक्षा का कोई स्थान नहीं रहता।

(६) प्रकृतिवाद तथा विद्यालय—

प्रकृतिवादी विद्यालय में स्वतन्त्रता के वातावरण पर बल देते हैं। वे कहते हैं कि विद्यालय की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए कि बालकों के ऊपर किसी भी प्रकार के दृढ़ एवं कठोर बन्धन न हों, विद्यालय में बालक को स्वशासन[1] का अवसर देना चाहिए। वे चाहते है कि विद्यालय का संगठन एक स्वतन्त्र समाज के रूप में हो जहाँ बालक को अपने स्वयं के विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता मिले।

(७) प्रकृतिवाद और शिक्षक—

प्रकृतिवादी शिक्षक को शिक्षा-प्रणाली का एक गौण अङ्ग मानते हैं। वे प्रकृति को ही सबसे बड़े शिक्षक के रूप में देखते है। प्रकृतिवादियों के अनुसार एक अध्यापक का कर्त्तव्य उचित वातावरण तथा ऐसी परिस्थितियों के निर्माण तक ही सीमित है जिसमें बालक स्वयं अपने अनुभव के आधार पर ज्ञान अर्जित कर सके और शिक्षा ग्रहण कर सके। अध्यापक को बालक के ऊपर किसी भी प्रकार से अपनी विचारधारा को नहीं थोपना है और न उसे अपने दृष्टिकोण से प्रभावित ही करना है। बालक को स्वयं ही सब सीखना है और अध्यापक को किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप करने की स्वतन्त्रता नहीं है।

प्रकृतिवाद की आलोचना

प्रकृतिवाद की आलोचना कई प्रकार से की जाती है। यहाँ हम प्रकृतिवाद के तीन मुख्य दोषों का वर्णन करेंगे।

(१) प्रकृतिवाद द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्य असन्तोषजनक हैं—

प्रकृतिवादी शिक्षा के उद्देश्य प्रकृति में ढूँढ़ते हैं जबकि उनका प्रकृति मे मिलना कठिन है। अध्यापक यदि बालक को बिल्कुल स्वच्छन्द छोड़ दे, जैसा कि प्रकृतिवादी चाहते हैं तो वह शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और यदि वह यह करें कि बालक का विकास जिस ओर हो रहा

1. Self Government.

है उसे सावधानी पूर्वक अपनी दृष्टि में रखें और यदि वह अनुचित मार्ग पर जा रहा है तो उसकी प्रवृत्तियों का दमन करें तथा यदि वह उचित मार्ग पर जा रहा है तो उसे प्रोत्साहित करें तब एक और कठिनाई आजाती है। वह यह है कि अध्यापक को स्पष्ट रूप से जान लेना होगा कि उचित अथवा अनुचित कार्य या प्रवृत्तियाँ क्या हैं ? परन्तु अध्यापक का किसी भी प्रवृत्ति, कार्य या मार्ग का निर्धारण उचित अथवा अनुचित के रूप में करना तब तक सम्भव नहीं है जब तक उसे नीति शास्त्र[1] का ज्ञान न हो। तात्पर्य यह है कि जब तक वह आदर्शों से अवगत नहीं है, वह उचित तथा अनुचित का निर्धारण नहीं कर सकता। अत-एव यह स्पष्ट है कि वह तब तक बालक का ठीक रूप से पथ-प्रदर्शन करने में असमर्थ रहेगा, जब तक कि उसे आदर्श के रूप में उद्देश्य न मिले हों। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृतिवाद द्वारा जो उद्देश्य दिये गए हैं वे अपूर्ण एवं असन्तोषजनक हैं। उचित उद्देश्यों का निर्धारण आदशवाद को ध्यान में रख कर ही सम्भव है।

(२) प्रकृतिवाद तात्कालिक उपयोगिता पर बल देता है[2]—

प्रकृतिवाद पूर्वकालीन ज्ञान, संस्कृति, एवं आध्यात्मिकता को कोई महत्व नहीं देता। बालक को केवल वे ही बातें सीखने की आवश्यकता समझी जाती है जो उसकी जीविकोर्जन में सहायक हों। उसको केवल उस ज्ञान को ही सीखना है जो उसके लिए सीखते समय उपयोगी हों। वह ज्ञान जो परलोक या इस लोक में बड़ी आयु में उपयोगी सिद्ध होगा, प्रकृतिवाद के अनुसार बालक को वर्तमान आयु में वह ज्ञान प्रदान करना व्यर्थ है। यह प्रकृतिवाद का दूसरा बड़ा दोष है। यदि हम प्रकृतिवाद के सिद्धान्त को अपनायें तो शिक्षा का ध्येय अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है।

(३) प्रकृतिवाद ने पाठ्य-क्रम को नष्ट कर दिया[3]—

प्रकृतिवादी कहते हैं कि बालक को सीखने के लिये कोई भी निश्चित पाठ्य-क्रम नहीं होना चाहिए। बालक का सीखना अध्यापक के स्वस्थ प्रभाव के द्वारा ही होना चाहिए। यह सम्प्रदाय पाठ्यक्रम को व्यक्तिगत आवश्यकता और रुचि पर निर्भर समझता है। जिस ओर बालक की रुचि होती है उसे उसी की शिक्षा देना बालक के लिए परम उपयोगी समझा जाता है। इस अशुद्ध दृष्टि-कोण के कारण ही पाठ्यक्रम का महत्व नष्ट हो गया है। मानव प्रकृति में

---

1. Ethics, 2. Naturalism puts emphasis on the immediately useful, 3. Naturalism has destroyed the curriculum.

कुछ समानता भी है जिसे यह सम्प्रदाय कोई महत्व नहीं देता। शिक्षा का उद्देश्य मानवता का सर्वाङ्गीण विकास होना चाहिए। व्यक्तित्व मात्र का विकास अपूर्ण है, अधूरा है।

सारांश

दर्शनशास्त्र के चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं—प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, प्रयोगवाद तथा यथार्थवाद।

प्रकृतिवाद अपने शुद्ध रूप में वैज्ञानिक विचारधारा पर केन्द्रित है। यह प्रकृति को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। आदर्शवाद प्रकृति को एक व्यापक मन, ब्रह्म या ईश्वर पर अवलम्बित मानता है। प्रयोगवाद प्रकृतिवाद की विधियों का आदर्शवाद के उपसंहारों से समवेत करता है।

प्रकृतिवाद के प्रमुख व्याख्याकार :— प्राचीनकाल के प्रमुख व्याख्याकर : थेल्स, ल्यूसिपस, डिमाक्रिटस, अपीक्यूरस तथा ल्यूकरटियस हैं। १६वीं तथा १७ वीं शताब्दी के व्याख्याकार : बेकन तथा थामस होब्स हैं। १८ वीं शताब्दी में जीन ज्येक्यूस रूसो का प्रसिद्ध प्रतिपादक हुए है।

रूसो का शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण :—रूसो की शैक्षिक धारणायें शिक्षा में नियमनिष्ठतावाद के विरुद्ध विद्रोह थीं। उनका विचार था कि सच्ची शिक्षा वही है जो बालक की मूलप्रकृति का विकास करे। वह बालक को निषेधात्मक शिक्षा देने पर बल देते हैं। निषेधात्मक शिक्षा से उनका तात्पर्य उस शिक्षा से है जो उन विभिन्न अङ्गों तथा ज्ञानेन्द्रियों का पूर्ण विकास करे जो ज्ञान के द्वार हैं इससे प्रथम कि ज्ञान को सीधे रूप में देकर बालक के मस्तिष्क को ज्ञान का भण्डार बना दिया जाय।

रूसो मानव जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित करता है। वे हैं (क) शैशवकाल—जन्म से पाँच वर्ष तक। इस अवस्था में शिक्षा का उद्देश्य बालक का स्वतंत्र विकास होना चाहिए। (ख) बाल्यकाल–पाँच वर्ष से बारह वर्ष तक। इस काल में शिक्षा निषेधात्मक होनी चाहिये। (ग)किशोर—बारह से पन्द्रह वर्ष तक। इस अवस्था में बालक द्वारा ज्ञान प्राप्त करने पर बल दिया जा सकता है। उसे उपयोगी तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये। (घ) युवावस्था—पन्द्रह वर्ष की आयु से विवाह के समय तक। इस काल की शिक्षा का उद्देश्य नैतिकता तथा संवेगों का विकास होना चाहिए।

रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक की स्वाभाविक क्रियाओं में सहायता प्रदान करके उसकी विभिन्न शक्तियों का विकास करना है।

रूसो बाल्यकाल में पुस्तकीय ज्ञान का विरोधी है। वह इस काल के पाठ्यक्रम का अङ्ग उन क्रियाओं को मानता है जो उनकी ज्ञानेन्द्रियों का विकास करती हैं। किशोरावस्था में शिक्षा का पाठ्यक्रम इस प्रकार का होना चाहिये जिससे उसे "श्रम शिक्षा और अध्ययन" के लिए अवसर प्राप्त हो सकें युवावस्था में शिक्षा के पाठ्यक्रम में नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा का समावेश होना भी आवश्यक है।

रूसो की शिक्षा-पद्धति में **'क्रिया द्वारा सीखना'** के सिद्धान्त को अपनाया गया है। रूसो निरीक्षण, अनुभव तथा अन्वेषण द्वारा बालक को शिक्षा देने पर विशेष बल देता है।

रूसो **प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन** के सिद्धान्त को अपनाता है।

रूसो के विचार **स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में संकीर्ण** हैं।

रूसो का शिक्षा पर प्रभाव तीन प्रवृत्तियों—मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक के रूप में दिखाई पड़ता है।

स्पेन्सर महोदय का शिक्षा सिद्धांत :—स्पेन्सर महोदय को प्रकृतिवाद का समर्थक इस कारण कहा जाता है कि उन्होंने चरम सत्य को शक्ति के रूप में माना। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को "पूर्ण जीवन के लिए तैयार करना" है। इसके लिए वह मानव जीवन के सम्पूर्ण कार्यों को पाँच भागों में विभाजित करके उनके महत्त्व के क्रम के अनुसार शिक्षा दिये जाने पर बल देते हैं। वे विज्ञान को पाठ्यक्रम में अधिक महत्व देते है और सामाजिक विज्ञान तथा भाषा, साहित्य इत्यादि को कम।

शिक्षा विधि के सम्बन्ध में वे आठ सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते हैं। ये सिद्धान्त अपने रूप में मौलिक नहीं हैं।

प्रकृतिवाद दर्शनशास्त्र के सम्प्रदाय के रूप में हमारे समक्ष यह मूल विचार रखता है कि यथार्थता तथा प्रकृति समरूपी हैं और प्रकृति से परे कोई भी यथार्थता नहीं है।

शिक्षा में प्रकृतिवाद :—शिक्षा में प्रकृतिवाद के प्रयोग का श्रेय रूसो महोदय को है। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित है :—

(१) प्रकृतिवादी बालक की शिक्षा के लिए शिक्षा-साधनों की आवश्यकता को महत्व देते हैं। वे **विद्यालयों की स्थापना शिक्षा के लिए आवश्यक समझते हैं**।

(२) विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए वे निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं :—

(क) बालक की शिक्षा उसके प्राकृतिक विकास के अनुरूप होनी चाहिए।
(ख) बालक की प्रकृति का अध्ययन करके उसे शिक्षा देनी चाहिये।
(ग) बालक की शिक्षा का ध्येय उसकी प्रकृति का विकास होना चाहिये।

(३) प्रकृतिवादी शिक्षा का उद्देश्य **"मानव के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से विकास"** मानते हैं। ये शिक्षा में वैयक्तिक उद्देश्यों पर बल देते हैं।

(४) **शिक्षण विधि** में जो मुख्य सिद्धान्त प्रकृतिवादी अपनाते हैं वह है "कार्य करके सीखना।" उनका नारा है "प्रकृति के पथ का अनुसरण करो।"

(५) प्रकृतिवादी **"स्वाभाविक परिणामों द्वारा अनुशान के सिद्धान्त"** को अपनाते हैं।

(६) ये स्कूल में **स्वतन्त्रता** के वातावरण पर बल देते हैं।

(७) ये **शिक्षक को गौण स्थान** प्रदान करते हैं। तथा शिक्षक के कर्तव्य को उस सीमा तक ही सीमित मानते हैं जहाँ तक वह उचित वातावरण और शैक्षिक परिस्थितियों का निर्माण करे।

प्रकृतिवाद की आलोचना :—प्रकृतिवाद की आलोचना निम्न तीन प्रकार से की जाती है :—

(१) प्रकृतिवाद द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के **उद्देश्य असन्तोषजनक हैं।**
(२) प्रकृतिवाद केवल **तात्कालिक उपयोगिता पर बल देता** है।
(३) प्रकृतिवाद ने **पाठ्यक्रम को नष्ट कर दिया है।**

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. प्रकृतिवाद के प्रमुख प्रवर्त्तकों के नाम बताइये। रूसो महोदय के शिक्षा के सिद्धान्त को महान् क्यों माना जाता है?
२. स्पेन्सर महोदय के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिये? इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शिक्षा के पाठ्यक्रम का चुनाव किस प्रकार होना चाहिए।
३. निषेधात्मक शिक्षा से आप क्या समझते हैं? इस प्रकार की शिक्षा का आयोजन बालकों के लिए करना क्यों आवश्यक है।
४. प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और प्रयोगवाद के मूल विचारों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
५. प्रकृतिवाद शिक्षा के साधनों की आवश्यकता पर बल देता है, इसके कारणो पर प्रकाश डालिये।

६. "प्रकृति के पथ का अनुसरण करो"—इससे आप क्या समझते हैं ? शिक्षण विधि में इस सिद्धान्त को कैसे अपनाया जा सकता है ?

७. शिक्षा में प्रकृतिवाद का क्या महत्व है ? स्पष्ट कीजिये तथा प्रकृतिवाद के दोषों पर प्रकाश डालिये ।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) ब्रुबेचर : **मार्डन फिलासफीस ऑफ एडूकेशन**
(२) हेन्डरसन : **ऐन इट्रोडक्शन टु दि फिलासफी ऑफ एडूकेशन**
(३) रॉस : **ग्राउन्डवर्क ऑफ एडूकेशनल थ्योरी**
(४) भाटिया : **थ्योरी ऑफ एडूकेशन एन्ड हिस्ट्री ऑफ एडूकेशन थौट**
(५) अग्रवाल : **शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त**
(६) रस्क : **दि फिलॉसॉफिकल बेसिस ऑफ एडूकेशन**
(७) बोड : **मार्डन एडूकेशन थ्योरीज**

— :०: —

अध्याय ४

आदर्शवाद[1]

आदर्शवाद दर्शनशास्त्र का एक ऐसा सम्प्रदाय है जिसकी जड़ें प्राचीन काल में मिलती हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार मूल्य[2] तथा आदर्श[3] सर्वव्यापी हैं। उनकी आस्था ही केवल सत्य है। भौतिक संसार की वस्तुयें नश्वर एवं अस्थायी हैं और मानव को भ्रमजाल में फँसाने वाली है जबकि मूल्य, **सत्यं, शिवं, सुन्दरं**[4] मानव का कल्याण करते हैं और उसको परमपद की प्राप्ति में सहायता प्रदान करते हैं। आदर्शवाद प्रकृति को अन्तिम सत्य के रूप में नहीं मानता वरन् प्रकृति को वह गौण स्थान देता है। प्रकृतिवाद और आदर्शवाद में यही एक बड़ी भिन्नता है। इससे प्रथम कि हम आदर्शवाद के अन्य बहुमूल्य तथ्यों की ओर दृष्टिपात करें, यह अच्छा होगा कि हम प्रकृतिवाद तथा आदर्शवाद की भिन्नताओं को दार्शनिक दृष्टि से अच्छी तरह समझ लें।

आदर्शवाद तथा प्रकृतिवाद में भिन्नता

रस्क महोदय ने अपनी पुस्तक 'फिलॉसोफिकल बेसिस ऑफ एजूकेशन'[5] में आदर्शवाद तथा प्रकृतिवाद में दो मुख्य विभिन्नतायें, बताई हैं–वे इस प्रकार हैं :

१. **आदर्शवाद प्रकृतिवाद से कहीं अधिक व्यापक है।** यह मानव के बौद्धिक

---

1. Idealism, 2. Values, 3 Ideals, 4. Truth, beauty and goodness, 5. Rusk : Philosophical bases of education.

क्षेत्र में निहित शक्ति पर प्रकाश डालता है और नैतिक क्षेत्र में उसकी स्वतन्त्रता की व्याख्या करता है। इसका ध्येय प्रकृतिवाद की तरह यह नहीं है कि केवल निम्नस्तर की सृष्टि मात्र की व्याख्या करे। इससे तात्पर्य यह है कि आदर्शवाद न केवल भौतिक पक्ष से सम्बन्धित है वरन् यह मानव के नैतिक तथा बौद्धिक पक्ष पर भी प्रकाश डालता है। इस प्रकार से प्रकृतिवाद केवल निम्न स्तर पर ही रहता है जबकि आदर्शवाद उच्च स्तर की नैतिकता और बौद्धिक योग्यता की ओर ध्यान देता है।

२. **आदर्शवाद आध्यात्म पर बल देता है** और पदार्थ[1] को अधिक महत्वपूर्ण न मानकर मन एवं आत्म[2]को महत्व देता है। एक प्रश्न जो प्रकृतिवाद पूछता है, वह है–'शरीर के लिये मन की क्या आवश्यकता है ?'[3] जब कि आदर्शवाद पूछता है—'मन के लिये शरीर की क्या आवश्यकता है ? आदर्शवाद का कहना है कि मानव का मन ही उसे सम्पूर्ण दूसरी सृष्टि से भिन्नता प्रदान करता है और इसलिये यह मन ही है जो ब्रह्माण्ड को सुलझाने की कुंजी प्रदान करेगा।

आदर्शवाद कहता है कि भौतिक संसार जो प्रकृतिक विज्ञान द्वारा जाना जाता है वह यथार्थता का अपूर्ण वर्णन मात्र है। इस भौतिक संसार का पूरक है आध्यात्मिक संसार। यहाँ हम इस स्थान पर आदर्शवाद के दर्शन पर अधिक ध्यान न देकर इसके ऐतिहासिक विकास तथा इसके प्रमुख प्रवर्त्तकों की ओर पहिले दृष्टिपात करेंगे।

आदर्शवाद का संक्षिप्त इतिहास एवं इसके प्रवर्त्तकों का दर्शन :—

पाश्चात्य देशों में आदर्शवाद का जन्म सुकरात[4] तथा प्लेटो[5] से हुआ। इसके पश्चात् इसका प्रतिपादन डेकार्ट[6], स्पिनोजा[7], लाइबनीज[8], बर्कले[9], कान्ट[10] तथा हीगल[11] ने किया। कमेनियस,[12]पेस्टालाजी[13]तथा फ्रोवेल[14] शिक्षा में इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्त्तक हैं। हम यहाँ पर डैकार्ट, स्पिनोजा आदि के दर्शन का वर्णन नहीं करेंगे क्योंकि उनका दर्शन चाहे कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो उसने शैक्षिक विचारधारा को अधिक प्रभावित नहीं किया। अतः यहाँ पर हम अपना ध्यान प्लेटो, कमेनियस, पेस्टालॉजी तथा फ्रोवेल की ओर ही केन्द्रित करेंगे।

1. Matter. 2. Mind, 3. Naturalism asks why has body a mind ? Idealism asks why has mind a body ? 4. Socrates, .5 Plato, 6. Descartes, 7. Spinoza, 8. Leibnize. 9. Berkeley, 10. Kant, 11. Hegel, 12. Comenius, 13.Pestalozzi, 14. Froebel.

प्लेटो (४२७—३४७ ई० पू०)

प्लेटो ने मानव अनुभूति में मन तथा तर्क शक्ति पर बल दिया है। उसने यह नहीं माना कि प्रकृति की शक्तियाँ ही अन्तिम सत्य हैं। उसके अनुसार तर्क युक्त जीवन ही सबसे महत्वपूर्ण है। प्लेटो ने इस बात का प्रतिपादन किया कि **शिक्षा द्वारा सत्यं शिवम् तथा सुन्दरम् के उद्देश्य को अपनाया जाना चाहिए।** उसके लिये ये तीनों ही सबसे उच्च यथार्थताएँ थीं। प्लेटो द्वारा लिखी हुई पुस्तक 'रिपब्लिक' में उसने शिक्षा सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। इस पुस्तक में उसने भावी नागरिक तथा प्रबन्ध कर्त्ता की शिक्षा का वर्णन किया है। वह इस बात को स्पष्ट रूप से मानता है कि **'शिक्षा द्वारा बालक के अन्दर एक सामंजस्य लाना है।'** यह सामंजस्य अध्यापक बालक की कुप्रवृत्तियों तथा सद्वृत्तियों में उसके विभिन्न शारीरिक अङ्गों तथा मस्तिष्क में स्थापित करना है।

कमेनियस (१५९२-१६७० ई०)

कमेनियस का विश्वास था कि **सत्य,**[1] **गुण**[2] **तथा ईश्वर में विश्वास**[3] **प्रत्येक प्राणी में विद्यमान होते हैं।** उसकी शैक्षिक विचारधारा इसी धारणा पर निर्भर है। उसका कथन है कि ज्ञान तीन प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है—**ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, तर्क द्वारा, तथा दैवी प्रकाशन द्वारा**[4]। अतएव शिक्षा का ध्येय यह होना चाहिये कि बालक को ज्ञान उसकी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा दिया जाय। उसकी विवेक शक्ति का विकास किया जाय और उसमें ईश्वर के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा जागृत की जाय।

पेस्टॉलॉजी (१७४६-१८२७ ई०)

पेस्टॉलॉजी, फ्रोबेल तथा हर्बर्ट शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के समर्थक माने जाते हैं। आदर्शवाद के समर्थक के रूप में पेस्टॉलॉजी इस कारण रखा जाता है कि वह यह कहता है कि **प्रत्येक व्यक्ति में मानवता का अंश है और उसमें अच्छे बनने की प्रवृत्ति भी है।** शिक्षा द्वारा मानव का यदि उचित मार्ग प्रदर्शन किया जाय तो उसकी मानवता उभर आयगी। पेस्टॉलॉजी का कथन है कि **'शिक्षा व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्तियों का सन्तुलित विकास है।'**[5] परन्तु यहाँ यह याद रखना चाहिए कि पेस्टॉलॉजी एक बड़े दार्शनिक के रूप में हमारे सम्मुख नहीं हैं। उसके दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रभाव उसके शिक्षा देने

---

1. Truth, 2. Virtue, 3. Faith in God, 4. Divine Revelation, 5. Education is the harmonious development of all the power of the individual.

के प्रयोगात्मक रूप द्वारा हुआ। उसने अपने सिद्धान्त प्रतिपादित तब किये जब शिक्षा में उनकी उपयोगिता प्रयोग द्वारा सिद्ध गई।

फ्रोबेल (१७८२-१८५२ ई०)

फ्रोबेल ने मानव जीवन को आन्तरिक उद्विकास की एक सतत् क्रिया माना। उसने 'भगवान्' को एक आत्मचेतनाभूति आत्मन्[1] के रूप में माना जो मानव तथा प्रकृति दोनों का जन्मदाता समझा गया। फ्रोबेल ने कहा कि **शिक्षा मनुष्य का पथ-प्रदर्शन अपने आत्म समझने में तथा अपने सम्बन्ध में स्पष्टता लाने में करे। प्रकृति के साथ शांति स्थापित करने में तथा ईश्वर के साथ एकत्व प्राप्त करने में करे**[2]। शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसे जीवन का निर्माण करना है जो शुद्धता, सत्यता एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण हो।

आदर्शवाद का दर्शन

दर्शनशास्त्र में आदर्शवाद एक ऐसा सम्प्रदाय है जो मानव की भौतिक प्रवृत्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक प्रवृत्ति से अधिक सम्बन्ध रखता है। इसके प्रवर्त्तकों ने अपने विचार ईश्वर, आत्मा, ज्ञान आदि के विषय में व्यक्त किये हैं। उदाहरण के लिये प्लेटो तथा हीगल ने अन्तिम यथार्थता[3] को उसी पदार्थ से निर्मित माना जिसके कि विचार[4] निर्मित होते हैं। इसी प्रकार बर्कले, कान्ट, डेकार्ट स्पिनोजा आदि ने अपने विचार व्यक्त किये। इन सबके द्वारा प्रतिपादित विचारों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि आदर्शवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि हम अन्तिम यथार्थता को उस समय तक नहीं समझ सकते जब तक कि हम आध्यात्मिकता का सहारा नहीं लेते। भौतिक ज्ञान द्वारा यथार्थता का अपूर्ण स्पष्टीकरण होता है। अतएव आध्यात्मिकता, भौतिकता की अपेक्षा अधिक महत्व पूर्ण है।

आदर्शवाद का कहना है कि मानव के अन्दर आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं जो उसमें बौद्धिक[5], सांस्कृतिक[6] या नैतिकता तथा धर्म का प्रादुर्भाव करती है। यही कारण है कि भौतिक, जैविक[7] और यहाँ तक कि मनोवैज्ञानिक विज्ञान द्वारा मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति को नहीं समझा जा सकता। यह केवल दर्शन शास्त्र ही है जो मानव ज्ञान के लिये सन्तोष जनक आधार प्रदान कर सकता है।

---

1. Self-conscious spirit, 2. Education should lead and guide man to clearness concerning himself and in himself, to peace with nature and unity with god. 3. Ultimate reality, 4. Ideas, 5. Intellectual 6. Culture, 7. Biological,

आदर्शवादियों के अनुसार वातावरण का महत्व—

प्रकृतिवादी तथा प्रयोजनवादी दोनों का कहना है कि व्यक्ति को वातावरण के अनुकूल व्यवस्थित होना चाहिये। प्रकृतिवादी वातावरण से केवल एक बहुत भौतिक वातावरण समझते हैं। परन्तु आदर्शवादी वातावरण को व्यापक अर्थ प्रदान करते हैं। उनके अनुसार मानव वातावरण को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है, (१) **भौतिक**[1] **और** (२)**मानसिक या सांकृतिक**[2]। भौतिक वातावरण वस्तुओं का संसार हैं।[3]मानसिक वातावरण एक मानसिक सामाजिक वातावरण है।

यह मनुष्यों का संसार[4] है। यह वातावरण केवल मानव के लिये ही है पशु आदि का इस वातावरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह वातावरण भौतिक वातावरण से अधिक व्यापक है जो भौतिक जीवन से ही सम्बन्धित है जैसा बोसान्के महोदय कहते हैं, "जीवन के लिये जो वातावरण है वह संसार है, मन के लिये जो वातावरण है वह ब्रह्माण्ड है।"[5] —

मनो-सामाजिक वातावरण की मुख्य विशेषताएं—

(१) **सामाजिक वातावरण मनुष्य द्वारा स्वयं सृजन किया जाता है।** मनुष्य भौतिक वातावरण में एक बड़े पैमाने में परिवर्तन ले आता है और अपने लिए एक बिल्कुल ही नए प्रकार के वातावरण का सृजन करता है जिसे सांस्कृतिक वातावरण भी कह सकते है। मनुष्य पशु से इस बात में भिन्न है कि उसे वातावरण जैसा मिलता है उससे सन्तुष्ट नहीं रहता और उसमें उन्नति करने की चेष्टा करता है। यह मनुष्य की दैविक असन्तुष्टता ही है जिसके कारण मानव जीवन एक मूल्य है और शिक्षा एक पथ-प्रदर्शन।[6]

(२) **मनो-सामाजिक वातावरण उन साधारण सीमाओं से बंधा हुआ नहीं है जिनसे कि भौतिक वातावरण।** भौतिक वस्तुओं की माप संख्या में होती है और वह बँटने पर समाप्त हो जाती हैं जबकि सांस्कृतिक वस्तुयें बँटने पर भी समाप्त नहीं होती। एक ही रोटी के टुकड़े में दो व्यक्तियों तक को आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता है जबकि एक कविता के रस का आनन्द लाखों व्यक्ति उठा

---

1. Physical or Material, 2. Mental or cultural, 8. World of things. 4. World of men, 5. For life the environment is the sur- face of the earth, for mind it is the universe. 6. This is the divine discontent of man that is why human life is a value and education is a mission.

सकते हैं। रोटी का टुकड़ा यदि बाँटा जाय तो समाप्त हो जायेगा। परन्तु कविता अनेकों व्यक्तियों के सुनाने पर भी वैसी ही रहेगी। कविता या सौंदर्यानुभूति की भावना का आनन्द प्रत्येक व्यक्ति बिना प्रतिद्वन्द्विता की भावना के प्राप्त कर सकता है। अतएव शिक्षा द्वारा बालक को इस प्रकार शिक्षित किया जाय कि वह इस प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता रहित वस्तुओं में आनन्द लेने लगे।

(३) **मनो-सामाजिक वातावरण की वस्तुओं को एक व्यक्ति उस प्रकार से वंशानुक्रम में हस्तान्तरित नहीं कर सकता जिस प्रकार से कि वह भौतिक वस्तुओं को करता है**। प्रत्येक व्यक्ति को उन्हें स्वयं अर्जित करना पड़ेगा। वंशानुक्रम द्वारा उसे ये वस्तुयें मिल जायें ऐसा सम्भव नहीं। यही जनतन्त्र का सच्चा आधार है। आध्यात्मिकता जन्म-जात न होकर अर्जित है। ज्ञान केवल उचित सीखने तथा अच्छे अनुशासन से ही प्राप्त होता है। और जब एक बार अर्जित हो जाता है तो कोई उसे चुरा नहीं सकता और जाति की यह एक स्थायी सम्पत्ति हो जाता है। इसी कारण मानव के लिये शिक्षा की आवश्यकता है। हरेक व्यक्ति द्वारा जाति की आध्यात्मिक सम्पत्ति को अर्जित करता है। शिक्षा का यह कार्य है कि वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सांस्कृतिक, तथा आध्यात्मिक दाय को पहुँचा दे।

आदर्शवाद और शिक्षा

आदर्शवाद शिक्षा को मानव समाज की एक आवश्यक संस्था समझता है क्योंकि आध्यात्मिक कारणों की आवश्यकताएँ इसमें निहित हैं। यह दृष्टिकोण प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से भिन्न है क्योंकि प्रकृतिवाद शिक्षा का स्थायित्व प्राकृतिक आवश्यकताओं पर निर्भर मानता है। आदर्शवाद द्वारा सत्यं, शिवं, सुन्दरं को या दूसरे शब्दों में तर्कना, सौंदर्य तथा नैतिक गुणों को मुख्यतः आध्यात्मिक समझा जाता है। इन आवश्यक यथार्थताओं की ओर बालक का अनुकूलन ही सबसे बड़ा कार्य है जो शिक्षा के सम्मुख है। इन तीन आध्यात्मिक गुणों के साथ धर्म के गुण को और जोड़ देना चाहिए। अब इस प्रकार से मानव की सृजनात्मक क्रिया का स्पष्टीकरण आध्यात्मिक वातावरण के चार विभिन्न गुणों या आदर्शों के रूप में होता है। ये आदर्श कहे जा सकते हैं— **ज्ञान**[1], **कला नैतिकता**[3] **तथा धर्म**[4] या दूसरे शब्दों में जैसा ऊपर व्यक्त किया गया है, ये हैं—सत्य, सुन्दर, शिव तथा धर्म। रस्क मानव वातावरण को निम्नलिखित प्रकार से विभाजित करता है।

---

1. Knowledge, 2. Art, 3. Morality, 4. Religion,

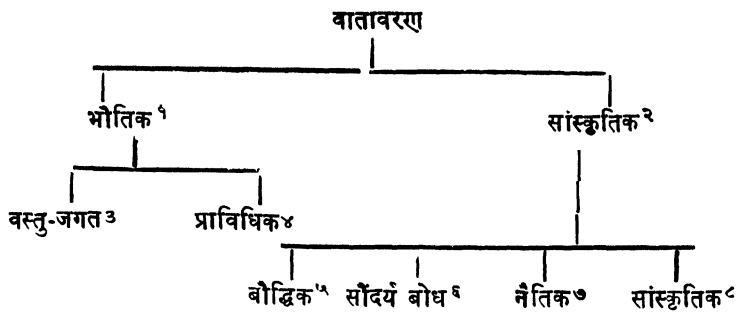

वही शिक्षा विशद एवं उपयुक्त मानी जायगी जो बालक को वातावरण के इन उपरोक्त सब गुणों का रसास्वादन करना सिखाये। कोई भी शिक्षा प्रणाली जो इनमें से एक को भी छोड़ देती है वह अधूरी ही कहलायेगी। शिक्षा के लिये आदर्शवादियों का विचार है कि सांस्कृतिक गुण ही अन्तिम एवं चरम सत्ता है और उन पर उचित बल दिया जाना चाहिये। शिक्षा के सम्बन्ध में आदर्शवादियों के जो विचार हैं उनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है।

(१) आदर्शवादियों के अनुसार विद्यालय की आवश्यकता

आदर्शवादी विद्यालय को आवश्यक समझते हैं। वे विद्यालय की स्थापना पर बल देते है।

(१) विद्यालय वह स्थान है जहाँ बालकों को सांस्कृतिक जन्म देकर उन्हें मनुष्य बनाया जाता है। यह ऊपर वर्णन किया ही जा चुका है कि संस्कृति प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अर्जित की जाती है, यह वंशानुक्रम द्वारा संक्रमित नहीं की जा सकती। विद्यालय एक ऐसा स्थान है जहाँ पर व्यक्ति को सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक गुणों के अर्जन करने में सहायता प्रदान की जाती है।

(२) यह विश्वास किया जाता है कि ईश्वर मानव की संस्कृति द्वारा बोलता है। अतएव विद्यालय की आवश्यकता इसलिये भी है कि वह बालक को सांस्कृतिक गुणों के साथ-साथ ईश्वर की प्रकृति को समझाने में सहायक होता है।

(३) मानव एक सामाजिक प्राणी है। शिक्षा भी पूर्ण रूप से व्यक्तिगत क्रिया नहीं है वरन् एक सामाजिक क्रिया है। अतएव व्यक्ति को सामाजिकता

---

1. Material, 2. Cultural, 3. Physical, 4. Technical, 5. Intellectual, 6. Aesthetic, 7. Ethical, 8. Cultural.

का प्रशिक्षण देना आवश्यक है। विद्यालय के अन्दर सभी सामाजिक गुण विद्यमान होते हैं जिनका प्रभाव उस समय नहीं होता जब एक व्यक्ति को दूसरे समस्त व्यक्तियों से पृथक करके शिक्षा दी जाती है। अतएव व्यक्ति के लिये विद्यालय जैसी सामाजिक संस्था नितान्त आवश्यक है।

(४) व्यक्तियों को सामाजिकता की शिक्षा देना केवल व्यक्ति के लिये ही नहीं वरन् समाज के लिये भी उपयोगी है। यदि व्यक्ति को सामाजिकता की शिक्षा न दी जाय तो समाज का संगठन शिथिल पड़ जायगा। इसलिये कुछ आदर्शवादियों का कहना है कि समाज कल्याण की दृष्टि से शिक्षा के लिए विद्यालयों का निर्माण अत्यन्त आवश्यक है।

(५) कुछ आदर्शवादी विद्यालय को इसलिये आवश्यक समझते हैं कि वह एक ऐसा अद्वितीय स्थान है जहाँ चिंतन के लिए उचित प्रकार से पथ-प्रदर्शन किया जाता है। यह वह स्थान है जहाँ विचार-शक्ति को तीव्र बनाया जाता है। अन्त में हम कह सकते हैं कि विद्यालय गुणों को प्रदान करने वाली एक संस्था[1] है। किसी भी समय में क्यों न हो वातावरण अपूर्ण ही रहता है और इसलिये इस बात का सदैव आवश्यकता रहती है कि इसमें अच्छाई की ओर परिवर्तन लाया जाय। विद्यालय उन गुणों की ओर अग्रसर करता है जो वातावरण को अच्छा बनाते हैं।

(२) आदर्शवादी शिक्षा के उद्देश्य—

आदर्शवाद के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य दो दृष्टियों से माने जाते हैं—(१) व्यक्तिगत[2], और (२) सामाजिक[3]। शिक्षा में आदर्शवाद पूर्ण रूप से अपने उद्देश्यों में व्यक्तिगत नहीं है। इसकी आस्था व्यक्ति द्वारा सामाजिक उत्तर-दायित्व संभालने में भी है।

व्यक्ति के विकास के लिये उद्देश्य—

जेन्टिल[4] महोदय का कथन है कि '**आत्मानुभूति**'[5] **शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य** है। हरमैन हैरिलहॉर्न[6] महोदय का मत है कि सत्यं, शिवं, सुन्दरं जाति के आध्यात्मिक आदर्श हैं। इस कारण शिक्षा का सबसे बड़ा कार्य यह है कि बालक का अनुकूलन इन आवश्यक यथार्थताओं के साथ करे जिनका स्पष्टी-करण जाति के इतिहास के साथ है। आत्मानुभूति होने से तात्पर्य है कि व्यक्ति के स्वयं को समझने का मार्ग ही वह मार्ग है जिसके द्वारा मनुष्य

---

1. Value realizing institution, 2. Individualistic, 3. Social 4. Gentile, 5. Self-realization, 6. Horne.

वास्तविक सुख, शान्ति तथा आनन्द को प्राप्त करता है। इसी कारण शिक्षा का उद्देश्य आत्मानुभूति अथवा आत्म-बोध के रूप में होना चाहिये।[1]

समाज के लिए उद्देश्य

विलियम हॉकिंग महोदय का विचार है कि जाति द्वारा संचित की गई संस्कृति को जाति के युवा लोगों तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व शिक्षा का है। इस प्रकार युवा पीढ़ी को उन अनुभवों से लाभ मिल जाता है जो जाति ने संस्कृति के रूप में संचित किये हैं।[2] इस प्रकार से समाज सबसे उत्तम परम्पराओं को सुरक्षित रखने में सफल होगा और जाति के बालकों को पर्याप्त मात्रा में संस्कृतिक भोजन मिल जायगा जिनसे उनका स्वस्थ पालन-पोषण होगा और ज्ञान वृद्धि होगी।

परन्तु जैसा कि हमने ऊपर वर्णन किया है, केवल संस्कृति का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी मे हस्तान्तरण होना पर्याप्त नहीं है। शिक्षा द्वारा सांस्कृतिक वातावरण की उन्नति करना भी आवश्यक है।

अतएव हम हॉर्न महोदय के साथ सहमत होकर कह सकते हैं कि **शिक्षा के उद्देश्य होने चाहिए—कार्य कुशलता,[3] चरित्र[4] तथा नागरिकता[5] का विकास करना**। इससे तात्पर्य यह है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज दोनों का विकास करना है। हॉर्न महोदय कहते हैं कि व्यक्तिगत उद्देश्यों में गौण रूप से सामाजिक उद्देश्य सम्मिलित होते हैं और सामाजिक उद्देश्यों में गौण रूप से व्यक्तिगत उद्देश्य निहित होते हैं।[6]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदर्शवादी बहुत ही विस्तृत रूप से शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या करते हैं। उनके उद्देश्य महान् तथा निश्चित दिखाई पड़ते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में आदर्शवाद का सबसे बड़ा योगदान शिक्षा को उपयुक्त एवं अच्छे उद्देश्य प्रदान करना है।

(३) शैक्षिक-प्रक्रिया[7] :

आदर्शवादियों के अनुसार शिक्षा बाल केन्द्रित[8] नहीं है। वह बालक के तुलनात्मक आदर्शों से अधिक सम्बन्धित है और इसको इसी कारण हम आदर्श

---

1. Herman HerrillHorne : The Philosophy of Education, p. 102. 2. William E. Hocking : Human Nature and its Remaking, New Haven, Yale Univ. Press, 1918, p. 278. 3. Efficiency, 4. Character, 5. Citizenship. 6. Herman H. Horne : *The Psychological Principles of Education*, N. Y., The Macmillan, 1906, p. 57. 7. Educative Process, 8, Child-centred.

केन्द्रित[1] कह सकते हैं। आदर्शवादियों का विश्वास है कि ईश्वर या चिरंतन सत्यता[2] ही केवल स्थायी है इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है चाहे वह मानव हो या समाज। अतएव शिक्षा का सम्बन्ध अस्थायी तथा अविश्वासी से न होकर स्थायी तथा सत्य से होना चाहिए। तात्पर्य यह कि शिक्षा को मनुष्य तथा समाज की ओर अधिक ध्यान न देकर उस ओर ध्यान देना चाहिए जो स्थायी है। इस प्रकार आदर्शवादी कहते है कि शिक्षा जो 'ईश्वरीय नगर'[3] बनाने की ओर केन्द्रित हो वही वास्तविक शिक्षा है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए शिक्षा को आदर्श केन्द्रित होना पड़ेगा। वह शिक्षा जो आदर्श केन्द्रित होगी जब प्रयोग में लायी जायगी तो अध्यापक द्वारा जिस सुनिश्चित व्यवहार की आकांक्षी होगी, उसी मार्ग की ओर निर्देशित करेगी। गुरु शिष्य के सम्बन्ध एवं उनके आचरण को निर्धारित करेगी। वह उन सिद्धान्तों एवं आदर्शों का प्रतिपादित करेगी जिनके द्वारा शिष्य के वैयक्तिक कार्यों[4] पर नियन्त्रण रखा जा सकेगा, जिससे वास्तविक, उचित एवं सत्य सीखना सम्भव हो और एक ऐसा पाठ्यक्रम निर्धारित करेगी जो आदर्शों को ग्रहण करने में सहायता प्रदान करे तथा उसके लिए विशिष्ट शिक्षण विधियों को अपनायगी।

ये विभिन्न खण्ड जिनका वर्णन ऊपर किया गया है और जो आदर्शवादी शिक्षा में प्रयोग में आते हैं उनकी विवेचना हम नीचे करेंगे।

(अ) अध्यापक

आदर्शवादी शिक्षा में अध्यापक को सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। वह ऐसा व्यक्ति समझा जाता है जिसके द्वारा पूर्ण सीखना संभव होता है। उसी के द्वारा उन आदर्शों को प्राप्त किया जा सकता है जिनको कि आदर्शवाद प्रतिपादन करता है। आदर्शवादी एक अध्यापक में अनेकों गुणों का होना आवश्यक समझते हैं। वह बहुत से उत्तरदायित्व उसके कन्धों पर डाल देते हैं जिनका सुचारु रूप से निर्वाह करना ही उसका कर्त्तव्य समझा जाता है। मैरिल मूर थाम्पसन[5] का कहना है कि अध्यापक बालक के लिए वास्तविक सत्य का मूर्तरूप है। ईश्वर ही परम गुरु माना जाता है और बालक के लिए उसका गुरु ही ईश्वर का प्रतिरूप होता है। आदर्शवादी अध्यापक को गुणों से परिपूर्ण मानते हैं जिनके कारण विद्यार्थी उनका आदर करते हैं। हॉर्न[6] महोदय अध्यापक को प्रत्येक विद्यार्थी के व्यक्तिगत मित्र के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं कि अध्यापक ही बालक में सीखने की इच्छा

1. Idealcentred, 2. Ultimate Reality, 3. City of God, 4. Self-activities. 5. Merril Moore Thompson, 6. Herman Harrill Horne, *This New Education*, p. 25,

जाग्रत करते हैं। और अध्यापक ही मानव को पूर्णता प्रदान करने में या एक आदर्श अवस्था प्राप्त करने में सहायक समझते हैं।[1]

हम अन्त में अध्यापक के सम्बन्ध में आदर्शवादी दृष्टिकोण को इस प्रकार रख सकते हैं : "अच्छा अध्यापक आवश्यक रूप से एक ऐसा परिश्रमी व्यक्ति होना चाहिए जो विद्यार्थियों को अपने संतुलित व्यक्तित्व तथा श्रेष्ठ व्यवहार के प्रति जाग्रित करे तथा उन्हें स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करे।

(आ) अनुशासन

आदर्शवादी अनुशासन को बहुत महत्त्व प्रदान करते हैं। वे कहते हैं कि आरम्भ में बालकों पर कड़े अनुशासन की आवश्यकता है। हॉर्न महोदय का कथन है कि "**शासन का आरम्भ बाह्य रूप से होता है, परन्तु यह समीचीन होगा यदि इसका अन्त आदत, निर्माण, तथा आत्म-नियन्त्रण द्वारा आन्तरिक रूप में हो।**"[2] शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बालकों में अनुशासन की भावना जाग्रत करे। वह अपने जीवन में उच्च आदर्शों को अपना कर ही बालकों को प्रभावित कर सकता है। आदर्शवादी अनुशासन को अवदमन के रूप में नहीं देखते। वे चाहते हैं कि अनुशासन का प्रकार प्रभावोत्पादक हो। बालक के ऊपर अध्यापक का अच्छा प्रभाव पड़े, वह जीवन के सत्यों, मूल्यों, और आदर्शों से अनुप्रेरित हो जाये और इस प्रकार उसमें अच्छी आदतों का निर्माण हो तथा आत्म-नियन्त्रण की भावना का विकास हो। आदर्शवादियों का अनुशासन के प्रति यही दृष्टिकोण है। जब वे यह कहते हैं कि आरम्भ में कड़े अनुशासन की आवश्यकता है तो इससे यह अभिप्राय कदापि नहीं कि बालकों को दण्ड दे कर अनुशासित किया जाय, वरन् यह कि बालकों को जैसा प्रकृतिवादी कहते हैं बिल्कुल स्वतन्त्र न छोड़ दिया जाय, उनकी स्वच्छन्दता पर रोक लगायी जाय। वे स्वतन्त्र अनु- शासन तथा प्राकृतिक प्रतिक्रियाओं द्वारा अनुशासन के विरोधी हैं।

(इ) स्वक्रिया[3]

आदर्शवाद सम्पूर्ण शिक्षा का प्रयोजन आत्म-शिक्षण[4] मानता है परन्तु

---

1. Herman Harrill Horne : *The Psychological Principles of Education*, p. 39.

2. Herman Harrill Horne, *The New Education*, p. 89 : "Authority begins by being external, it is sufficient if it ends through habit, formation and self-control in becoming internal." 3. Self-activity, 4. Self-education.

आत्म की शिक्षा उचित प्रकार से उसी समय ही दी जा सकती है जब स्वक्रिया के सिद्धान्त को मान्य समझ लिया जाय, स्वक्रिया द्वारा ही आत्म-विकास सम्भव हो सकता है। अतएव अध्यापक को बालक की क्रियाशील प्रक्रिया को प्रोत्साहित करना चाहिये और यह देखना चाहिए कि वह स्वक्रिया में भाग ले, क्योंकि स्वक्रिया ही आगे चल कर उनके चरित्र के विकास में सहायक होती है।

(स) पाठ्य-क्रम[1]

आदर्शवाद एक ऐसे पाठ्य-क्रम को निर्धारित करता है जो विशिष्ट आदर्शों को प्राप्त करने में सहायक होता है। इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं कि आदर्शवादी दृष्टिकोण में पाठ्यक्रम या पाठ्यवस्तु अमूर्त होती है वरन् वह मूर्त तथा स्वीकारात्मक होती है। हॉर्न महोदय पाठ्यक्रम के निर्णय के ठोस आधारों को मानव के आदर्श, चरित्र में आदर्श-समाज की विशेशताओं के अन्तर्गत ढूँढ़ता है[2]। अतएव वे सभी वस्तुयें; जैसे—अनुभव, क्रियायें, जीवन की परिस्थितियाँ और पाठ्य पदार्थ जो सर्व श्रेष्ठ रूप से आदर्श की पूर्णता की ओर हमें ले जाते हैं उन्हें ही शिक्षा के लिये चुनना चाहिये। हॉर्न के अनुसार व्यावहारिक रूप में इस सिद्धान्त को रखने से यह ज्ञात होता है कि "कुछ विज्ञान कुछ कला और कुछ व्यावसायिक शिक्षा[3] हरेक विद्यार्थी के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर देने चाहिये।" अतएव **पाठ्य-क्रम में दोनों—ज्ञानोपार्जन और जीविकोपार्जन शिक्षा का समावेश होना चाहिये।**

आदर्शवादी पुस्तकीय ज्ञान तथा पाठ्यक्रम की वस्तुनिष्ठता को श्रेष्ठ समझते हैं वे यह मानते हैं कि अनुभव द्वारा सीखना उत्तम है परन्तु बहुत कुछ उपयोगी ज्ञान अप्रत्यक्ष विधि द्वारा ही भविष्य के लिये अर्जित किया जा सकता है। इस प्रकार आदर्शवादियों का यह मत है कि पुस्तकीय ज्ञान या दूसरे स्तर पर ज्ञान देने वाले श्रोत को बालक को शिक्षा में प्रमुखता देनी चाहिए।

आदर्शवादी पाठ्य-क्रम में ऐसे तत्वों का समावेश करते हैं जिनसे बालक सत्यं, शिवं, और सुन्दरं के आदर्शों को अपना सके। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन महान् दार्शनिक प्लेटो ने किया था। उनके अनुसार ये तीनों क्रमशः बौद्धिक, कलात्मक और नैतिक क्रियाओं के प्रतिनिधि हैं यह

---

1. Curriculum, 2. Herman Harrill Horne, 'The New Education'; "the ideal character of man and the characteristic of an ideal society." 3. H. H. Horne, The Philosophy of Education p. 146 : Some science, some art and some volition."

सिद्धान्त आदर्शवादियों के इस दृष्टिकोण की ओर संकेत करता है कि पाठ्यक्रम में उन सब विषयों को सम्मिलित करना चाहिये जो बालक के बौद्धिक, कलात्मक या सौन्दर्य बोध एवं नैतिक विकास में सहायक हों। अतएव पाठ्यक्रम में भाषा, इतिहास, साहित्य, भूगोल, विज्ञान तथा गणित सभी विषयों का होना आवश्यक है। ये सब बालक के बौद्धिक विकास में सहायक होते हैं जबकि कला तथा कविता सौन्दर्य बोध एवं रसानुभूति के विकास के लिये उत्तम विषय हैं और धर्म, नीति-शास्त्र तथा आध्यात्मिक ज्ञान, नैतिक विकास के लिये नितान्त आवश्यक हैं।

पाठ्यक्रम के विषय में रॉस तथा नॅन महोदय का दृष्टिकोण भी आदर्शवादी ही है। रॉस महोदय तो पाठ्यक्रम के आयोजन में दो प्रकार की क्रियाओं पर बल देते हैं—(१) स्वास्थ्य सम्बन्धी क्रियायें, और (२) आध्यात्मिक क्रियायें। उनके अनुसार पाठ्यक्रम में साहित्य, कला, कविता, संगीत धर्म आदि की शिक्षा आध्यात्मिक क्रियाओं के लिये आवश्यक है। जबकि स्वास्थ्य विज्ञान, स्वास्थ्य सम्बन्धी क्रियाओं के लिये पाठ्य-क्रम में सम्मिलित करना आवश्यक है।

नॅन महोदय उन क्रियाओं को पाठ्यक्रम के लिये आवश्यक समझते है जिनसे व्यक्ति तथा समाज के अस्तित्व की रक्षा होती है। इसके अतिरिक्त वे चाहते है कि पाठ्यक्रम में उन क्रियाओं का होना भी आवश्यक है जिनके द्वारा संस्कृति का निर्माण होता है। अतएव प्रथम प्रकार की क्रियाओं के लिये बालक को नीति-शास्त्र, धर्म आदि की शिक्षा देनी चाहिये तथा शारीरिक व्यायाम पर बल देना चाहिये। दूसरे प्रकार की क्रियाओं के लिये साहित्य, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, गणित, संगीत आदि का अध्ययन आवश्यक है।

अन्त में हमें आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में एक बात और याद रखनी चाहिये, वह यह है कि पाठ्यक्रम में स्थिरता न होकर गतिशीलता होनी चाहिये तथा पाठ्यक्रम बालकों की आध्यात्मिक आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित होता रहना चाहिए।

(द) शिक्षण-विधि[1]

आदर्शवादी किसी विशिष्ट शिक्षण विधि को अच्छा नहीं समझते वे अपने आपको विधि का निर्माणक तथा निर्धारण करने वाले मानते हैं वे किसी भी एक विधि के दास बनना नहीं चाहते।[2] । उनका विचार यह है कि विद्यार्थियों

1. Methods of teaching, 2. Butler's Four Philosophies, p. 258 : "Idealists consider themselves as the 'Creators and determiners of method, not devotees of some one method."

की इच्छा शक्ति का दमन किसी भी रूढ़िवादी शिक्षण विधि को अपनाकर नहीं करना चाहिए। आदर्शवादियों के अनुसार बालको को शिक्षा देने की सबसे उत्तम विधि प्रश्नोत्तर तथा वादविवाद है।[1] उनका विचार है कि इस विधि के द्वारा विचार करने की शक्ति प्रबल हो जाती है। विद्यार्थी प्रकरण का महत्व समझ लेता है और उसका अर्थ समझने में समर्थ होजाता है। इस प्रकार से विद्यार्थी की निर्णय शक्ति का विकास होता है जो कि विद्यार्थी के भावी जीवन के लिये बहुत ही महत्व पूर्ण है।

आदर्शवादी व्याख्यान विधि[2] को एक उचित शिक्षण विधि समझते हैं। इस विधि के द्वारा अध्यापक बालकों को सही एवं वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्रदान करने में समर्थ होता है। इस विधि का उपयोग कर बालकों मे रचनात्मक कला कृतियो के प्रति सौन्दर्यानुभूति की भावना को जाग्रत किया जा सकता है। परन्तु व्याख्यान को इस प्रकार से नहीं देना चाहिये कि यह केवल तथ्य या विचार का ग्रामोफोन रिकार्ड मात्र बनकर रह जाय तथा एक ऐसी निरकुश विधि का रूप धारण कर ले जिसमें विद्यार्थियों के प्रश्नो को प्रतिक्रिया या निर्णय का कोई स्थान न हो।

आदर्शवादी प्रोजेक्ट विधि के विरोधी नहीं है, इसके विपरीत वे विश्वास करते हैं कि इस विधि का शिक्षा में एक महत्वपूर्ण स्थान है। वे इस विधि को पुस्तकीय ज्ञान के पूरक के रूप में मानते है। आदर्शवादी इस दृष्टिकोण से तो सहमत नहीं है कि सब प्रकार से सीखना केवल क्रिया शिक्षा द्वारा ही सम्भव है परन्तु वे यह मानते हैं कि क्रिया द्वारा सीखना वास्तविक होता है और यह शैक्षिक क्रिया का एक अङ्ग होना चाहिए।

आदर्शवाद की आलोचना

आदर्शवाद की आलोचना कई प्रकार से की गई उनके मुख्य आलोचन विन्दु इस प्रकार हैं :—

(१) आदर्शवाद शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त व्यापक तथा उच्च उद्देश्यों का प्रतिपादन करता है परन्तु ये उद्देश्य बहुत कुछ अमूर्त[3] से प्रतीत होते हैं विशेष रूप से एक बालक के लिये जो केवल वर्तमान को ही समझता है भविष्य उसके लिये कोई मूल्य नहीं रखता। अतएव आदर्शवाद द्वारा दिये गये उद्देश्यों के जो गुण दार्शनिक दृष्टिकोण पर आधारित हैं और वर्तमान से भविष्य पर अधिक बल देते हैं बालकों की बौद्धिक क्षमता से परे होते हैं।

वर्तमान काल एक यांत्रिक युग है सभी कार्य मशीनों द्वारा होने लगे हैं।

---

1. Questioning and discussion, 2. Lecture Method.
3. Abstract.

व्यक्ति की आवश्यकताएं दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं एक देश तथा दूसरे देश में, एक जाति की दूसरी जाति मे एक समूह तथा दूसरे समूह मे, यहाँ तक कि एक ही समूह के विभिन्न सदस्यों में, प्रतिद्विन्द्वता एवं द्वेष है। एक-दूसरे में स्पर्धा है कि दूसरे से अधिक शक्तिशाली बन जाय। यह प्रतिद्वन्द्विता है कि उनका यांत्रिक विकास तथा प्रकृति पर अधिकाधिक अधिकार हो जाय। ऐसे समय में व्यक्ति केवल यांत्रिक उन्नति ही चाहता है। वह वर्तमान को ही देखता है। आध्यात्मिक सत्य तथा भविष्य की ओर देखने का उसके पास समय ही नहीं। एक और कारण भी है जिससे आदर्शवादी सिद्धान्त है 'नैतिकता' का विरोध किया जाता है यह कहा जाता है कि हमें जीवन के अन्तिम उद्देश्य से क्या लेना-देना, हमें तो इस समय चाहिये, रोटी, कपड़ा, मकान और अच्छा रहने का स्तर। अतएव वे आदर्शवाद द्वारा दिये गये उद्देश्यों की घोर आलोचना करते हैं।

(२) आदर्शवाद द्वारा अध्यापक को शैक्षिक प्रक्रिया मे जो मुख्य स्थान दिया जाता है उसकी भी आलोचना की जाती है। अब शिक्षा में अध्यापक पर इतना अधिक बल न देकर बालक पर ही दिया जाता है। अध्यापक का कार्य केवल बालकों का पथ-प्रदर्शन एवं उन्हें उचित मार्ग निर्देशन करना ही है।

अध्यापक को बालक की स्व-शिक्षा के लिये अवसर प्रदान करना ही महत्व-पूर्ण समझा जाता है। अब अध्यापक को अपनी इच्छानुसार बालकों को शिक्षा देने वाले नेता के रूप में नहीं देखा जाता वरन् उसे बालक के मित्र तथा सहानुभूतिपूर्ण पथ-प्रदर्शक के रूप में देखा जाता है।

(३) आदर्शवाद शिक्षण विधियो के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि नहीं अपनाता वह जिन विधियों का प्रतिपादित करता है वे हैं व्याख्यान विधि या रटने के द्वारा सीखना आदि। इन विधियों की आलोचना लगभग सभी शिक्षा शास्त्रियों द्वारा वर्तमान समय में की गई है। अब तो खेल द्वारा शिक्षा, स्वशिक्षा, नाटक शिक्षा आदि पर विशेष बल दिया जाता है।

(४) पाठ्यक्रम के निर्माण में भी आदर्शवाद द्वारा दिये गये नियमों को उचित नहीं समझा जाता। आदर्शवाद उन विषयों को महत्व देता है जिनकी कि आध्यात्मिक उपयोगिता है जबकि पाठ्यक्रम अब दूसरे रूप में देखा जाता है। उसे बालक के जीवन के अनुभव से सम्बन्धित होना चाहिये। वह वर्तमान की सफलता पर अधिक केन्द्रित होना चाहिए भविष्य की कल्पना पर नहीं।

आदर्शवाद की देन

हम आदर्शवाद के आलोचनात्मक पहलू पर विचार कर चुके हैं। अब यहाँ आदर्शवाद की शिक्षा को क्या दैन है, इस पर विचार करेंगे।

(१) शिक्षा के क्षेत्र में आदर्शवाद हमें एक ऐसा दृष्टिकोण प्रदान करता है जो आदर्शों, मूल्यों तथा सत्यों पर आधारित है। वर्तमान समय में जो कुछ शिक्षा प्रणाली में तथा सामान्य जीवन में दोष आ गये हैं उनका मूल कारण आदर्शवाद की अवहेलना है। विज्ञान तथा यन्त्रों पर आधारित सभ्यता ने हमारे जीवन के दृष्टिकोण को बहुत ही संकीर्ण बना दिया है और व्यक्ति को अत्यन्त स्वार्थी। परिणाम यह हुआ कि केवल वे ही वस्तुयें अब अच्छी लगने लगी हैं जिनका मूल्य रुपये के रूप में आँका जाता है। शिक्षा में इसी कारण ऐसी बातों को महत्व दिया जाता है जो व्यक्ति को आध्यात्मिक विकास की ओर न ले जाकर यांत्रिक विकास में सहायता प्रदान करें। अतएव हम कह सकते है कि शिक्षा को आदर्शवाद की सबसे बड़ी देन यह है कि वह व्यक्ति के लिये ऐसी शिक्षा देने पर बल देता है जो उसके चरित्र का निर्माण करे और आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करे।

(२) आदर्शवाद द्वारा बताये गये उद्देश्य ही शिक्षा में उचित उद्देश्य समझे जाते हैं। दूसरे सम्प्रदायों द्वारा दिये हुये उद्देश्य न केवल संकीर्ण ही है वरन् अपूर्ण भी है। आदर्शवाद ही एक ऐसा सम्प्रदाय है जो शिक्षा के उद्देश्यों की विस्तृत विवेचना करता है।

(३) आदर्शवाद अध्यापक को शिक्षा में एक मुख्य स्थान प्रदान करता है। यह बात सर्वथा मान्य है कि किसी भी प्रकार की शिक्षा देने में अध्यापक का सहयोग नितान्त आवश्यक है। आदर्शवाद यही कहता है कि अध्यापक को समाज और देश के निर्माणक के रूप में देखना चाहिये। यदि यह दृष्टिकोण अपना लिया जाता है तो शिक्षक को एक उच्च स्थान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार शिक्षक को महत्वपूर्ण स्थान देने से कल्याण निश्चित होता है।

(४) आदर्शवाद स्वानुशासन एवं आत्म-नियंत्रण का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। अनुशासन रखने के लिये यह सिद्धान्त अत्यन्त उत्तम है। इसके अनुसार बालक पर कोई कड़े नियंत्रण नहीं रखे जाते और न वह स्वच्छन्द ही छोड़ा जाता है वरन् मध्यम मार्ग अपनाया जाता है।

(५) आदर्शवाद प्रत्येक बालक के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आदर की भावना अपनाता है। रूसो आदि की शैक्षिक विचारधारा भी इसी सिद्धान्त के पक्ष में हैं। रूसो बालक को स्वभाव से अच्छा मानता है। अतः आदर्शवाद एक ऐसा सम्प्रदाय है जो दूसरे सम्प्रदायों के प्रवर्त्तकों को अपने सिद्धान्तों से प्रभावित करता है।

सारांश

आदर्शवाद के अनुसार मूल्य तथा आदर्श सर्वव्यापी है। यह प्रकृतिवाद से इन बातों में भिन्न है-(१) प्रकृतिवाद से आदर्शवाद कहीं अधिक व्यापक है। यह न केवल मानव के भौतिक पक्ष से सम्बन्धित है वरन् यह मानव के नैतिक तथा बौद्धिक विकास पर भी प्रकाश डालता है, (२) प्रकृतिवाद पदार्थ को अधिक महत्वपूर्ण मानता है। वह शरीर को मन से अधिक महत्वपूर्ण समझता है जब कि आदर्शवाद आत्म एवं मन को अधिक महत्व देता है। आदर्शवाद भौतिक संसार को यथार्थता का अपूर्ण वर्णन समझता है और इसका पूरक आध्यात्मिक संसार को समझता है।

आदर्शवाद के प्रमुख प्रवर्त्तक :—आदर्शवाद के प्रमुख प्रवर्त्तक सुकरात, प्लेटो, डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनीज, बर्कले, कान्ट तथा होगल आदि प्रसिद्ध दार्शनिक हुए। कमेनियस, पेस्टालॉजी तथा डैकार्ट शिक्षा में इसके प्रमुख प्रवर्त्तक हैं।

प्लेटो :—प्लेटो ने इस बात का प्रतिपादन किया कि शिक्षा द्वारा सत्यम् शिवम् तथा सुन्दरम् के उद्देश्य को अपनाना चाहिए।

कमेनियस :—कमेनियस के अनुसार बालक को उसकी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्रदान करना चाहिए। उसकी विवेक शक्ति का विकास करना चाहिये और उसमें ईश्वर के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा जाग्रत करना चाहिए।

पेस्तालॉजी :—इनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति में मानवता का अंश है और उसमें अच्छे बनने की प्रवृत्ति है। शिक्षा द्वारा मानव का यदि उचित मार्ग प्रदर्शन किया जाय तो उसकी मानवता उभर आयगी।

फ्रोबेल :—इन्होंने कहा कि शिक्षा मनुष्य का पथ-प्रदर्शन अपने आपको समझने में तथा अपने सम्बन्ध में स्पष्टता लाने में करे, प्रकृति के साथ शान्ति स्थापित करने में करे तथा ईश्वर के साथ एकत्व प्राप्त करने में करे।

आदर्शवाद का दर्शन :—आदर्शवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि हम चरम सत्य को उस समय तक नहीं समझ सकते जब तक कि हम आध्यात्मिकता का सहारा नहीं लेते। आदर्शवादी कहते है कि मानव के अन्दर आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं जो उसमें बौद्धिक, सांस्कृतिक या नैतिकता तथा धर्म का प्रादुर्भाव करती हैं।

आदर्शवादियों के अनुसार वातावरण का महत्व :—आदर्शवादियों के अनुसार वातावरण दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है—(अ) भौतिक, और (आ) मानसिक, सामाजिक या सांस्कृतिक। मनो-सामाजिक वातावरण

की ये विशेषताएँ हैं—(१) मनो-सामाजिक वातावरण मनुष्य द्वारा स्वयं सृजन किया जाता है, (२) मनो-सामाजिक वातावरण उन साधारण सीमाओं से बंधा हुआ नहीं है जिनसे कि भौतिक वातावरण, (३) मनो-सामाजिक वातावरण की वस्तुओं को एक व्यक्ति उस प्रकार से वंशानुक्रम में हस्तान्तरित नहीं कर सकता जिस प्रकार से कि वह भौतिक वस्तुओं को करता है।

आदर्शवाद और शिक्षा :—आदर्शवादी उसी शिक्षा को अधिक व्यापक मानते है जिसके द्वारा सत्य, सुन्दर, शिव तथा धर्म के गुणों का रसास्वादन करना सिखाया जाय। वे समझते हैं कि सांस्कृतिक गुण ही अन्तिम एवं चरम सत्य हैं और शिक्षा में उन पर अधिक बल दिया जाना ही ठीक है।

(१) **आदर्शवादियों के अनुसार विद्यालय की आवश्यकता** :—आदर्शवादी शिक्षा के लिए विद्यालय को आवश्यक समझते हैं क्योंकि—(१) विद्यालय वह स्थान है जहाँ पर व्यक्ति को सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक गुणों के अर्जन करने में सहायता प्रदान की जाती है, (२) विद्यालय-शिक्षण बालक को सांस्कृतिक गुणों के साथ-साथ ईश्वर की प्रकृति समझने में सहायक होता है, (३) सामाजिक गुणों के विकास के लिए विद्यालय जैसी सामाजिक संस्था की आवश्यकता है, (४) समाजकल्याण की दृष्टि से शिक्षा के लिये विद्यालयों का निर्माण होना आवश्यक है (५) यह एक अद्वितीय स्थान है जहाँ विचार करने में उचित प्रकार से पथ-प्रदर्शन किया जा सकता है, तथा (६) विद्यालय गुणों को प्रदान करने वाली एक संस्था है।

(२) **आदर्शवादी शिक्षा के उद्देश्य** :—शिक्षा के उद्देश्य दो दृष्टिकोण से दिये जाते हैं (अ) व्यक्तिगत (आ) सामाजिक। व्यक्तिगत रूप से शिक्षा का उद्देश्य आत्मानुभूति है। सामाजिक रूप में शिक्षा का उद्देश्य कार्य कुशलता, चरित्र तथा नागरिकता का विकास करना है।

(३) **शैक्षिक प्रक्रिया** :—शिक्षा आदर्श केन्द्रित समझी जाती है। आदर्श केन्द्रित शैक्षिक प्रक्रिया के लिए इन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(अ) **अध्यापक** :—अच्छा अध्यापक आवश्यक रूप से एक मेहनती व्यक्ति होना चाहिये जो विद्यार्थियों को अपने व्यक्तित्व तथा अपने व्यवहार से अनुप्राणित करे तथा उन्हें स्फूर्ति एवं प्रेरणा प्रदान करे।

(आ) **अनुशासन** :—अनुशासन प्राकृतिक प्रतिक्रियाओं द्वारा नहीं होना चाहिए। आरम्भ में बालक पर कड़ा अनुशासन होना आवश्यक है परन्तु यह अवदमन के रूप में नहीं होना चाहिये। इस प्रकार प्रभावोत्पादक होना चाहिए।

(इ) **स्वक्रिया** :—स्वक्रिया द्वारा ही आत्मविकास सम्भव है अतएव अध्यापक को बालक की क्रियाशील प्रक्रिया को प्रोत्साहित करना चाहिये।

(स) **पाठ्यक्रम** :—आदर्शवादी पुस्तकीय ज्ञान को तथा पाठ्यक्रम की वस्तु-निष्ठता को अच्छा समझते हैं। वे पाठ्यक्रम में ऐसे तत्वों का समावेश करते हैं जिनसे बालक सत्यं, शिवं, सुन्दरं के आदर्शों को अपना सके। वे पाठ्य-क्रम में भाषा, इतिहास, साहित्य, भूगोल, विज्ञान तथा गणित सभी विषयों का होना आवश्यक समझते हैं। इसके अतिरिक्त कला तथा कविता, धर्म, नीति-शास्त्र इत्यादि का सम्मिलित होना भी आवश्यक मानते हैं। आदर्शवादी पाठ्यक्रम में स्थिरता के विरोधी हैं।

(द) **शिक्षण विधि**—आदर्शवादी व्याख्यान विधि को एक अच्छी विधि समझते हैं वे स्वक्रिया द्वारा सीखने पर भी बल देते हैं। परन्तु विधि के सम्बन्ध में उनके विचार विशेष रूप से स्पष्ट नहीं है।

आदर्शवाद की आलोचना—आदर्शवाद की आलोचना निम्न प्रकार से की जाती है :

(१) आदर्शवाद के उद्देश्य अमूर्त से प्रतीत होते हैं।
(२) आदर्शवाद शिक्षक को बहुत उच्च स्थान प्रदान करता है और बालक की प्रकृति की ओर ध्यान नहीं देता।
(३) आदर्शवाद शिक्षण विधियों के सम्बन्ध में कुछ भी वर्णन नहीं करता।
(४) पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में इसके द्वारा दिये गये नियम उचित नहीं समझे जाते।

आदर्शवाद की देन—शिक्षा में आदर्शवाद की देन निम्नलिखित है :—
(१) आदर्शवाद व्यक्ति को ऐसी शिक्षा देने पर बल देता है जो उसके चरित्र का निर्माण करे और आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करे।
(२) यह शिक्षा के उचित उद्देश्यों को निर्धारित करता है।
(३) यह अध्यापक को शिक्षा देने में एक मुख्य स्थान प्रदान करता है।
(४) यह स्वानुशासन एवं आत्मनियन्त्रण का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है।
(५) आदर्शवाद प्रत्येक बालक के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आदर की भावना प्रतिपादित करता है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. आदर्शवाद के प्रमुख प्रवर्त्तकों के दर्शन पर संक्षेप में प्रकाश डालिये और यह स्पष्ट कीजिए कि उनके दर्शन ने उनकी शैक्षिक विचार-धारा पर किस प्रकार प्रभाव डाला है ?

२. 'आदर्शवाद शिक्षा के उद्देश्य के निर्धारण में जितनी सहायता करता है उतनी वह शिक्षा-विधि में नहीं करता'—इस कथन की आलोचना कीजिए।

३. शैक्षिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में आदर्शवाद क्या विचार रखता है ? "आदर्श केन्द्रित" शिक्षा से आप क्या समझते हैं ?

४. आदर्शवाद और प्रकृतिवाद की तुलना कीजिये। इनके द्वारा दिये हुए—(१) शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में, तथा (२) विद्यालय की आवश्यकता के सम्बन्ध में विचार प्रकट कीजिए।

५. आदर्शवाद वातावरण के सम्बन्ध में क्या विचार रखता है। यह प्रकृतिवाद से किस प्रकार भिन्न हैं ?

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) हेराडेरसन, एस० वी० पी० : **इन्ट्रोडक्शन टु फ़िलासॉफी ऑव एडूकेशन**
(२) लाज, आर० सी० : **फ़िलासॉफी ऑव एडूकेशन**
(३) रॉस : **ग्राउन्डवर्क ऑव एडूकेशन थियरी**
(४) रस्क : **दि फ़िलासॉफिकल बेसेज ऑव एडूकेशन**
(५) हॉर्न, एच० एच० : **दि डेमोक्रेटिक फ़िलॉसॉफ़ी ऑव एडूकेशन**
(६) भाटिया : **दि फ़िलासॉफी ऑव एडूकेशन**
(७) प्रेमनाथ : **दि बेसिस ऑव एडूकेशन**
(८) बटलर : **फोर फिलासॉफीज**

— :०: —

अध्याय ५

प्रयोजनवाद[1]

प्रयोजनवाद का संक्षिप्त इतिहास :—आधुनिक काल में अमेरिका देश का दार्शनिक दृष्किोण प्रयोजनवाद है। परन्तु प्रयोजनवाद के आधार हमें प्राचीन काल में भी मिलते हैं। हेराक्लिटस्[2] इस विचार धारा के प्रथम प्रवर्त्तकों में से एक माने जाते हैं। सोफिस्ट[3] विचार धारा के प्रोटोगोरटस[4] प्रभृति विद्वान भी इसके आरम्भ के प्रवर्त्तकों की श्रेणी में आते हैं। परन्तु वह दार्शनिक जिन्होंने सबसे पहले उस सम्प्रदाय के दृष्टिकोण पर ध्यान दिया वह फ्रान्सिस बेकन (१५६१-१६२६) हैं।[5] आगस्ते कोमटे[6] (१७९८-१८५७) के दार्शनिक विचार में भी कुछ इस प्रकार की विचार धारा दिखाई पड़ती है जिसने अमेरिका के प्रयोजनवादी दृष्टिकोण पर प्रभाव डाला है। अमेरिका के दार्शनिकों में जो प्रयोजनवादी कहे जाते हैं उनमें तीन के नाम उल्लेखनीय हैं:—चार्ल्स सेन्डर्स पीयर्स[7] (१८३९-१९१४), विलियम जेम्स[8] (१८४२-१९१०), और जान ड्यूवी (१८५९-१९५२)। इन तीनों दार्शनिकों में से जान ड्यूवी के विचारों ने शिक्षा सिद्धान्त तथा शिक्षा की विधियों को सबसे अधिक प्रभावित

1. Pragmatism, 2. Heraclitus, 3. Sophists, 4. Protogors, 5. Francis Bacon, 6. Augustc Comte, 7. Charles Sanders Pierce 8. William James, 9. Dewey.

किया है। यहाँ हम संक्षेप में जान ड्यूवी के शैक्षिक दर्शन की विवेचना करेंगे।

जान ड्यूवी और उनका दर्शन

जान ड्यूवी महोदय का जन्म १८५९ ई० में वरमाराट के बरलिङ्गटन नगर में हुआ था। उनके पिता एक साधारण व्यापारी थे। उनका बाल्यपन ग्रामीण वातावरण में व्यतीत हुआ था। १८७९ में उन्होंने वरमाराट के विश्वविद्यालय से दीक्षा प्राप्त की। इसके पश्चात एक साल तक दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया फिर अध्यापक बन गये। परन्तु उन्होंने शीघ्र ही अध्यापन कार्य छोड़ दिया और जॉन हापकिन्स विश्वविद्यालय से पी० एच-डी० की डिग्री दर्शन शास्त्र में प्राप्त की। वह इस डिग्री लेने के पश्चात १९०३ ई० तक मिशीगन और शिकागो विश्वविद्यालयों में अध्यापन कार्य करते रहे। १९०४ ई० में वह कोलम्बिया विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए। इस पद पर वह १९३० ई० तक आसीन रहे। इसके पश्चात भी अपने मृत्यु के समय तक (१९५२ ई० तक) इस विश्वविद्यालय से सम्बन्ध रखते रहे। १९१९ ई० में वह टोकियो गये जहाँ उन्होंने शिक्षा दर्शन पर व्याख्यान दिये। पीकिङ्ग विश्वविद्यालय द्वारा आमंत्रित किये जाने पर दो साल तक वहाँ रहे। वह टर्की भी गये जहाँ के विद्यालयों के नव संगठन का काम टर्की की सरकार ने उनको सोंपा था।

ड्यूवी महोदय ने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। वह पुस्तकें जिनमें उन्होंने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये हैं, वह हैं :—

(१) दि स्कूल एण्ड दि सोसाइटी[1]
(२) दि स्कूल एण्ड दि चाइल्ड[2]
(३) स्कूल्स ऑफ टूमारो[3]
(४) डेमोक्रेसी एण्ड एडूकेशन[4]
(५) हाऊ वी थिंक[5]
(६) मोरल प्रिन्सीपल्स आफ एडूकेशन[6]
(७) एडूकेशन टुडे[7]
(८) फ्रीडम एण्ड कल्चर[8]
(९) रीकन्सट्रक्शन इन फिलासफी[9]

---

1. The school and the society, 2. The school and the child, 3. Schools of tomorrow, 4. Democracy and education, 5. How we think, 6. Moral Principles of education, 7. Education today, 8. Freedom and culture, 9. Reconstruction in Philosophy,

ड्यूवी की दार्शनिक विचारधारा

ड्यूवी की दार्शनिक विचारधारा डारविन[1] महोदय के उद्विकास के सिद्धान्त[2] पर तथा जेम्स महोदय के प्रयोजनवाद पर आधारित है। अतएव इसमें प्रकृतिवाद और प्रयोजनवाद दोनों का सम्मिश्रण है। उनके मुख्य दार्शनिक विचार इस प्रकार हैं।

(१) ड्यूवी महोदय इस बात में आस्था रखते हैं कि परम सत्य का दिग्दर्शन मानव में ही संभव है। यह ब्रह्मांड की प्रक्रियाशील शक्तियों में निहित नहीं है। यह कहना कि ब्रह्मांड ही सब कुछ है और मानव की कोई सामर्थ्य नहीं भ्रमात्मक है। यह विचार हमारी अपनी शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त करने में हमारी असमर्थता की ओर संकेत करता है अतएव ड्यूवी दैवी शक्ति की कल्पना करना पसन्द नहीं करते।

(२) मन के सम्बन्ध में ड्यूवी महोदय का विचार है कि यह उद्विकास की क्रिया के कारण पनपता है। यह प्राणी की कुछ विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विकसित होता है। अतएव यह कहना दोषपूर्ण है कि मानव मन, ब्रह्म या ईश्वर के व्यापक मन का एक अंश है। मन वातावरण से सम्बन्धित है। यह वातावरण पर प्रभाव डालता है और स्वयं उससे प्रभावित होता है। मन स्थायी नहीं है वरन् इसके विकास की क्रिया चलती रहती है।

(३) ड्यूवी महोदय किसी पूर्व निश्चित सत्य अथवा मूल्य में विश्वास नहीं रखते। वे कहते हैं कि हम गतिशील संसार में रहते हैं जो सदैव परिवर्तित रहता है और नवीन रूप लेता रहता है। ऐसे संसार में हमारा जीवन उसी समय सफल हो सकेगा जब हम पूर्व निश्चित सिद्धान्तों में आस्था न रखें और अपने विश्वासों और विचारों को समय तथा स्थान के अनुरूप परिवर्तित करते रहें। सत्य, मूल्य या वास्तविकता पर काल और स्थान का बहुत प्रभाव पड़ता है। जो इस समय और इस स्थान पर सत्य है वह किसी दूसरे समय अथवा दूसरे स्थान पर सत्य नहीं भी हो सकता है। अतएव ड्यूवी महोदय के अनुसार सत्य वही है जो समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार सत्य है। किसी भी प्रकार का परिवर्तन समय, स्थान अथवा परिस्थिति में सत्य के प्रत्यय के सम्बन्ध में हमारे विचारों में परिवर्तन ले आयेगा। इस प्रकार न तो सत्य सनातन है न वह मानव अनुभव से परे है।

---

1. Darwin, 2. Theory of evolution.

(४) ड्यूवी का दर्शन प्रयोगवादी[1] है। उनका कथन है कि हम सब चेतन या अचेतन रूप से प्रयोग करते रहते हैं। हम अपनी समस्याओं का समाधान प्रयोगात्मक विधियों द्वारा ही करते हैं। हमारा चिन्तन एक प्रयोग के विभिन्न स्तरों का ही अनुसरण करता है। वे स्तर इस प्रकार से हैं—

(क) कठिनाई अनुभव करना—समस्या से परिचित होना।[2]

(ख) कठिनाई की व्यवस्था करना तथा उसका निर्धारण करना—समस्या को समझना।[3]

(ग) सूचना को ढूँढ़ना व व्यवस्थित करना—उसका मूल्य निर्धारित करना—दत्त सामग्री का वर्गीकरण करना।[4]

(घ) अनुमान का मूल्य निर्धारित करना—अनुमान को स्वीकार करना या न करना।[5]

(ङ) हल को प्रयोग में लाना—निर्णय को स्वीकार अथवा अस्वीकार करना।[6]

अतएव शिक्षा की क्रिया में वे उसी पद्धति को अच्छा समझते हैं जो इन स्तरों के आधार पर चिन्तन की क्रिया को प्रोत्साहित करे।

(५) ड्यूवी ज्ञान को ज्ञान के लिए[7] ही देने के पक्ष में नहीं है। वह ज्ञान को अनुभव से अलग नहीं मानते। वे कहते है कि ज्ञान से पहिले अनुभव का होना आवश्यक है और अनुभव इस प्रकार का होना चाहिए जो किसी समस्या या कठिनाई का हल ढूंढ़ने में सहायक हो। इसमें किसी क्रियात्मक प्रवृत्ति या प्रयोजन का समावेश होना आवश्यक है। इस प्रकार से प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही उपयोगी है। वह अनुभव जो सार्थक है वही ज्ञान है।

(६) ड्यूवी व्यक्ति के विकास के लिए सामाजिक वातावरण के माध्यम को ही सबसे महत्वपूर्ण समझते हैं। वे उचित सामाजिक वातावरण को ही व्यक्तित्व के विकास महान् साधन का समझते हैं।

ड्यूवी का शिक्षा-दर्शन[8]

ड्यूवी का शिक्षा दर्शन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसने शिक्षा सम्बन्धी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विचारधारा में क्रान्ति मचा दी। ड्यूवी महादेय ने प्रगति

---

1. Experimentalist, 2. A felt difficulty, 3. Locate and define difficulty, 4. Locate, coalate and organize information-classifying data, 5. Evaluation of hypothesis, 6. Applying the solution. 7. Knowledge for its own sake, 8. Educational philosophy of Dewey.

को एक नया अर्थ प्रदान किया। उनके अनुसार इसकी कोई सीमा या कोई अटल उद्देश्य नहीं अतएव एक व्यक्ति सदैव प्रगति के लिए आशावादी है। फ्रोबेल महादेय ने भी शिक्षा को प्रगति की एक सतत क्रिया माना था परन्तु उनके लिए प्रगति सीमित तथा पहिले ही पारिभाषित की हुई थी। इस दोष को ड्यूवीमहादेय ने दूर किया। विभिन्न-समय स्थान तथा स्थिति में विभिन्न आदर्शों तथा सत्यों एवं मूल्यों के होने से प्रगति का लक्ष्य भी विभिन्न होता जाता है। अतएव व्यक्ति प्रगति को किसी संकुचित दायरे में सीमित समझ कर उसे प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करेगा वरन् वह सदैव इस चेष्टा में रहेगा कि समयानुसार प्रगति करे और इस प्रकार सर्वदा प्रयत्नशील एवं प्रगतिशील रहेगा।

ड्यूवी महोदय ने शिक्षा को समाज की एक महत्वपूर्ण क्रिया माना। बिना शिक्षा के समाज का उत्थान संभव नहीं। समाज यदि उन्नति करना चाहता है तो सुसंगठित शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। वे सामाजिक वातावरण में शिक्षा देना ही ठीक समझते हैं। उनका विश्वास है कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति का विकास और समाज का उत्थान दोनों संभव हैं। इसके लिये व्यक्ति का विकास एक उचित सामाजिक वातावरण में होना आवश्यक है।

ड्यूवी अनुभव का पुनर्निर्माण शिक्षा द्वारा चाहते हैं। उनका कहना है कि हमारे अनुभवों में प्रति क्षण परिवर्तन आते रहते हैं। हमारे समक्ष नई समस्याएँ आती रहती हैं। हम उनका समाधान करने की चेष्टा करते हैं और बहुत सी उपस्थित वैकल्पिक[1] वस्तुओं में से किसी एक को जो उचित होती है, चुनते हैं। इस प्रकार हमारे विचारों में सदैव समस्या समाधान का दृष्टिकोण बना रहता है। शिक्षा की क्रिया समस्या समाधान में बहुत सहयोग प्रदान कर सकती है। तथा हमें पुनर्व्यवस्थापन[2] के हेतु तैयार करती है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रकार के अनुभव हमें प्राप्त हों और हममें समस्या समाधान की क्षमता आजाय तथा नये विचारों के अनुसार पुनर्व्यवस्थापन करने की कामना हो तो हमारे शिक्षित होने में कोई संदेह नहीं है। दूसरे प्रकार से हम कह सकते हैं कि शिक्षा से तात्पर्य अनुभव को विकसित, परिवर्तित और संशोधित करना है।"

शिक्षा से तात्पर्य

ड्यूवी महोदय शिक्षा को जीवन की एक आवश्यकता मानते हैं। वह यह कहते हैं कि शिक्षा बिना जीवन की प्रगति संभव नहीं है। परन्तु जीवन की प्रगति केवल अनुभवों के आधार पर ही हो सकती है। अतएव शिक्षा अनुभव की आत्मानुभूति द्वारा तथा अनुभव के लिए है।[3] हर एक नया अनुभव पुराने

1. Alternative. 2. Readjustment, 3. Education is of experence, through self experience and for experience.

अनुभव में रूपान्तर लाने या उसे ठुकरा देने को बाध्य करता है। नवीन मानदण्ड पुरातन मानदण्डों का स्थान ग्रहण करते रहते हैं। ड्यूवी के अनुसार शिक्षा एक ऐसी क्रिया है जो अनुभवों का नवनिर्माण तथा पुनर्संङ्गठन करती है।[1] यह पुन संङ्गठन तथा नवनिर्माण की क्रिया सदैव चलती रहती है।

हमने अभी बताया है कि शिक्षा द्वारा ही प्रगति संभव होती है। प्रगति से हमारा तात्पर्य यह है कि व्यक्ति में ऐसी आदतों और स्थायी भावों का निर्माण हो जो उसे वातावरण तथा अपनी मूल प्रवृत्तियों को जहाँ कहीं भी आवश्यक हो नियंत्रित रखने की क्षमता प्रदान करे। अतएव ड्यूवी शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार देते हैं **"शिक्षा व्यक्ति की उन सब योग्यताओं का विकास है जो उसमें अपने वातावरण पर नियंत्रण रखने की तथा अपनी संभावनाओं को पूर्ण करने की सामर्थ्य प्रदान करे।"**[2]

शिक्षा केवल समाजिक माध्यम द्वारा ही संभव है। व्यक्ति एक समाजिक प्राणी है। वह समाज में उत्पन्न होता है और इसी में जीवन व्यतीत करता है। उसकी योग्यताओं, रुचियों, चरित्र, आदतें, आचरण, भाषा, ज्ञान तथा रसास्वादन इत्यादि का विकास समाज के प्रभाव के अनुसार ही होता है। इसलिए हमें समाज के माध्यम को शिक्षा की क्रिया में सबसे महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिए। शिक्षा द्वारा ही बालक का विकास एक सामाजिक प्राणी के रूप में होता है।

समाज का अस्तित्व भी शिक्षा पर आधारित है। समाज के आचार-विचार परम्पराएँ, संस्कृति विश्वास इत्यादि शिक्षा द्वारा ही नई पीढ़ी को प्रदान किये जाते हैं। इस प्रकार वे जीवित बने रहते हैं और समाज का अस्तित्व भी बना रहता है। यदि शिक्षा न हो तो समाज का अन्त निश्चय ही है। इसी कारण ड्यूवी महोदय कहते हैं कि "जो भोजन ग्रहण तथा सन्तानोत्पादन की क्रिया शारीरिक जीवन के लिए कार्य करती हैं वही शिक्षा, सामाजिक जीवन के लिये कार्य करती है।"[3] इस प्रकार शिक्षा समाज का एक महत्वपूर्ण कार्य है और इसका उद्देश्य व्यक्ति का सामाजिक जीवन में भाग लेने योग्य बनाना होता है।

---

1. Dewey : "Education as a process involving continuoureconstruction and reorganization of experiences", 2. Develops ment of all those capacities in the individual which will enable him to control his environment and fulfil his possibilties.

3. Dewey : "What nutrition and reproduction are to the physiological life education is to social."

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा के दो प्रमुख अङ्ग होते हैं—(१) मनोवैज्ञानिक और (२) सामाजिक।

मनोवैज्ञानिक अंग से तात्पर्य है बालक की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों, मूल-प्रेरणाओं, मूल-शक्तियों इत्यादि पर ध्यान देते हुए शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करना। शिक्षा का आधार व्यक्तिगत रुचियाँ होना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार व्यक्तिगत विकास के अवसर प्रदान करना चाहिए।

समाजिक अंग से तात्पर्य ऐसी शिक्षा से है जो सामाजिक वातावरण में बालक को प्रदान की जाय और बालक को सामाजिक प्रगति में भाग लेने के योग्य बनाये। बालक के व्यक्तित्व का विकास सामाजिक वातावरण में सम्पन्न होना भी आवश्यक है। बालक का बौद्धिक विकास भी सामूहिक अनुभवों पर ही केन्द्रित होता है।

शिक्षा के उद्देश्य

ड्यूवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक की समस्त शक्तियों का विकास है। बालक की योग्यताएं, मूल शक्तियाँ इत्यादि का विकास शिक्षा द्वारा ही संभव है। परन्तु, क्योंकि हम पहले से ही यह कुछ निश्चित नहीं कर सकते हैं कि बालक की शक्तियों का विकास किस दिशा में होगा अतएव हमें शिक्षा का उद्देश्य तात्कालिक रखना होगा। शिक्षा का ध्येय पूर्व निश्चित नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक बालक अपनी रुचियों तथा योग्यताओं में दूसरों से भिन्न होता है। इस प्रकार शिक्षा का ध्येय वही होगा जो उस समय, स्थान, तथा स्थिति में बालक की स्वाभाविक शक्तियों का विकास करे।

शिक्षा के उद्देश्य के भी हम दो रूप में मान सकते हैं—(१)व्यक्तिगत, और (२)सामाजिक।

व्यक्तिगत रूप से शिक्षा का उद्देश्य दो प्रकार से बताया जाता है—(अ) व्यक्ति को मूल्यों तथा उन समस्याओं को निर्धारण करने में सहायता करना जो उसके लिए तत्कालिक महत्व के हैं, (ब) व्यक्ति को इस योग्य बनाना कि वह इन मूल्यों तथा अनुमानों की सत्यता को जांच इनका प्रयोगात्मक परीक्षण द्वारा कर सके।

सामाजिक रूप में शिक्षा का उद्देश्य है समाजिक कुशलता[1]। एक सामाजिक कुशल व्यक्ति वह है जिसमें ये विशेषताऐं हों—

(१) आर्थिक कुशलता[2] : जीवन यापन की योग्यता।

---

1. Social efficiency, 2. Economic efficiency,

(२) नास्तयात्मक नैतिकता[1] : अपनी उन कामनाओं तथा इच्छाओं को छोड़ देना जिनको संतुष्ट करने से दूसरो की आर्थिक कुशलता में बाधा पड़े।

(३) स्वीकारात्मक नैतिकता[2] अपनी उन कामनाओं और इच्छाओं को सन्तुष्ट होने से रोक देना जिनके सन्तुष्ट होने से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से सामाजिक प्रगति संभव नहीं है।

ड्यूवी के अनुसार सामाजिक कुशलता सामाजिक प्रतिक्रियाओं में भाग लेने तथा सामूहिक कार्यक्रम द्वारा अनुभवों से प्राप्त की जा सकती है।

शिक्षा का पाठ्यक्रम[3]

ड्यूवी के पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचार उसके शिक्षा-दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने प्रचलित पाठ्यक्रम की आलोचना की और नवीन सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया। ये सिद्धान्त शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त करने के दृष्टिकोण से निर्धारित किए गये थे। अब हम इन सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे।

(१) ड्यूवी पाठ्यक्रम में लचीलेपन[4] को बहुत महत्व देते हैं। वह कहते हैं कि पाठ्यक्रम का निर्धारण पहले से नहीं किया जा सकता। हम पाठ्यक्रम को पहिले से ही निश्चित करके प्रत्येक बालक से उसके अनुसार कार्य करने को नहीं कह सकते क्योंकि इस प्रकार उसकी योग्यताओं तथा रुचियों का विकास संभव नहीं है।

(२) ड्यूवी महोदय यह भी नहीं चाहते कि पाठ्यक्रम को विषयों की कोठरियों में बन्द किया जाय क्योंकि इस प्रकार शिक्षा केवल विभिन्न विषयों का स्मरण ज्ञान मात्र ही बनकर रह जाती है और बालक के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। ज्ञान का अर्जन अनुभवों पर केन्द्रित होना चाहिए और अनुभवों को प्रदान करने में बन्द कोठरियों में विषयों के आधार पर निर्धारित पाठ्यक्रम असफल रहेगा। वे चाहते है कि विभिन्न विषयों में समन्वय हो और समन्वय के आधार को सामने रखकर ही पाठ्यक्रम का निर्धारण हो क्योंकि समन्वय ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो बालक को सम्यक् अनुभव प्रदान करने में सहायक होता है।

(३) ड्यूवी के तीसरे सिद्धान्त के अनुसार पाठ्यक्रम का आधार सामाजिक अनुभव होना चाहिए। बौद्धिक विकास सामाजिक वातावरण में ही संभव है। अतएव यदि हम मन और बुद्धि का विकास करना चाहें तो हमें सामाजिक अनुभवों की महत्ता से समझना चाहिए।

---

1. Negative Morality. 2. Positive Morality. 3. Curriculum, 4. Flexible curriculum.

(४) पाठ्यक्रम का स्वरूप बालक की मूल प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों, रुचियों इत्यादि को ध्यान में रखकर निर्धारित करना चाहिए। यह वर्तमान अनुभवों को ध्यान में रखकर निर्मित होना चाहिए। पूर्व अनुभवों द्वारा इसके निर्धारण करने में पथ-प्रदर्शन होना चाहिए। उचित क्रियाओं और समस्याओं को पाठ्यक्रम द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए जिससे पूर्व संचित अनुभवों में तथा पूर्वार्जित ज्ञान में वृद्धि हो। क्योंकि प्रत्येक बालक दूसरे से विभिन्न है अतएव अध्यापक को इस प्रकार से पाठ्यक्रम का निर्धारण करना चाहिए जिससे प्रत्येक बालक को सम्यक् अनुभव प्राप्त हो।

(५) ड्यूवी महोदय विषयों या अनुभवों को उनके महत्व के क्रम में रखना ठीक नहीं समझते। उनका कहना यह है कि कोई भी अनुभव या विषय जो जीवन को पूर्ण बनाने मे योगदान दे वह बालक के पाठ्यक्रम में अनिवार्य रूप से सम्मिलित होना चाहिए। परन्तु वह पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहते हैं कि वह कार्य जो मानव जीवन के लिए मूल रूप से महत्वपूर्ण हैं; जैसे खाना, कपड़ा, घर वे सब कार्य जो जीवनयापन तथा औद्योगिक विकास में आवश्यक हैं उनका आयोजन पहले होना चाहिए और उसके पश्चात् वे कार्य होने चाहिए जो व्यक्ति को सभ्य बनाने में आवश्यक है।

(६) ड्यूवी महोदय पाठ्यक्रम के निर्धारण करने में कला-कौशल को भी महत्व देते हैं कला को वह व्यक्तित्व विकास में मूल शक्ति के रूप में मानते हैं। व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में बालक को जो सृजनात्मक अनुभवो की प्राप्ति होती है, इससे उसमें कला-कौशल के प्रति अनुभूति का जागरण होता है।

(७) नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा को अलग विषयों के रूप में पढ़ाना वे अच्छा नहीं समझते वरन वे कहते हैं कि उद्देश्यपूर्ण क्रियाओं और सामूहिक कार्यक्रम में भाग लेने से बालकों में उनका विकास हो जाता है।

विद्यालय का स्वरूप

ड्यूवी के विद्यालय सम्बन्धी विचारों को शिक्षा के क्षेत्र में बहुत महत्व दिया जाता है। उन्होंने विद्यालय को समाज का एक महत्वपूर्ण अंग माना और यह चेष्टा की कि विद्यालय और समाज के बीच में जो वर्तमान समय में एक खाई खड़ी हो गई है उसको भर दिया जाय। उन्होंने अपने समय के विद्यालयों को दोषपूर्ण बताया और उनके नव संगठन पर बल दिया। उनके अनुसार विद्यालयों का समय के साथ न बदलना ही उनका एक बड़ा भारी दोष है। उन्होंने देखा कि उनके समय में समाज में अनेकों परिवर्तन आ

गये थे। समाज औद्योगिक विकास के कारण तथा प्रतिदिन के वैज्ञानिक आविष्कारों से प्रभावित होकर परिवर्तित हो गया था और नवीन परिवर्तन प्रतिदिन होते ही जा रहे थे परन्तु विद्यालयों में पूर्व परम्परा का ही बोलबाला था। विद्यालय सामाजिक परिवर्तन के प्रति उदासीन थे। वे घर तथा समाज के वातावरण से बहुत दूर थे। बालक के सामाजिक विकास की ओर उनमें कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। सामूहिक कार्यों का आयोजन नहीं था। पुस्तकीय शिक्षा पर ही विशेष बल था सक्रिय शिक्षा का नाम मात्र भी न था। अतएव उन्होंने विद्यालयों को इस प्रकार से संगठित करने पर बल दिया जिससे ये दोष दूर हो जायँ। उन्होंने सक्रिय विद्यालय[1] के विचार को प्रतिपादित किया। ड्यूवी महोदय के अनुसार विद्यालय की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार है :—

(१) विद्यालय एक ऐसी संस्था है जहाँ जाति द्वारा अर्जित ज्ञान और कला नयी पीढ़ी को संक्रमित की जाती है।

(२) विद्यालय द्वारा सामाजिक प्रगति तथा समाज कल्याण की चेष्टा की जाती है। यहाँ एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया जाता हैं जो वृहत समाज के सदृश्य होता है। परन्तु यह रूप वृहत समाज का आदर्श तथा लघु रूप होता है। विद्यालय उन सब क्रियाओं को जो समाज के लिये उपयोगी है और समाज में दृष्टिगोचर होती हैं लघु रूप में प्रस्तुत करता है।

(३) विद्यालय में व्यक्तिगत विकास पर बल दिया जाता है। परन्तु यह विकास सामाजिक वातावरण के अन्तर्गत ही होता है। विद्यालय मे बालक को विभिन्न अनुभव प्रदान किये जाते हैं, जिनको प्राप्त करके उसके व्यक्तित्व का विकास होता है जो उसे सामाजिक प्रगति में सहयोग प्रदान करने योग्य बनाता है। बालकों को मिल-जुलकर रहना और सहयोग की भावना को अपनाना सिखाया जाता है।

(४) विद्यालय और गृह जीवन कोई विशेष अन्तर नहीं होता। विद्यालय घर के जीवन के आधार पर ही शैक्षिक क्रियाओं का आयोजन करता है। विद्यालय में बालक उसी रुचि के साथ जाता है जो उसे घर के वातावरण में होती है। विद्यालय के सारे वातावरण में उसी प्रकार का सहयोग, उसी प्रकार का प्रेम, सहानुभूति और रोचक कार्यक्रम का समावेश होता है जो घर के वातावरण में पाया जाता है। विद्यालय मे उन क्रियाओं को प्रोत्साहित किया जाता है जिनका प्रारम्भ घर से होता है।

---

1. Activity school.

(५) विद्यालयों में बालकों को व्यावसायिक शिक्षा भी दी जाती है। यह शिक्षा समाज के कार्यों के अनुरूप होती है। व्यावसायिक शिक्षा इस प्रकार की होती है कि बालक का सामाजिक तथा व्यक्तिगत विकास हो सके। विद्यालय के सम्बन्ध में ड्यूवी के विचार संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते है कि पाठशाला समाज का लघु रूप है। जैसे समाज का स्वरूप बदलता रहता है वैसे ही विद्यालय के स्वरूप में भी परिवर्तन आना चाहिए। सामाजिकता की भावना का यहाँ विकास होना चाहिए। यह ऐसा स्थान है जहाँ बालक का व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकास होता है। ड्यूवी प्रजातन्त्र के विकास को शिक्षा के एक उच्च उद्देश्य के रूप में मानते है। प्रजातन्त्र का विकास उसी समय सभव है जब उसकी उचित शिक्षा दी जाय। यह प्रशिक्षण विद्यालयों में ही दिया जा सकता है। इसके लिए विद्यालयों में जनतन्त्रीय वातावरण की आवश्यकता है। इसके लिए यहाँ बालकों को नागरिकता की शिक्षा दी जानी चाहिए।

ड्यूवी के अनुसार अनुशासन

ड्यूवी अनुशासन को विद्यालय के सामाजिक वातावरण द्वारा स्थापित करना चाहते है। उनके अनुसार यदि सामाजिक जीवन का आयोजन अच्छे प्रकार से होगा तो अनुशासन की समस्या का हल हो जायगा। स्कूल के कार्य-क्रम में सामूहिकता की भावना के विकास का आयोजन अनुशासन पर प्रभाव डालता है। सामूहिक कार्यक्रम बालक के मूल आवेगो में सुधार लाते है। इस प्रकार अनुशासन सामाजिक जीवन पर आधारित होता है।

ड्यूवी महोदय इस बात में आस्था रखते है कि अनुशासन शैक्षिक क्रिया में अधिक कुशलता लाने का साधन होता है। अनुशासन साध्य नहीं है। यह तो अधिक व्यक्तिगत तथा सामाजिक कुशलता प्राप्त करने का एक माध्यम है। अतएव विद्यालय में अनुशासन का उद्देश्य यह होना चाहिए कि यह बालकों में इस प्रकार की आदते, रुचियाँ और आदर्शों का सृजन करे जिससे व्यक्तिगत तथा सामाजिक कुशलता की प्राप्ति हो। यह विद्यालय में सामूहिक क्रियाओं के आयोजन द्वारा ही सम्भव है। ड्यूवी कक्षा के कार्य में शान्ति और व्यवस्था के विरोधी नहीं हैं परन्तु उनका विचार है कि यदि कक्षा का कार्यक्रम इस प्रकार का है कि बालक की रुचियों और स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विकास को उचित स्थान मिलता है तो अनुशासन की समस्या उत्पन्न ही नहीं होगी।

अध्यापक का स्थान

ड्यूवी शैक्षिक प्रक्रिया में रूसो के सिद्धान्त के विरोधी हैं। वे अध्यापक को अपनी शिक्षा प्रणाली में एक महत्वपूर्ण स्थान देते हैं तथा अध्यापक को सुन्दर सामाजिक जीवन को निर्मित करने का मुख्य अंग मानते हैं। अध्यापक को समाज के हित की दृष्टि से ईश्वर का प्रतिनिध मानते हैं। शिक्षक शैक्षिक प्रक्रिया के ड्रामे का कलाकार न होकर ड्रामे का संयोजक होता है। वही उचित वातावरण का निर्माण करता है और फिर उस वातावरण में बालकों को जो कलाकार की तरह होते है विकास के लिए छोड़ देता है परन्तु उसका नियंत्रण कभी भी ढीला नहीं पड़ता।

ड्यूवी अध्यापक को एक व्याख्यानदाता के रूप मे नहीं मानते। उनका मत है कि अध्यापक को उपदेश नहीं देने चाहिए और बालकों पर अपनी आज्ञाएँ नहीं थोपनी चाहिए। उसे अपने व्यक्तित्व की शक्ति द्वारा उनकी गति-विधि का अवदमन नही करना चाहिए। उसका सच्चा कार्य है योजना नायक, पथप्रदर्शक तथा निरीक्षक का[1]।

ड्यूवी का शिक्षा-प्रक्रिया पर प्रभाव

ड्यूवी की दार्शनिक विचारधारा ने शिक्षा—प्रक्रिया पर गहरा प्रभाव डाला है। उन्होंने फ्रोबेल और रूसो के शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण में जो दोष थे उन्हें बहुत कुछ दूर किया। उनकी विचारधारा के आधार पर शिक्षा में सक्रियतावाद का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और ऐक्टीविटी स्कूल[2] खोले गये। विभिन्न शैक्षिक प्रक्रिया के अंगों पर जो उनकी विचारधारा का प्रभाव पड़ा उसे हम निम्नलिखित ढंग से व्यक्त कर सकते है।

(१) विद्यालय के कार्यों में समाज के परिवर्तन के अनुकूलित परिवर्तन लाना अच्छा समझा जाने लगा।

(२) विद्यालय को समाज का लघु रूप समझा जाने लगा। स्कूल के वातावरण को सरल एवं आदर्श रूप से सामाजिक वातावरण का प्रतिबिम्ब समझा जाने लगा।

(३) बालक के अनुभव के आधार पर शिक्षा देना अच्छा समझा जाने लगा।

(४) विद्यालय को समाज की प्रगति एवं उत्थान का साधन माना जाने लगा।

---

1. He is a planner, guide and judge, 2. Activity schools.

(५) शिक्षा को नया अर्थ प्रदान किया गया। इसे अनुभवों का नवनिर्माण और पुनर्संङ्गठन के रूप में देखा जाने लगा।

(६) बालक की शिक्षा में व्यक्तिगत रुचियों और योग्यताओं के आधार पर बल दिया गया।

(७) शिक्षा को सक्रियता प्रदान की गई।

(८) शिक्षा देने में हस्तकला इत्यादि को प्रधानता दी गई।

(९) विद्यालयों में ऐसी शिक्षा पर बल दिया जाने लगा जो बालकों में सामाजिक भावना का विकास करे। वहाँ सामूहिक कार्यक्रम को प्रोत्साहन देना अच्छा समझा जाने लगा।

(१०) विद्यालयों का कार्य जनतन्त्र की भावना का विकास भी समझा जाने लगा।

(११) शिक्षा के उद्देश्य और पाठ्यक्रम पर नवीन दृष्टिकोण से विचार होने लगा।

(१२) अध्यापक का स्थान महत्वपूर्ण माना जाने लगा।

(१३) बालक की मूल रुचियों के अनुसार शिक्षा दी जाने पर अनुशासन की समस्या का स्वतः हल प्राप्त होना संभव समझा जाने लगा।

(१४) सीखने की क्रिया सफलता पूर्वक सम्पन्न होने के लिए चिन्तन को प्रोत्साहित करना अच्छा समझा जाने लगा क्योंकि चिन्तन द्वारा ही सीखना होता है।

(१५) शिक्षण-प्रणाली में प्रयोजन विधि को अच्छा समझा जाने लगा। समन्वय का सिद्धान्त महत्वपूर्ण माना गया।

ड्यूवी के दर्शन की आलोचना

ड्यूवी के शिक्षा-सिद्धान्त की आलोचना हम इस प्रकार कर सकते हैं:—

(१) ड्यूवी का दर्शन ऐसे प्रश्नों की अवहेलना करता है; जैसे—"ब्रह्म क्या है ? आत्मा क्या है ? ब्रह्माण्ड का निर्माता कौन है इत्यादि।" परन्तु ये प्रश्न सदैव हमारे सम्मुख रहते हैं और जब हम उनका उत्तर देने में असमर्थ रहते हैं तो हममें असुरक्षा की भावना का विकास हो जाता है।

(२) उनका विचार कि कोई सिद्धान्त सदैव सत्य नहीं दोषपूर्ण है क्योंकि यदि हम उनके इस सिद्धान्त को सत्य मानलें तो उनके दर्शन को हर परिस्थित में सत्य न मानने को बाध्य हो जायेगें। इसके अतिरिक्त सदैव एक उपयोगिता ही सत्य नहीं है, बहुत सी ऐसी अनुपयोगी वस्तुएं भी हैं जो सत्य हैं।

(३) ड्यूवी महोदय उपयोगिता पर अधिक बल देते है जिससे उनकी विचार धारा हमें पदार्थबाद के निकट ले जाती है। यह भावना ही संसार में कलह, ईर्ष्या, निर्दयता इत्यादि जैसी गन्दी प्रवृत्तियों की जन्मदायत्री है। कला, साहित्य सौन्दर्य का रसास्वादन, इत्यादि को शिक्षा में गौण स्थान प्राप्त होता है। अतएव मानसिक शान्ति का विनाश हो जाता है और मन उपयोगी की तलाश में ही घूमता फिरता है।

(४) ड्यूवी महोदय जाति के अनुभवों को कोई महत्ता प्रदान नहीं करते। उनके अनुसार हर व्यक्ति को अपने लिए स्वतः मूल्य निर्धारण करना चाहिए। परन्तु एक साधारण व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं। वह तो दूसरों के विचारों पर तथा दूसरों द्वारा मान्य आचरण की सरणियों पर चलना ही उचित समझता है।

(५) नैतिकता के प्रति कोई संतोषजनक विचार ड्यूवी महोदय नहीं प्रस्तुत कर पाये हैं। उनकी विचारधारा अच्छे को बुरे से पहिचानने के उचित साधन को निर्धारण करने मे असफल है।

(६) वह विद्यालय को समाज का लघु रूप मानते हैं। परन्तु यदि यह समाज का लघु रूप है तो समाज की प्रगति में यह कोई सहयोग प्रदान नहीं कर सकता।

(७) ड्यूवी ज्ञान को प्राप्त करने का केवल एक साधन मानते हैं। वह साधन है प्रत्यक्ष अनुभव। परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ही सब ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। पुस्तक, व्याख्यान, विवेचन इत्यादि द्वारा भी बहुत सा लाभदायक ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

(८) ड्यूवी के पाठ्यक्रम में शारीरिक शिक्षा, सन्तान के पालन पोषण की शिक्षा इत्यादि का कोई स्थान नहीं है।

(९) वह अवकाश के समय की शिक्षा को भी कोई महत्व नहीं देते।

(१०) वह शिक्षा का कोई पूर्व निर्धारित उद्देश्य नहीं मानते। वह शिक्षा को स्वयं जीवन समझते है। परन्तु उनके विरोधी कहते हैं कि शिक्षा में किसी न किसी उद्देश्य का होना आवश्यक है। बिना उद्देश्य के शिक्षा सुचारु रूप से नहीं दी जा सकती।

(११) शिक्षा प्रत्येक बालक की स्वाभाधिक रुचि और योग्यता के अनुसार नहीं दी जा सकती क्योंकि इस प्रकार से शिक्षा देने के लिए प्रत्येक बालक के लिए एक अलग शिक्षा-योजना का संगठन करना पड़ेगा; यह कार्य नितान्त दुष्कर है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि ड्यूवी महोदय के विचारों की आलोचना

तो की जाती है परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी विचारधारा ने शिक्षा के क्षेत्र में एक आन्दोलन खड़ा कर दिया है। उनकी महानता में कोई सन्देह नही। उनकी शैक्षिक विचार धारा का प्रभाव वर्तमान काल की शिक्षा पर किसी भी अन्य शिक्षा शास्त्री से कहीं अधिक है।

प्रयोजनवाद का दर्शन

प्रयोजनवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि "**अनुभव ही सब वस्तुओं की वास्तविक परीक्षा है।**[1] **और सत्य वह है जो अपने आप को उत्तम सिद्ध कर दे।**" तात्पर्य यह है कि किसी भी सिद्धान्त की सत्यता या विश्वसनीयता इस बात पर निर्भर है कि अभ्यास में उसका क्या प्रभाव होगा। प्रयोजनवादी अमूर्त वस्तुओं, चिरन्तन सिद्धान्तों और पूर्णता एवं उत्पत्ति में विश्वास नहीं करते।[2] वे तथ्यों के उसी रूप पर विश्वास करते हैं जिस रूप में वे हैं। वे कार्य तथा शक्ति में आस्था रखते हैं। वे यथार्थता को सतत् निर्मित होने वाली क्रिया के रूप में मानते हैं। उनके लिये यथार्थता गतिशील है, स्थिर नहीं। वे समझते है कि सत्य का सदैव निर्माण होता रहता है और कभी भी पूर्ण रूप से इसको नहीं जाना जा सकता। अतएव प्रयोजनवाद दर्शन के मुख्य तत्वों को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं:—(१) सत्य परिवर्तनशील है, (२) उपयोगिता की कसौटी पर मूल्यों तथा आदर्शों इत्यादि की परख होनी चाहिए, (३) किसी भी सत्य को उस समय तक अङ्गीकार नहीं करना चाहिए जब तक उसकी परीक्षा न हो जाय, तथा (४) सामाजिक जीवन महत्वपूर्ण है।

शिक्षा में प्रयोजनवाद

प्रयोजनवाद के प्रवर्त्तकों के इस दृष्टिकोण ने शिक्षा पर सबसे अधिक प्रभाव डाला है। प्रयोजनवादी कार्य को मुख्य और विचार को गौण मानते हैं। उनके लिये ज्ञान कार्य करने की प्रस्तावना है। ज्ञान स्वयं में अपूर्ण है जब तक कि इस ज्ञान को कार्यन्वित न किया जाय। इस प्रकार प्रयोजन वादी सिद्धान्तों के प्रयोगात्मक रूप पर सैद्धान्तिक रूप की अपेक्षा अधिक बल देते हैं। हम यहाँ पर शिक्षा के उन विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डालेंगे जिन पर प्रयोजनवाद का प्रभाव पड़ा है।

शिक्षा के लक्ष्य

प्रयोजनवादी यह समझते हैं कि शिक्षा सदैव सामाजिक अथवा 'मानव

1. Experience is the real test of all things, 2. The pragmatist turns away from abstraction, from fixed principles and from pretended absolutes and origins.

केन्द्रित[1] होनी चाहिये। शिक्षा के सामाजिक ध्येय का अभिप्राय एक अच्छा सुसंगठित वातावरण तैयार करना माना जा सकता है।[1] इस ध्येय को प्राप्त करने के लिये विज्ञान की जानकारी नितान्त आवश्यक है। वैज्ञानिक विधियों को सामाजिक व्यवस्था की उन्नति[2] के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। अतएव शिक्षा का सामान्य ध्येय अपनी प्रकृति में वैज्ञानिक तथा सामाजिक दोनों हैं।

प्रयोजनवादी शिक्षा का उद्देश्य पहले से निश्चित करने के विरुद्ध हैं। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक के अनुभवों के आधार पर निर्धारित होना चाहिए। बालक को ऐसा वातावरण प्रदान किया जाये जो उसके मस्तिष्क को क्रियाशील एवं गत्यात्मक बना दे क्योंकि तभी बालक नवीन आदर्शों और सत्यों के निर्माण में सफलता प्राप्त कर सकता है। रॉस महोदय इस सम्बन्ध में कहते हैं कि "प्रयोगवादी शिक्षा का सामान्य उद्देश्य नवीन मूल्यों की रचना करना है तथा शिक्षक का मुख्य कर्त्तव्य शिक्षार्थी को ऐसे वातावरण में रखना है जिसमें रहकर उसमें नवीन मूल्यों का विकास हो सके।[3]

ड्यूवी महोदय सामाजिक निपुर्णता[4] को शिक्षा का ध्येय मानते हैं। सामाजिक निपुणता से उनका तात्पर्य है "हर प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के विविध रूपों से मधुर सम्बंध बनाये रखने की बहुमुखी कुशलता"[5]। प्रयोजनवादी व्यापक रूप में सामाजिक कुशलता के ध्येय तथा सांस्कृतिक उद्देश्यों में समानता समझते हैं। किन्तु यदि सूक्ष्म रूप से इस पर दृष्टिपात किया जाय तो इन दोनों उद्देश्यों में अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ेगा।

विद्यालय

प्रयोजनवादी विद्यालय को एक सामाजिक संस्था के रूप में देखते हैं। वे शिक्षा को सबसे प्रथम एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में मानते हैं यह शिक्षा ही है जिसके द्वारा समाज अपने आपको नवीन रूप प्रदान करता है और यह समाज ही है जो अपने सदस्यों की शिक्षा के लिये मार्ग तथा साधन निर्धारित करता है।

---

1. Butler : "The social objective of education may be concieved as a better organized environing world, 2. Improvement of social order.

3. Ross : Ground work of Educational theory, p. 136, "The most general educational aim of the pragmatist is just the creation of new values, the main task of the educator is to put the educand into position to develop values for himself, 4. Social efficiency, 5. Many sided effectiveness in maintaining social relations of all kinds.

यदि समाज सरल होता तो सामान्य अभिकरणों[1] द्वारा भी इसके सदस्यों को शिक्षा मिल सकती थी। परन्तु इसकी जटिलता के कारण विद्यालय जैसे सविधिक साधन की आवश्यकता है। विद्यालय की स्थापना के निम्न-लिखित हेतु दिये जा सकते हैं :—(१) विद्यालय नवीन पीढ़ी के लिये सीखने का उपयुक्त आयोजन करता है। अविधिक साधनों द्वारा या समाज में रहकर बालक ज्ञान को अर्जित कर सकते हैं परन्तु यह ज्ञान अपूर्ण तथा खण्डित होगा। बालकों को इससे अधिक सीखने की आवश्यकता होगी और इसके लिये विद्या-लयों का स्थापित होना आवश्यक है। (२)आधुनिक जीवन इतना जटिल होगया है कि केवल वे वस्तुएँ जो पास हैं उनकी तो बात ही क्या, दूर-दूर एक दूसरे से भिन्न देशों में रहने वालों की संस्कृति का प्रभाव भी एक दूसरे पर बहुत अधिक है। विद्यालय एक ऐसा स्थान है जहाँ विभिन्न देशीय अनुसंधान तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बालकों को परिचित कराया जाता है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक दाय विद्यालयों के बिना नई पीढ़ी को हस्तान्तरित नहीं हो सकती है। अतः विद्यालय जैसे साविधिक साधन की आवश्यकता है। (३)विद्यालय आवश्यक है क्योंकि पूर्वकालीन दाय जो कुछ भी उपलब्ध है वह लिखित रूप में ही है और इस कारण बालकों को भाषा पर अधिकार होना चाहिए ताकि वे इसका उपयोग कर सकें। भाषा शिक्षण की आवश्यकता की पूर्ति पाठशाला द्वारा ही होती है।(४) समाज अपनी महान् संस्था पाठशाला की सहायता से ही अपने कार्य को सम्पन्न करता है। क्योंकि विद्यालय समाज का एक साधन है इस कारण उसे समाज से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। (४) वास्तव में विद्यालय बालक के लिये समाज का एक सरलतम रूप है। इसी के कारण उसके द्वारा सीखना संभव है। वह समाज के उन्हीं रूपों से सम्बन्ध रखता है जो उचित हैं। वे रूप जो बालक पर बुरे प्रभाव डालने वाले होते है उन्हें त्याग देना है (५)यह बालक को संतुलित और उपयुक्त साहचर्य समाज के साथ देता है। यह वर्ग या जाति-भेद को प्रोत्साहित नहीं करता। (६) ड्यूवी महोदय का कथन है कि आज का समाज स्पष्ट रूप से अपनी आवश्यकताओं से चेतना भूत नहीं है। इस चेतनावस्था में विद्यालय इसकी सहायता करता है। स्कूल व्यक्तियों को स्पष्ट तथा संगठित रूप से वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं से परिचित कराता है। तथा किस प्रकार से उन आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है उससे भी अवगत कराता है। विद्यालय को उन आदर्शों को प्रस्तुत करना चाहिये जो समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में साधन हों। वस्तुतः ये आदर्श समाज से ही उत्पन्न होते हैं।

---

1. Agwcies.

सीखने की प्रयोजनवादी विधि[1]

प्रयोजनवादी प्रयोगात्मक विधि को सीखने की उत्तम पद्धति मानते हैं। उनका मत है कि वह विधि जिसके द्वारा व्यक्ति सीखता है वह उसी प्रकार की है जिस प्रकार विचार की विधि। क्योंकि प्रयोगात्मक विधि विचार की विधि है। इस कारण यह सीखने की भी पद्धति है।

शिक्षा की पद्धति

ड्यूवी महोदय का कथन है कि शिक्षा पद्धति उस मार्ग की अभिव्यंजना है जिसके द्वारा किसी अनुभव की विषय वस्तु का विकास सबसे अधिक प्रभावशाली और लाभदायक ढंग से होता है।[2] अतएव विधि को सीखने वाले के अनुभवों से प्रथक नहीं किया जा सकता। प्रयोजनवादी ऐसी विधि को अच्छा मानते हैं जो सीखने वाले के अनुभव तथा क्रिया पर निर्भर होती है। वे आत्म-शिक्षा, खेल द्वारा शिक्षा तथा रचनात्मक आत्माभिव्यक्ति पर बल देते हैं। उनकी विधि में न अध्यापक द्वारा व्याख्यान की आवश्यकता है न पुस्तकीय ज्ञान की। ड्यूवी महोदय कहते हैं कि "व्यक्ति के सम्मान को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट वादिता प्रगतिशील बुद्धि वास्तविक रुचि, स्वतन्त्र विचार धारा, उद्देश्यों की एकरूपता तथा अपने कार्यों एवं विचारो के प्रति उत्तरदायी भावना, सीखने की इच्छा आदि अच्छी विधि के गुण कहे जा सकते हैं।" ड्यूवी महोदय के ये विचार एक नवीन शिक्षा पद्धति प्रयोजन प्रणाली के आधार शिला बन गये हैं ड्यूवी का विचार है कि शिक्षा द्वारा बालकों में समस्या हल करने की प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए। उनका कहना है कि सीखने की विधि चिंतन करने की विधि के समान है। उहोंने अपनी पुस्तक "हाउ वी-थिंक"[3] में लिखा है कि विचार उस समय उत्पन्न होता है जब कोई उद्दीपक विचार करने का कारण उत्पन्न कर देता है। एक व्यक्ति उस समय तक चिन्तन नहीं करता जब कि उसकी क्रिया में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। जैसे ही कोई बाधा पड़ती है, चिन्तन आरम्भ हो जाता है। इस कारण चिन्तन के लिए एक समस्या या एक कठिनाई का होना नितान्त आवश्यक है। यह चिन्तन की क्रिया का प्रथम स्तर है। उनका विचार है कि सीखने की क्रिया का प्रथम स्तर भी एक बालक की आवश्यकताओं और रुचियों के अनुसार

---

1. Pragmatic method of learning, 2. Dewey, Democracy and Education, p. 211 : "Method is a statement of the way the subject matter of an experience develops most effecitvely and fruitfully, 3. How we think.

समस्यात्मक स्थिति का उत्पन्न करना है। दूसरे स्तर पर कठिनाई के मूल कारण का पता चिन्तन द्वारा लगाया जाता है। इस स्तर की भाँति शिक्षा में जो स्तर है वह है आवश्यक प्रदतों का इकट्ठा करना तथा उनके आधार पर एक सम्भव अनुमान का निर्धारित करना जो सम्भव हल की ओर ले जाय। तीसरे स्तर में हल एक-एक करके प्राप्त किये जाते हैं। सीखने की स्थिति में समस्या का हल 'त्रुटि एवं प्रयास विधि' द्वारा निकाला जाता है। वे हल जो अनुचित प्रतीत होते हैं उन्हें छोड़ दिया जाता है। चौथी अवस्था में मानसिक स्तर पर विभिन्न हलों की विवेचना की जाती है और जो सबसे अधिक उपयुक्त हल होता है उसे प्रयोग में लाया जाता है। यह सीखने में सामान्यीकरण का स्तर है। अंत में पाँचवें स्तर पर वे हल जो प्रयोग द्वारा उचित सिद्ध होते हैं उन्हें ग्रहण कर लिया जाता है और वह हल जो अनुपयुक्त सिद्ध होता है त्याग दिया जाता है। इस स्थिति में प्रयोग फिर से आरम्भ होता है तथा सीखने में यह स्तर प्रयोग का स्तर है।

पाठ्यक्रम[1]

आधुनिक प्रयोजनवादियों के पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचार प्राचीन प्रयोजनवादियों से भिन्न हैं। वे इस बात में विश्वास नहीं करते कि बालक को उसकी छोटी आयु से ही बहुत से विषयों का अध्ययन कराया जाय। वे उस विशेषीकरण के भी विरोधी हैं जो आजकल स्कूलों में प्रथमावस्था से ही आरम्भ हो जाता है। उनका कहना है कि पाठ्यक्रम बालक के सामाजिक जीवन और उसके कार्यों पर आधारित होना चाहिए। यह बालक की आवश्यकताओं और उपयोगिताओं पर निर्भर होना चाहिए। हर एक बालक के लिए एक ही प्रकार का पाठ्यक्रम होना आवश्यक नहीं है। इसका नियोजन बिना बालक की ओर ध्यान दिए, नही हो सकता। ड्यूवी का विश्वास है कि पाठ्यक्रम एक प्रारम्भिक पाठशाला में निम्नलिखित चार प्रकार की रुचियों पर ही निर्भर होना चाहिए—(१) बातचीत तथा व्यवहार में रुचि,[2] (२) जाँच-पड़ताल मे रुचि,[3] (३) निर्माण में रुचि,[4] और (४) कलात्मक अभिव्यक्ति में रुचि।[5]

पाठ्य-क्रम सम्बन्धी अन्य सिद्धांत जिसके अनुसार पाठ्यक्रम नियोजन होना चाहिए, वह, यह है कि पाठ्यक्रम को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए उसे शैक्षिक

---

1. Curriculum. 2. Interest in conversation and communication, 3. Inte- rest in inquiry, 4. Interest in construction, 5. Interest in artistic expression.

अनुभवों से संगठित करना चाहिए तथा उन समस्याओं का भी समावेश करना चाहिए जो यथार्थ जीवन के कार्यों से उद्भूत होती हैं।[1] वे अनुभव जो बालक को मिल चुके हैं उन्हें नये विचार तथा नये ज्ञान को प्राप्त करने की उत्तेजना प्रदान करनी चाहिए।

ड्यूवी महोदय का कथन है कि ज्ञान का मूल्य बालक की आवश्यकताओं में उसकी उपयोगिता के आधार पर निर्धारित होना चाहिए। 'ज्ञान केवल ज्ञान के लिए' का प्रचार तथ्य रहित एवं सारहीन सिद्धान्त है तथा इसका प्रयोग पाठ्यक्रम के चुनाव में नहीं अपनाना चाहिए।

वे विषय जो पाठ्यक्रम में सम्मिलित किये जायें ऐसे होने चाहिए जो बालक में आलोचनात्मक विचार तथा तर्कशक्ति का विकास करें। उन विषयों को आपस में एकरूपता तथा सहसम्बद्धता भी होनी चाहिए। विषय विभिन्न शिक्षा के रूप में न लेकर एक पूर्णरूप में समझना चाहिए जो बालक के जीवन को समृद्ध बनाने के लिए साधन हो। अतएव हम प्रयोजनवाद के अनुसार चार प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कर सकते हैं जिनके आधार पर पाठ्यक्रम का नियोजन होना चाहिए—(१) उपयोगिता का सिद्धान्त, (२) बालक की स्वाभाविक अभिरुचियों का सिद्धान्त, (३) बालक की क्रियाओं एवं अनुभवों के आधार का सिद्धान्त, तथा (४) सानुबन्धिता का सिद्धान्त।

अध्यापक का स्थान[2]

प्रयोजनवादी शिक्षा में अध्यापक के महत्व को कम नहीं समझा जाता। क्योंकि एक कुशल अध्यापक के विवेकपूर्ण एवं सुसंगठित दृष्टिकोण द्वारा भी सम्भव होगा कि बालक में सामाजिक आदतों का निर्माण हो। अध्यापक को शैक्षिक प्रक्रिया का कुशलता से पथ प्रदर्शन करना होता है। अतः उसका व्यवहार-कुशल, कुशाग्र बुद्धि एवं निपुण होना नितान्त आवश्यक है।

अनुशासन की समस्या

प्रयोजनवादी अनुशासन के सामाजिक रूप पर अधिक बल देते हैं। वे उस अनुशासन के विरोधी हैं जो ताड़ना अथवा बाहरी नियंत्रण पर निर्भर है। उनके लिए उचित अनुशासन स्वानुशासन[3] है। और विद्यालयों में निजी शासन नियन्त्रण के द्वारा इसका निर्माण किया जा सकता है।

1. Another principle which is to govern the curriculum planning is that the curriculum should organise progressively educative experiences and problems drawn from the activities of real life.

2. Role of the teacher, 3. Self-discipline.

अतएव हम देखते हैं कि शिक्षा में प्रयोजनवाद केवल सैद्धान्तिक व्यवस्था पर बल नहीं देता वरन् वह सिद्धान्तों के प्रयोगात्मक रूप को अधिक आवश्यक समझता है। आदर्शवादी इसी का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि प्रयोजनवाद में दोष यह है कि अभ्यास एवं व्यवहार पर बहुत अधिक बल देता है और उसे ही अन्तिम यथार्थता मानता है। उनका मत है कि प्रयोजनवाद बुद्धि को संकल्प शक्ति के आधीन समझते हैं और ज्ञान को कार्य के। अतः इससे बड़े ही दुर्भाग्यपूर्ण दार्शनिक तथा शैक्षिक परिणाम निकलते हैं। प्रयोजनवादियों के अनुसार तर्क को सदैव इच्छा का गुलाम होना चाहिए।[1] और आदर्शवादियों के दृष्टिकोण में यह विचार निहित है कि मानव तर्क को सदैव इच्छाओं और कामनाओं का स्वामी रहना चाहिए न कि दास।

आदर्शवादी प्रयोजनवादी का विरोध इस कारण भी करते हैं कि प्रयोजनवाद शिक्षा के क्षेत्र में जीवन-मूल्यों के प्रति एक त्रुटिपूर्ण एवं असंगत दृष्टिकोण अपनाता है। प्रयोजनवादी सत्य, सुन्दर और शिव को उपयोगिता का रूप देते हैं। परन्तु ये तो वे वास्तविक मूल्य हैं जो आध्यात्मिक जगत में निहित रहते हैं इन पर प्रयोजनवादी ध्यान नहीं देते। यदि प्रयोजनवाद को उसकी सब उलझनों एवं जटिलताओं के साथ मान लिया जाय तो कर्त्तव्य का करना कर्त्तव्य के लिए, ज्ञान का उपार्जन ज्ञान के लिए आदि सिद्धान्तों का कोई महत्व नहीं रहेगा तथा नैतिकता भी कल्पना की वस्तु हो जायगी क्योंकि वे कार्य को उनके फल के द्वारा निर्णीत करेंगे न कि उनके उद्देश्य के द्वारा। प्रयोजनवाद के ये दोष ही प्रयोजनवाद प्रणाली में कमजोरी का कारण है। अतएव रस्क महोदय का मत है कि प्रयोजन विधि को शिक्षा के उदार दृष्टिकोण के साथ ग्रहण करना चाहिए। दूसरे शब्दों में प्रयोजनवाद की पूर्ति आदर्शवाद से करनी चाहिए। इसी प्रकार रॉस महोदय का कथन है कि यदि आदर्शवादी अपने को प्रगतिशाल बना लें तो प्रयोगवाद एवं आदर्शवाद के बीच अन्तर कम हो जाता है। यही मेरा अपना मत है।

सारांश

प्राचीन काल के प्रयोजनवाद के प्रवर्तकों के नाम हैं: 'हेराकिलटस, प्रोटोगोरटस' इत्यादि। इसके पश्चात् नाम आते हैं बेकन तथा कोमटे। अमरीका के प्रयोजनवादी तीन प्रमुख दार्शनिक हैं : पीयर्स, जेम्स, ड्यूवी।

---

1. Reason should always be the slave of the passion.

जॉन ड्यूवी और उनका दर्शन :—(१) परम सत्य का दिग्दर्शन मानव में ही संभव है, (२) मन स्थायी नहीं है वरन् उसके विकास की क्रिया अनवरत चलती रहती है, (३) सत्य वही है जो समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार सत्य है, (४) समस्याओं का समाधान प्रयोगात्मक विधियों द्वारा ही होता है, (५) वह अनुभव जो सार्थक है वही ज्ञान है, (६) सामाजिक वातावरण द्वारा ही व्यक्तित्व का विकास संभव है।

ड्यूवी का शिक्षा-दर्शन :—(१) प्रगति किसी संकुचित दायरे में सीमित नहीं है, (२) शिक्षा समाज की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, (३) शिक्षा का कार्य अनुभव को विकसित, परिवर्तित और संशोधित करना है।

शिक्षा से तात्पर्य—यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो अनुभवों का नवनिर्माण तथा पुर्नसंगठन करती है।

शिक्षा की परिभाषा :—व्यक्ति की उन सब योग्यताओं का विकास जो उसमें अपने वातावरण पर नियंत्रण रखने की तथा अपनी संभावनाओं को पूर्ण करने की सामर्थ्य प्रदान करे।

शिक्षा के दो अङ्ग होते हैं :—(१) मनोवैज्ञानिक—व्यक्ति के विकास के अवसर उसकी योग्यतानुसार प्रदान करना, (२) सामाजिक अंग—ऐसी शिक्षा जो सामाजिक वातावरण में बालक को दी जाय।

शिक्षा का उद्देश्य पूर्व निश्चित नहीं हो सकता। इसका ध्येय वही होगा जो उस समय, स्थान तथा स्थिति में बालक की स्वाभाविक शक्तियों का विकास करे। शिक्षा का उद्देश्य भी दो रूप में माना जा सकता है—(१) व्यक्तिगत, और (२) सामाजिक।

ड्यूवी के पाठ्यक्रम सम्बन्धी सिद्धान्त :—(१) पाठ्यक्रम का लचीला होना आवश्यक है, (२) विभिन्न विषयों में समन्वय हो, (३) पाठ्यक्रम का आधार सामाजिक अनुभव हो, (४) पाठ्यक्रम का स्वरूप बालक की मूल प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों, रुचियों इत्यादि को ध्यान में रखकर निर्धारित होना चाहिये, (५) कोई भी विषय जो बालक के जीवन को पूर्ण बनाने में सहयोग दे उसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए, (६) हस्तकला को पाठ्यक्रम में स्थान देना चाहिए, (७) नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा को अलग विषयों के रूप में पाठ्यक्रम में नहीं रखना चाहिये।

ड्यूवी महोदय ने विद्यालय को समाज का एक महत्वपूर्ण अङ्ग समझा है। विद्यालय में (१) जाति द्वारा अर्जित संस्कृति नई पीढ़ी को प्रदान की जाती है, (२) समाज प्रगति तथा समाज कल्याण की चेष्टा की जाती है, (३) व्यक्तिगत विकास पर बल दिया जाता है, (४) घर सदृश वातावरण तथा

शैक्षिक क्रियाओं का आयोजन होता है, (५) बालकों को व्यावसायिक शिक्षा का भी आयोजन होता है, (६) बालकों की जनतंत्रीय भावना का भी विकास किया जाता है।

ड्यूवी अनुशासन को सामाजिक जीवन पर आधारित मानते हैं। विद्यालयों में अनुशासन का उद्देश्य उसकी आदतें, रुचियों और आदर्शों का सृजन करना है जिससे व्यक्तिगत तथा सामाजिक कुशलता की प्राप्ति हो।

अध्यापक को ड्यूवी महोदय अपनी शिक्षा प्रणाली में एक महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। अध्यापक के कार्य को वह एक योजना-नायक, पथ-प्रदर्शक तथा निरीक्षक के रूप में देखना चाहते हैं।

ड्यूवी महोदय के शैक्षिक दर्शन ने **शिक्षा के ऊपर बहुत गहरा प्रभाव** डाला है। विद्यालय-संगठन, शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षा का पाठ्यक्रम, अनुशासन का रूप, विद्यालय तथा समाज का सम्बन्ध विद्यालय तथा घर का सम्बन्ध, शिक्षा की सक्रियता, शिक्षा में अनुभवों का महत्व, शिक्षा द्वारा समाज की प्रगति इत्यादि के सम्बन्ध में ड्यूवी महोदय के दृष्टिकोण ने क्रान्ति ला दी है।

ड्यूवी के दर्शन की आलोचना इस प्रकार की जाती है—(१) यह दार्शनिक महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देना अनावश्यक समझते हैं, (२) अनुपयोगी वस्तुएँ भी सत्य हो सकती हैं, (३) उनका दर्शन भौतिकवाद को महत्ता प्रदान करता है, (४) हर व्यक्ति स्वयं अपने लिए मूल्य नहीं निर्धारित कर सकता, (५) नैतिकता के सम्बन्ध में विचार स्पष्ट नहीं है, (६) विद्यालय समाज का यदि लघु रूप है तो वह समाज की प्रगति मे सहयोग नहीं प्रदान कर सकता, (७) प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा हीं सब प्रकार का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता (८) ड्यूवी का पाठ्यक्रम संकुचित है, (९) अवकाश के लिए शिक्षा का कोई महत्व नहीं, (१०) शिक्षा उद्देश्य रहित नहीं हो सकती और (११) हर प्रकार के बालक की स्वाभाविक रुचि के विकास के लिए शिक्षा का आयोजन नहीं हो सकता।

प्रयोजनवाद का दर्शन :—प्रयोजनवाद का मूल सिद्धान्त यह हैं कि "अनुभव ही सब वस्तुओं की वास्तविक परीक्षा है और सत्य वह है जो परीक्षा की कसौटी पर खरा उतरे।

शिक्षा में प्रयोजनवादी, सिद्धांतों के प्रयोगात्मक रूप पर सैद्धान्तिक रूप के तुलनात्मक अधिक बल देते हैं।

शिक्षा के लक्ष्य के सम्बन्ध में प्रयोजनवादियों का विचार है कि यह अपनी प्रकृति में वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों हैं।

विद्यालय की स्थापना की आवश्यकता इन कारणों से है—(१) विद्यालय नवीन पीढ़ी के सीखने के लिए उपयुक्त आयोजन करता है, (२) यहाँ विभिन्न देशीय अनुसंधान तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बालकों को परिचित कराया जाता है, (३) यहाँ भाषा-शिक्षा प्रदान की जाती है, (४) समाज अपना कार्य पाठशाला की सहायता से ही सम्पन्न करता है, (५) यहाँ बालक को संकलित तथा उपयुक्त साहचर्य समाज के साथ मिलता है। एवं (६) समाज को अपनी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में चेतनाभूत होने में सहायता प्रदान करता है।

शिक्षा की पद्धति के सम्बन्ध मे प्रयोजनवादी ऐसी पद्धति को अच्छा समझते हैं जो सीखने वाले के अनुभव तथा क्रिया पर निर्भर होती है। वह आत्म-शिक्षा, खेल द्वारा शिक्षा तथा रचनात्मक आत्माभिव्यक्ति पर बल देते हैं। वह प्रयोजन प्रणाली को शिक्षा देने की उत्तम पद्धति मानते है।

पाठ्यक्रम बालक की रुचियो पर केन्द्रित होना चाहिए। इसमे उन अनुभवों तथा समस्याओं का समावेश होना चाहिए जो यथार्थ जीवन के कार्यों से उद्भूत होते है। ऐसे विषय चुनने चाहिए जो आलोचनात्मक विचार का विकास करें तथा उनमें समन्वय होना चाहिए।

अध्यापक द्वारा ही शैक्षिक प्रक्रिया का कुशलता से पथ प्रदर्शन संभव है।

अनुशासन के सामाजिक रूप पर प्रयोजनवाद अधिक बल देता है।

आदर्शवाद तथा प्रयोजनवाद के अन्तरों को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :—

आदर्शवाद	प्रयोजनवाद
(१) आदर्शवादी शाश्वत सत्यों एवं मूल्यों में विश्वास करते हैं।	(१) प्रयोजनवादी पूर्व निर्धारित सत्यों और मूल्यों में विश्वास नहीं रखते क्योंकि उनके अनुसार परिस्थितियों के अनुसार सत्यों में परिवर्तन होता रहता है।
(२) ये बुद्धि को महत्वपूर्ण स्थान देता है।	(२) ये बुद्धि के स्थान पर भावना एवं परिस्थितियों को महत्व देता है।
(३) ये विचार को अधिक महत्व देता है।	(३) ये क्रिया को विचार से अधिक महत्व देता है।
(४) येऐहिक जीवन को उतना महत्व नही देते जितना परलोक के जीवन	(४) ये ऐहिक जीवन को ही महत्वपूर्ण समझते है। इस प्रकार यह

को। इस प्रकार यह आध्यात्मिकवाद को अधिक महत्व देते हैं।

(५) ये शिक्षक को बहुत उच्च स्थान देता हैं।

(६) ये प्रभावात्मक अनुशासन के समर्थक हैं।

(७) शिक्षण पद्धति के सम्बन्ध में कोई विशेष बात नहीं कहते परन्तु व्याख्या विधि एवं पुस्तकीय ज्ञान के समर्थक है।

भौतिकवाद को प्रधानता देते हैं।

(५) ये शिक्षक को महत्व देते हैं परंतु केवल शैक्षिक परिस्थितियों के सृजन में।

(६) ये अनुशासन स्थापित करने के लिए सामाजिक दृष्टिकोण को प्रधानता देते हैं।

(७) ये उस शिक्षण पद्धति को अच्छा समझते है जिसमें कार्य तथा अनुभव पर विशेष बल दिया जाता है। प्रयोजन प्रणाली का समर्थन करते हैं।

परन्तु प्रयोजनवाद तथा आदर्शवाद में इन विभिन्नताओं के साथ-साथ समानता भी है। यदि दोनों में कुछ परिवर्तन कर दिया जाय तो दोनों विचारधारायें एक दूसरे के बहुत समीप आ जाती हैं।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. प्रयोगवाद के दर्शन से आप क्या समझते हैं ? इसका विवेचन कीजिये।

२. प्रयोगवाद तथा आदर्शवाद में क्या विषमताएं तथा समानताएं है ? विवेचन कीजिये।

३. शिक्षा के सम्बन्ध में प्रयोगवाद के दृष्टिकोण पर प्रकाश डालिए।

४. ड्यूवी के अनुसार "Philosophy helps an individual to develop a wisdom that influences the conduct of his life." ड्यूवी के दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिये तथा इसके सम्बन्ध में अपने विचारों को कारण सहित व्यक्त कीजिए।

५. "Education is life" इस कथन पर प्रयोजनवादी शिक्षा के दृष्टिकोण के आधार पर प्रकाश डालिए।

६. ऐसा कहा जाता है कि 'ड्यूवी ने आधुनिक शिक्षा में क्रान्ति मचा दी है यद्यपि उसका दर्शन समाप्त हो सकता है परन्तु उसके शिक्षा सिद्धान्त सदैव रहेंगे।" आप इस मत से कहाँ तक सहमत हैं ? आपके

विचार से भारतीय शिक्षा को ड्यूवी के विचारों ने कितना प्रभावित किया है।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) हेराडेरसन, एस० वी० पी० : इन्ट्रोडक्शन टु फिलॉसॉफी ऑव एडूकेशन
(२) होकिङ्ग विलियम ई० : टाइप्स ऑफ फिलासॉफी
(३) लॉज आर० सी० : फिलासॉफी ऑफ एडूकेशन
(४) रस्क : डॉक्ट्रिन्स ऑव ग्रेट एडूकेटर्स
(५) रस्क : द फिलॉसॉफिकल बेसेज ऑव एडूकेशन
(६) ड्यूवी, जॉन : डेमाक्रेसी एण्ड एडूकेशन
(७) जेम्स, डब्लू : प्रैगमैटिज्म

— :o: —

अध्याय ६

शिक्षा और उसका अर्थ[1]

शिक्षा की परिभाषा विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न प्रकार से की गई है। ये परिभाषाएं उनके प्रतिपादकों ने व्यक्तिगतदृष्टिकोण पर आधारित हैं। एक व्यापारी, एक किसान, एक पादरी या एक सरकारी अफसर, बहुधा 'शिक्षा' शब्द का विभिन्न अर्थ प्रदान करते हैं। ऐसी दशा में यह अत्यन्त कठिन है कि हम शिक्षा की किसी एक विशिष्ट समन्वित परिभाषा दे सकें या शिक्षा शब्द को कोई निश्चित अर्थ प्रदान कर सकें। हमने पिछले अध्यायों में शिक्षा का अर्थ आदर्शवादी, प्रयोजनवादी और प्रकृतिवादी, विविध दृष्टिकोणों के अनुरूप वर्णित किया है। जो शिक्षा के उद्देश्य उनके द्वारा प्रतिपादित किये गए वे आवश्यक रूप से उनके दर्शन के अनुरूप हैं और इस प्रकार से वे एक दूसरे से विभिन्न है। इस अध्याय में हमारा उद्देश्य शिक्षा की विभिन्न परिभाषाओं की विवेचना करके शिक्षा के अर्थ के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से प्रकाश डालना है।

शिक्षा : ईश्वर के प्रति एक उर्ध्वगामी अनुकूलन है[2]

हार्न महोदय का कहना है कि "शिक्षा एक चिरन्तन प्रक्रिया है जो

1. Education and its Meaning, 2. Education as superior adjustment to God.

शारीरिक और मानसिक दृष्टि से विकसित, स्वतंत्र एवं चेतनाभूत मानव को ईश्वर के प्रति उस अनुकूलन कराती है जिसकी अभिव्यक्ति व्यक्ति के बौद्धिक संवेगात्मक और संकल्पित वातावरण में होती है। यह परिभाषा एक आदर्शवादी विचारधारा की ओर संकेत करती है। शिक्षा एक ऐसे अनुकूलन की क्रिया समझी जाती है जो पूर्ण रूप से विकसित, शारीरिक तथा मानसिक मानव का ईश्वर के साथ व्यावस्थापन करने मे सहायता प्रदान करती है। इस परिभाषा मे व्यक्ति के विकास के सर्व रूप तथा उसके वातावरण के सभी खंड निहित हैं जिन पर ईश्वर का प्रभाव पड़ता है।[1]

शिक्षा : अभिवृद्धि की एक प्रक्रिया[2]

बोड महोदय का विश्वास है कि शिक्षा अभिवृद्धि की एक प्रक्रिया है। उनका कथन है कि **"शिक्षा में जिन उद्देश्यों को हम निर्धारित करते हैं वे केवल पथ-प्रदर्शक और संकेत स्तम्भ के समान हैं, जो यह संकेत करते हैं कि अभिवृद्धि किस दिशा में होगी।**[3] पायन[4] महोदय भी शिक्षा को एक विकास के रूप देखते हैं। इस रूप में शिक्षा व्यक्ति के विकास में सहायता प्रदान करती है। मॉरीसिन महोदय का विश्वास है कि **"शिक्षा सीखने की क्रिया द्वारा व्यक्ति का विकास है जो उसके शारीरिक विकास से भिन्न है।"** अतएव शिक्षा को व्यक्ति के बौद्धिक विकास का उत्तरदायी समझना चाहिये। इस प्रकार की शिक्षा की परिभाषा अपने दृष्टिकोण में व्यक्तिवादी है। यह व्यक्ति से उसके सामाजिक रूप की अपेक्षा उसके व्यक्तिगत विकास को अधिक महत्व प्रदान करती है।

शिक्षा : वातावरण के अनुकूलन के रूप में[5]

बैसिंग महोदय शिक्षा की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि **"शिक्षा का कार्य व्यक्ति को वातावरण में उस सीमा तक व्यवस्थापित करना है जिससे व्यक्ति और समाज दोनों के लिए महान् संतोषजनक लाभ प्राप्त हो सके।**[6]

1. Educatiou is the eternal process of superior adjustment of the physically and mentally developed, free, conscious, human being to God as manifested in the intellectual, emotional and volitional environment of man, 2. Educationas a process of growth, 3. B. H. Bode, "Fundamentals of Education", Macmillan, N. Y., 1921, p. 8. "The aims that we set up in education are just guides and sign posts to indicate place, 4. Pyne.

5. Education as adjustment to environment, 6. Bossing : the function of education is conceived to be adjustment of man to environment to the end that the most enduring satisfaction may accrue to the individual and to the society,

अनुकूलन तथा उसके वातावरण की शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिसके द्वारा व्यक्ति का उपयुक्त अनुकूल समाज के अन्दर हो सके परन्तु बैसिंग की परिभाषा यहीं तक सीमित नहीं है; यह इससे भी आगे बढ़ जाती है। वातावरण का नवनिर्माण व्यक्ति तथा समाज की उन्नति के लिए भी शिक्षा द्वारा किया जाता है।

शिक्षा द्वारा समूह में परिवर्तन[1]

समाज शास्त्रियों के लिए शिक्षा आवश्यक रूप से एक सामाजिक प्रक्रिया है। उनके दृष्टिकोण से अधिक बल इस बात पर दिया जाना चाहिये कि शिक्षा द्वारा समाज की उन्नति की जाय। अतएव ब्रॉउन महोदय का कथन है कि "**शिक्षा चैतन्य रूप में एक नियंत्रण प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन लाये जाते हैं और व्यक्ति के द्वारा समाज में**[2]। यद्यपि यह परिभाषा व्यक्ति के व्यवहार के नियंत्रण पर बल देती है परन्तु स्पष्ट रूप से इस बात की ओर भी संकेत करती है कि इन परिवर्तनों को समाज में उचित स्थान देना भी आवश्यक है।

इसी प्रकार के दृष्टिकोण को "रिपोर्ट ऑफ दि कमीशन ऑन दि रिआरगनाइजेशन ऑफ दि सेकन्डरी स्कूल" भी व्यक्त करती है। इस कमीशन ने शिक्षा का उद्देश्य हर **व्यक्ति के ज्ञान, रुचियाँ, आदर्शों, आदतों और शक्तियों का विकास करना जिनके द्वारा उसे अपना उचित स्थान मिल सके और उस स्थान का सदुपयोग कर स्वयं तथा समाज को उच्च एवं पवित्र उद्देश्य की ओर ले जाय।**[3] इस परिभाषा द्वारा व्यक्ति के विकास को अपने तथा समाज की अच्छाई के लिए समझा गया है। इस प्रकार की परिभाषा यद्यपि व्यक्ति के विकास को स्थान देती है परन्तु यह सामाजिक उद्देश्यों के समक्ष उसे गौण स्थान प्रदान करती है। व्यक्ति अपना मन पसन्द रास्ता नहीं चुन सकता। उसके

---

1. Education as producing change in the group.

2. Brown : Sociology, p. 199 : "Education is the consciously controlled process whereby changes in behaviour are produced in the person and through the person within the group, 3. Report of the Commission on the Reorganization of the Secondary School; Cardinal Principles of Secondary Education, U. S. Bureau of Education, Bulletine 35, 1918, p. 9. It stated the purpose of education, "to develop in each individual the knowledge interests, ideals habits and powers whereby he will find his place & use that place to shape both himself & society toward even noblerends,"

ऊपर शिक्षा द्वारा नियंत्रण रखा जाता है जिससे वह उन आदर्शों पर ही चले जो समाज उसके लिए उपयुक्त समझता है और जो स्वयं समाज के जीवन के लिए उपयोगी है। यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि ये सब परिभाषायें केवल यही नहीं कहतीं कि व्यक्ति को अपने सामाजिक वातावरण के प्रति व्यवस्थापन प्राप्त करना चाहिए वरन् इस बात पर भी बल देती हैं कि शिक्षा के द्वारा ही सामाजिक उन्नति संभव है।

वास्तव में शिक्षा क्या है ?

ऊपर हमने शिक्षा की परिभाषा विभिन्न शिक्षा शास्त्रियों के मतानुसार दी है। इन सब परिभाषाओं के आधार पर शिक्षा कोई उच्च एवं पवित्र वस्तु समझी जाती है। शिक्षा व्यक्तिगत विकास की प्रक्रिया समझी जाती है और सामाजिक विकास का करना भी इसका ध्येय माना जाता है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार "**मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति करना ही शिक्षा है।**" यह दृष्टिकोण आध्यात्मिकता के आधार पर शिक्षा को अर्थ प्रदान करता है। टी० रेमॅन्ट के विचार से "**शिक्षा विकास का वह क्रम है जिसके द्वारा मनुष्य स्वयं को विभिन्न रूपों से आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है।**[1]" इसी प्रकार विभिन्न शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा को विभिन्न अर्थ प्रदान करने की चेष्टा की है। कुछ शिक्षा को ज्ञान की वृद्धि के रूप मे देखते है, कुछ इसे व्यष्टिगत दृष्टिकोण से देखते हैं तो कुछ सामाजिक से, कुछ इसे व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकास में समन्वय उत्पन्न करने वाला समझते है तो कुछ इसे आध्यात्मिक रूप प्रदान करते हैं।

शिक्षा के विभिन्न अर्थ विभिन्न शिक्षा शास्त्रियों द्वारा प्रदान होने पर भी हम शिक्षा के साधारणत: क्या समझते हैं इस सम्बन्ध में कुछ कहेंगे।

(१) **शिक्षा का अर्थ केवल विद्यालयों में दिये जाने वाले ज्ञान से नहीं है।** शिक्षा का अर्थ इतना संकुचित नहीं है। यह अधिक व्यापक है। शिक्षा का कार्यक्रम जन्म से आरम्भ होकर मानव को मृत्यु तक अबाध गति से चलता रहता है। मानव प्रत्येक अनुभव से सीखता है और प्रत्येक प्राणी उसके लिए शिक्षा का कार्य किसी न किसी रूप में करता है। यहाँ तक कि उसे छोटे से

1. T. Raymont : Education is defined as a process of development which consists the passage of human being from infancy to maturity the process by which he adapts himself gradually in various ways to his physical, social and spiritual environment."

छोटे जीव जैसे चींटी या घोंघे तक से शिक्षा प्राप्त होती है। भारत में महर्षि कणाद का उदाहरण इस सम्बन्ध में दिया जा सकता है। वह चींटी तथा इसी प्रकार के जीव-जन्तुओं को उनके विशिष्ट गुणों के कारण अपना गुरु मानते थे।

(२) **शिक्षा का अर्थ बालक की अन्तर्निहित शक्तियों के विकास के रूप में** समझा जाता है। हम शिक्षा से उस प्रक्रिया को समझते हैं जो बालक की स्वाभाविक प्रेरणाओं के आधार पर उसका विकास करे, उसकी आवश्यकताओं को ध्यान मे रखे। उसकी "अन्तर्निहित शक्तियों का सर्वाङ्गीण विकास करके उसका जीवन सफल बनाएं। एडिसन महोदय के अनुसार "शिक्षा वह क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य मे अपने में निहित उन शक्तियों तथा गुणों का दिग्दर्शन होता है जिनका शिक्षा के बिना असम्भव है।

(३) **शिक्षा एक गत्यात्मक प्रक्रिया है**।[1] यह मनुष्य को जीवन में प्रगति करने के लिए तैयार करती है। यह स्थिर नहीं है वरन् सदैव गतिशील रहती है। मानव शिक्षा के द्वारा ही अपना जीवन उत्तम तथा प्रगतिशील बना सकता है।

(४) **शिक्षा एक द्विमुखी प्रक्रिया** है।[2] शिक्षा का अर्थ यह कदापि नहीं है कि शिक्षक स्वयं सक्रिय होकर बालक के मस्तिष्क को ज्ञान से भर दे। शिक्षा की प्रक्रिया मे बालक निष्क्रिय नहीं रहता वरन् शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनों सक्रिय रहते है। इस प्रकार शिक्षा द्विमुखी है। शिक्षक तथा विद्यार्थी में परस्पर आदान प्रदान होना शिक्षा की प्रक्रिया के लिए आवश्यक है।

(५) **शिक्षा समाजिक विकास की एक प्रक्रिया है**।[3] शिक्षा से तात्पर्य केवल व्यष्टिगत विकास नहीं है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और उसे समाज में ही अपना जीवन व्यतीत करना होता है अतएव उसकी शिक्षा को हम सामाजिक तत्व से विहीन किसी भी अर्थ को प्रदान नहीं कर सकते है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति का समाजिक विकास संभव होता है और सामाजिक उन्नयन का होना उचित शिक्षा पर ही निर्भर है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति का बौद्धिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास होता है और जो उसके जीवन को सफलीभूत बनाती है तथा इस प्रकार से उसके व्यवहार में परिवर्तन तथा परिवर्द्धन लाती है जो देश, समाज तथा विश्व के कल्याण के लिए आवश्यक है।

1. Education is dynamic, 2. Education is a bipolar process
3. Education is a process of social development.

सारांश

शिक्षा की परिभाषाएँ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न रूप से दी जाती हैं विभिन्न परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) **शिक्षा : ईश्वर के प्रति एक उर्ध्वगामी अनुकूलन**—इस परिभाषा में व्यक्ति के विकास के सभी रूप तथा उसके वातावरण के सभी खंड निहित हैं जिन पर ईश्वर का प्रभाव पड़ता है।

(२) **शिक्षा एक विकास की प्रक्रिया**—इस प्रकार की शिक्षा की परिभाषा अपने दृष्टिकोण में व्यक्तिवादी है।

(३) **शिक्षा वातावरण के अनुकूलन के रूप में**—शिक्षा द्वारा व्यक्ति का वातावरण में अनुकूलन प्राप्त किया जाता है।

(४) **शिक्षा द्वारा समूह परिवर्तन**—समाज शास्त्रियों के लिए शिक्षा आवश्यक रूप से एक सामाजिक प्रक्रिया है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक वातावरण के प्रति व्यवस्थापन प्राप्त करता है और सामाजिक उन्नति में सहयोग देता है।

इन परिभाषाओं के आधार पर हम शिक्षा को व्यष्टिगत तथा सामाजिक विकास की प्रक्रिया मानते है। अन्त में शिक्षा से जो कुछ हम समझते हैं वह यह है—

(अ) शिक्षा का अर्थ केवल विद्यालयों में दिये जाने वाले ज्ञान से नहीं है।

(आ) शिक्षा का अर्थ बालक की अन्तर्निहित शक्तियों के विकास के रूप में माना जाता है।

(इ) शिक्षा गत्यात्मक प्रक्रिया है।

(ई) शिक्षा द्विमुखी प्रक्रिया है।

(उ) शिक्षा सामाजिक विकास की प्रक्रिया है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. शिक्षा क्या है ? इसकी विवेचना कीजिए।

२. निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिये।

(i) "Education is a natural, harmonious and progressive development of man's innate powers"

(ii) "By education I mean all round drawing out of the best in child and man body, mind and spirit-"

(iii) "Education is bipolar process,"

(iv) 'Education is a natural harmonious and progressive development of man's innate process."

३. आपके विचार से शिक्षा की क्या परिभाषा होनी चाहिए। अपना उत्तर कारण सहित कीजिए।

४. शिक्षा सामाजिक विकास की प्रक्रिया है; इससे आप क्या समझते हैं? प्रमाण सहित समझाइए।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) ब्रूबेचर : **मॉडर्न फिलासफीज़ ऑफ एडूकेशन**
(२) ब्राउन : **एडूकेशनल सोशियोलाजी**
(३) रॉस : **ग्राउन्डवर्क ऑव एडूकेशन थ्योरी**
(४) बरटरेन्डरसेल : **एडूकेशन एण्ड दि सोसल आर्डर**
(५) ऐडम्स : **दि इवोलूशन ऑफ एडूकेशन थ्योरी**
(६) बोड : **मांडर्न एडूकेशनल थ्योरीज़**
(७) भोरीसन : **बेसिक प्रिंसिपुल्स इन एडूकेशन**
(८) बोल्टन : **प्रिन्सिपुल्स ऑव एडूकेशन**

—: ० :—

अध्याय ७

शिक्षा के उद्देश्य[1]

रिवलिन महोदय अपनी पुस्तक एनसाईक्लोपीडिया 'आव मार्डन एडूकेशन' में लिखते हैं कि शिक्षा एक सप्रयोजन तथा नैतिक क्रिया है अतएव यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि यह उद्देश्यहीन है।[2] परन्तु जब यह प्रश्न किया जाता है कि शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिये ? तब बहुत से विरोधात्मक उत्तर दिये जाते हैं। कुछ कहते हैं कि शिक्षा का उद्देश चरित्र का निर्माण होना चाहिये। दूसरे "पूर्ण जीवन की तैयारी"[3] इसका उद्देश्य बताते हैं, कुछ और यह नारा लगाते हैं कि शिक्षा को केवल यह ध्येय रखना चाहिये कि "स्वस्थ मस्तिष्क स्वस्थ शरीर में ही हो सकता है।" परन्तु इन सब विरोधात्मक विचारों की आशा भी करनी चाहिये। वस्तुतः शिक्षा एक प्रयोगात्मक दर्शन है। यह जीवन के हर बिन्दु से निकटतम सम्बन्धित है। हरएक व्यक्ति के लिए कोई एक ही उद्देश्य नहीं हो सकता, या एक विशेष जीवन दर्शन ऐसा नहीं हो सकता जो सभी के लिए हो। अतएव जीवन के विरोधात्मक आदर्श शिक्षा में विरोधात्मक उद्देश्य को जन्म देते हैं। हर प्रकार का

1. Aims in education, 2. Rivlin, Encyclopedia of Modern Education : "Education is a purposeful and ethical activity. Hence it is unthinkable without aims", 3. Preparation for complete lioing.

शिक्षा संगठन एक जीवन के दर्शन पर निर्भर होता है और जीवन के दर्शन विभिन्न होते हैं। अतएव शिक्षा के उद्देश भी विभिन्नता लिए होते हैं।

इस प्रकार की स्थिति में कुछ शिक्षा शास्त्रियों का मत यह है कि अध्यापक को शिक्षा के उद्देश्य के संबंध में चिंता नहीं करना चाहिए क्योंकि शिक्षा का कोई एक सर्वमान्य उद्देश्य नहीं हो सकता। अतएव किसी भी अध्यापक द्वारा इसकी खोज उसे विषम स्थिति में ले जायगी। हमने ऊपर देखा कि शिक्षा के उद्देश्य जीवन दर्शन पर निर्भर होते हैं और जीवन दर्शन भी विविध होते हैं जो एक दूसरे के विरोधी होते हैं। अतएव कोई भी एक उद्देश्य पूर्ण विश्वास के साथ प्रतिपादित नही किया जा सकता। परन्तु शिक्षा की क्रिया रुक नहीं सकती चाहे हम कोई एक उद्देश्य या अनेक उद्देश्य या कोई भी उद्देश्य न स्वीकार करें। शिक्षा उस समय तक नहीं रुक सकती जब तक दार्शनिक अपने झगड़ों का निपटारा कर एक निश्चित जीवन दर्शन स्वीकार न करे। अतएव शिक्षा शास्त्रियों का कथन है कि शिक्षा को आगे बढ़ने दिया जाय। शिक्षा के उद्देश्य की ओर बिना ध्यान दिये हुए अध्यापक को अपना कार्य पूर्ण करना चाहिये।

उद्देश्यों का महत्व

उपरोक्त दृष्टिकोण यद्यपि प्रथम दृष्टि में उपयुक्त प्रतीत होता है परन्तु यह ठीक नहीं है। हम बिना उद्देश्य के कोई कार्य नहीं कर सकते। किसी भी कार्य या किसी भी क्रिया के लिए हमें कुछ न कुछ उद्देश्य अपनी दृष्टि में रखने में पड़ते हैं। अपने उद्देश्य की स्पष्ट परिभाषा दिये बिना शिक्षा भी प्रदान नहीं की जा सकती है। शिक्षण, बिना यह जाने कि शिक्षण किस उद्देश्य से दिया जा रहा है बिल्कुल व्यर्थ है। आजकल का समाज विनाश की ओर अग्र सर हो रहा है। मानव को नष्ट करने के साधनों में तेजी से वृद्धि हो रही है। सत्यं, शिवं, और सुन्दरम् को पीछे ढकेल दिया गया है और इनके स्थान पर संहारक शक्ति, बल और नृशंसता आगे बढ़ रही है। यह सब इस कारण हैं कि आज मानव-जीवन के अन्तिम मूल्यों में विश्वास खो बैठा है। सत्य को वे तभी स्वीकृत करते हैं जब वह कार्य-रूप में परिणत किया जा सके। कुछ लोगों के लिए तो सत्य की कोई सत्ता ही नहीं। यही कारण है कि शिक्षा में भी हमें विशृङ्खलता दृष्टिगोचर होती है। आज शिक्षा प्रदान तो की जा रही है परन्तु किस ध्येय या उद्देश्य को सामने रखकर, इस पर कोई निश्चित निर्णय नहीं है। अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षा में उचित उद्देश्य या उद्देश्यों को अपनाया जाय और उनके प्रकाश में पाठ्यक्रम, शिक्षा की पद्धति, अनुशासन की समस्या तथा विद्यालयो के संगठन आदि का निर्णय हो।

कुछ विशेष उद्देश्यों का विवेचन

हम अब पुनः इस प्रश्न पर विचार करेंगे शिक्षा के क्या उद्देश्य होने चाहिए। उद्देश्यों का विवेचन कई दृष्टिकोण से किया जा सकता है। उनको ऐतिहासिक आधार पर भी चर्चा की जा सकती है तथा शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों को तीन दृष्टिकोणों से प्रतिपादित किया जा सकता है। वे है—(१) उद्देश्य का क्या अर्थ है, (२) इस उद्देश्य में क्या गुण है, (३) इस उद्देश्य में क्या अवगुण है। यहाँ पर हम दूसरी विधि को अपनायेंगे और ज्ञान,[1] नैतिकता,[2] वैयक्तिकता[3] तथा सामाजिक[4] उद्देश्यों पर प्रकाश डालेंगे।

शिक्षा का उद्देश्य : ज्ञान

शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान हो, इस सिद्धान्त को आदर्शवादी सम्प्रदाय प्रतिपादित करता है। यह कहा जाता है कि शिक्षा में शिक्षण निहित है और शिक्षण में ज्ञान।[5] ज्ञान को आदर्शवादी सत्य के रूप में लेते है और चूँकि सत्य अन्तिम है अतः शिक्षा को अपना वास्तविक प्रयोजन प्राप्त करने के लिए ज्ञान को शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य मानना पड़ेगा। मानव प्रगति ज्ञान पर निर्भर रहती है। ज्ञान व्यक्ति को शक्ति और आनन्द दोनों की ओर ले जाता है। वह ज्ञान जो भौतिक संसार सम्बन्धी है, शक्ति की ओर ले जाता है। और वह ज्ञान जो आत्मा या आत्म-ज्ञान[6] सम्बन्धी है, आनन्द की ओर ले जाता है। प्राचीन हिन्दुओं का विश्वास था कि एक ऐसे व्यक्ति के लिए जो जीवन में सफल होना चाहता है, दोनों प्रकार का ज्ञान आवश्यक है। वर्तमान युग में विज्ञान की प्रगति ने इस उद्देश्य के समर्थकों में वृद्धि करदी है।

ज्ञान का अर्थ

'वेबस्टर' महोदय के अनुसार "ज्ञान वह है जो ज्ञात है, जो ज्ञात होने के द्वारा संचित रहता है या वह जानकारी है जो वास्तविक अनुभव द्वारा प्राप्त होती है।[7] उनके अनुसार इसे व्यावहारिक कुशलता भी माना जाता है; उदाहरण के लिए एक विशेष कौशल का ज्ञान।

प्लेटो महोदय के अनुसार बाह्य वस्तुएँ जैसी व्यक्ति को दिखाई पड़ती

---

1. Knowledge, 2. Morality, 3. Individuality, 4. Social, 5. R.M. Hutchins, "The Higher Learning in America" p.64-67 : Education implies teaching and teaching implies education. 6. Self-knowledge, 7. Webster: Knowledge is that which is known that which is preserved by knowing or that familiarity which is gained by actual experience.

हैं वे वास्तविक ज्ञान नहीं प्रदान करती। उनके विचार में वह ज्ञान सत्य है जो प्रत्यय ज्ञान[1] है तथा चिरस्थायी वस्तुओं का सत्य रूप है। यह अपरिवर्तनशील है तथा आन्तरिक होता है। दूसरे विद्वानों का मत है कि ज्ञान वह अनुभव है जो जीवन काल में प्राप्त किया जाता है। ड्यूवी महोदय ज्ञान को एक प्रयोजनवादी अर्थ प्रदान करते हुए कहते हैं कि "केवल वह जो हमारे संस्कारों में संगठित हो गया है जिससे कि हम वातावरण को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने में समर्थ हो सकें और अपने आदर्शों और इच्छाओं को उस स्थिति के अनुकूल बना लें जिसमें कि हम रहते हैं वही वास्तविक ज्ञान है।[2]

इस उद्देश्य के गुण

हम चाहे शिक्षा के किसी भी उद्देश्य को लें, उसको प्राप्त करना केवल शिक्षा के माध्यम द्वारा ही संभव होगा। अतएव शिक्षा में ज्ञान-उद्देश्य सबसे अधिक ग्राह्य है। यह केवल ज्ञान द्वारा ही सम्भव है कि व्यक्ति की बौद्धिक शक्तियों का विकास हो सके। ज्ञान प्रकृति की शक्तियों को व्यक्ति के लिए उपयोगी बनाने के लिए भी उत्तरदायी है। यह व्यक्ति के लिए शक्ति प्राप्त करने का साधन है। बिना ज्ञान के हमारा वर्तमान संसार उस प्रकार का नहीं रह सकता जैसा कि यह है। यह पाषाण युग में होता और व्यक्ति एक अन्धपरिश्रमी, मेहनतकश तथा एक दास जैसा जीवन व्यतीत कर रहा होता। मनुष्य पशुओं, प्रकृति और भूतों इत्यादि से डरते होते। चरित्र का निर्माण भी बिना ज्ञान के संभव नहीं है। एक व्यक्ति जो अशिक्षित एवं अज्ञानी है वह ठीक मार्ग का चुनाव करने में असफल रहेगा। जब भी कोई कठिन स्थिति उसके सम्मुख आयगी वह अपने नैतिक कर्त्तव्यों को निभाने में असफल रहेगा।

ज्ञान मस्तिष्क को अनुशासित करता है। बिना ज्ञान के मस्तिष्क असंगठित तथा अशिक्षित रहेगा। यह ज्ञान ही है जो मस्तिष्क का पोषण करता है, शिक्षित करता है तथा पूर्ण रूप से विकसित करता है।

'बट्रेन्ड रसेल[3]' महोदय ज्ञान को मानव की पूर्णता का महत्वपूर्ण खण्ड

---

1. Knowledge of ideas, 2. J. Dewey, Democracy and Education, N. Y., Macmillan, p. 400 : "Only that which has been organized into our disposition so as to enable us to adapthe environment to our needs and to adapt our aims and desires to the situation in which we live is really knowledge.

3. Bertrand Russell, Education and the Modern World, N. Y., W. W, Norton., 1932, pp. 10-11.

मानते हैं। उनका कहना है कि "ज्ञान, संवेग तथा शक्ति तीनों को अत्यधिक रूप से मानव जाति की पूर्णता के लिये संग्रहीत और नियन्त्रित करना चाहिए।"

इस उद्देश्य के दोष[1]

ज्ञान को शिक्षा के उद्देश्य के रूप में ग्रहण करने से जो गुण हमें दिखाई देते हैं उनका वर्णन हमने ऊपर किया है। परन्तु यह उद्देश्य उस समय दोषपूर्ण हो जाता है जब इसे शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य मान लिया जाता है। यह शिक्षा का एक उद्देश्य तो माना जा सकता है। परन्तु यह तो नितान्त असंगत होगा यदि इसे शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य मान लिया जाय। उस अवस्था में ज्ञान स्वयं में एक साध्य मान लिया जायगा[2] तथा शिक्षण का अभिप्राय केवल विद्यार्थी के मस्तिष्क को हर प्रकार के ज्ञान से, बुरा या भला, भर देने से ही सम्बन्धित रहेगा। एक विद्यालय का अध्यापक इसे ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझेगा कि बालक के मस्तिष्क को ज्ञान से भर दे। वह हृदय की विशालता एवं संवेदशीलता के विकास की ओर कदापि ध्यान नहीं देगा। यह स्थिति यदि इसी प्रकार से देखी जाय तो अत्यन्त ही हानिकारक है। हमें बहुत अच्छे वैज्ञानिक मिल जायेंगे, कुशल इंजीनियर, महनती डाक्टर तथा चाणक्ष वकील और चतुर कारीगर मिल सकते है परन्तु ऐसे मानव का मिलना कठिन होगा जो दूसरों के कष्टों को देखकर रो उठे। दूसरे का दुख अपना दुख समझे। जो मानव हित को ही सबसे उच्च आदर्श समझे और भगवान से डरे, बुराई से घृणा करे। ज्ञान शिक्षा के उद्देश्य के रूप मे शेष सब दूसरे उद्देश्यों से अधिक हानिकारक है यदि इसे शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य मान लिया जाय। हम ज्ञान को किसी दूसरे उद्देश्य के लिए एक साधन मात्र समझ सकते हैं; जैसे—ज्ञान, चरित्र या नागरिकता के उद्देश्य का एक साधन हो सकता है परन्तु स्वयं यही मानव जीवन और शिक्षा का साध्य बन जाय यह किसी भी प्रकार कल्याणकारी नही वरन् एक घातक विचार है।

ज्ञान को यदि बहुत अधिक महत्व दिया जाय तो एक और दोष हमारे सामने आता है। इस उद्देश्य का अर्थ केवल विद्यार्थी को सूचना मात्र देना हो जाता है। तब यह उद्देश्य अध्यापक को केवल "सूचना देने वाला"[3] तथा विद्यालयों को ज्ञान की दुकान[4] बना देता है। विद्यार्थी विविध विषय भी सीखेंगे। किसी एक विषय में होशियार भी हो जायेंगे परन्तु अपने चारों ओर के वातावरण को नहीं समझ सकेंगे। इस रूप में वे जीवन से उपयुक्त समायोजन

---

1. Demerits of this aim, 2. It will be taken as an end in itself, 3. Imformation monger, 4. Knowledge shops.

नहीं कर सकेंगे और सदैव समाज के लिए वह अनुपयुक्त समझे जायेंगे। हमारे देश में ज्ञान को ही साध्य मानने के दुखद परिणाम हम इस समय देख रहे हैं। गाँव से युवक शहर में शिक्षा ग्रहण करने आते हैं। वे परीक्षा पास करते हैं, उपाधियाँ प्राप्त करते हैं परन्तु जब लौटकर गाँव में जाते हैं तो वहाँ के वातावरण में अपना अनुकूलन नहीं कर पाते। वे शहर की ओर वापस लौट पड़ते हैं और नौकरी की तलाश में मारे-मारे फिरते हैं। इस तरह ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ती चली जाती है जो बेकार है और श्रम की महत्ता को नहीं पहचानते तथा समाज में अपना अनुकूलन नहीं कर पाते।

ज्ञान को शिक्षा के उद्देश्य के रूप मे अपनाये जाने का हम एक और स्वरूप देखते हैं। जब ज्ञान अध्यापक को अपने सम्मुख एक ही उद्देश्य रखने को बाध्य करता है और वह यह है कि किसी न किसी प्रकार विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाय क्योंकि शिक्षा की पूर्णता केवल परीक्षा पास करने में ही मानी जायगी। उस समय शिक्षा का उद्देश्य केवल डिग्री या उपाधि प्राप्त करना ही रहेगा। अतएव एक अध्यापक जो सबसे अधिक लड़कों को पास करा देगा सबसे सफल अध्यापक समझा जायगा।

हमने देखा कि ज्ञान, शक्ति तथा शान्ति दोनों को लाता है। परन्तु मनुष्य में शक्तिशाली बनने की अधिक महत्वाकांक्षा स्वाभाविक रूप से होती है। अतएव वह ज्ञान जो शक्ति को बढ़ाने के लिए होता है उस पर उस ज्ञान से अधिक बल दिया जाने लगता है जो शांति प्राप्त करने के हेतु होता है। वे राष्ट्र जिनमें शक्तिशाली बनने की आकांक्षा होती है वे सदैव कमजोर राष्ट्रों पर दबाब डालते रहते हैं। वे शांति को कमजोरी की निशानी समझते हैं और सदैव युद्ध के द्वार पर खड़े रहते हैं। विज्ञान के उच्चतम ज्ञान ने दो युद्ध तो करा ही दिये और इस समय संसार तीसरे युद्ध के द्वार पर खड़ा हुआ है।

ज्ञान-उद्देश्य को हमें क्या स्थान देना चाहिये ?[1]

थामस एम्युनास महोदय ने कहा है कि "ज्ञान दो प्रकार से अर्जित किया जाता है। वे दोनों प्रकार हैं—खोज द्वारा बिना शिक्षण के, तथा शिक्षण द्वारा।[2] अतएव अध्यापक उसी प्रकार से शिक्षा देता है जिस प्रकार से एक

---

1. Where should we put knowledge as the aim.

2. Thomas Acquinas, Contra Gentiles in Mary Halen Mayer, The Philosophy of Teaching of St. Thomas Acquinas, Milwanke : The Brace Publishing Co, 1929, pp. 195-196 : "Knowledge is acquired in two ways, both by discovery without teaching and by teaching".

अन्वेषक अनवेषण करता है। परन्तु उसके शिक्षण को सफल बनाने के लिए आन्तरिक ज्ञान सिद्धान्त की आवश्यकता है क्योंकि यह ईश्वर द्वारा मनुष्य को मिलता है। अतएव वह ज्ञान जो आन्तरिक है, मूल्यवान है।

दूसरे शिक्षा शास्त्री अनुभव को ही एक मात्र शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं। वे ज्ञान को क्रियाशील तब मानते हैं जबकि सीखने वाला अपने अनुभव द्वारा सीखता है। ज्ञान जो जाति के अनुभव को विद्यार्थी के अनुभव के अन्तर्गत ले आता है वह उस कार्य की पूर्ति करता है जिसे शिक्षा द्वारा पूरा किया जाता है। अतएव इस रूप में ज्ञान को शिक्षा का उद्देश्य मान सकते हैं।

शिक्षा का सांस्कृतिक उद्देश्य[1]

शिक्षा का एक अन्य प्रमुख उद्देश्य सांस्कृतिक उद्देश्य माना जाता है। यहाँ हम यह विचार करेंगे कि इस उद्देश्य को शिक्षा का अंतिम उद्देश्य मानने में क्या गुण हैं तथा क्या अवगुण। परन्तु इससे पहले हमें संस्कृति का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना चाहिए।

संस्कृति का अर्थ[2]

'एच० रग' महोदय का कथन है कि **"संस्कृति का अर्थ है मनुष्यों के सम्पूर्ण जीवन से जो समूहों के साथ सम्बद्ध है तथा उस समाज विशेष में व्यक्ति किस प्रकार चिन्तन करते हैं, कैसे उनके अनुभव, इच्छाएँ और विश्वास हैं एवं भय किस प्रकार के हैं।'**[3] अतः सर्वप्रथम संस्कृति मे **व्यक्तियों का भौतिक जीवन आता है;** दूसरे व्यक्तियो की **सामाजिक संस्थाएँ** तथा तीसरे **व्यक्तियों का मनोविज्ञान।**

ब्राऊन महोदय संस्कृति की परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि **"संस्कृति समूह के सम्पूर्ण व्यवहार का एक साँचा है जो अंशतः भौतिक पर्यावरण से प्रभावित होता है। यह पर्यावरण प्राकृतिक और मानव निर्मित दोनों ही प्रकार का होता है। किन्तु प्रमुख रूप से यह साँचा सुनिश्चित विचार धारा, प्रवृत्तियों मूल्यों तथा आदर्तों द्वारा प्रभावित होता है, जिनका विकास समूह द्वारा**

---

1. Culture as an aim of Education, 2. Meaning of Culture, 3. H. Rugg, Social Foundations of Education : "The culture means the total life of the people that goes on with these groups : what the people in a given society do, think, feel, believe, desire, fear.

अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है[1]।

'ई० बी० टेलर' महोदय के अनुसार 'संस्कृति ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, रीति-रिवाज, और कोई भी अन्य सामर्थ्य और आदतें जो मानव द्वारा समाज का सदस्य होने के नाते अर्जित की जाती हैं, इन सब की एक यौगिक इकाई है।"[2]

सदरलैंड तथा वुडवर्ड महोदय कहते है कि "संस्कृति में वह प्रत्येक वस्तु सम्मिलित है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमित हो सकती है। किसी जन समुदाय की संस्कृति उनका ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून तथा विचारने की पद्धति ही है।"[3]

एलवुड महोदय का विचार है कि संस्कृति मे एक ओर तो मानव की सम्पूर्ण भौतिक सभ्यता, औजार, अस्त्र और औद्योगिक संगठन आदि सम्मिलित हैं। दूसरी ओर उसमें सम्पूर्ण आध्यात्मिक सभ्यता; जैसे भाषा, साहित्य, कला धर्म, नैतिकता, कानून तथा सरकार सम्मिलित होते हैं।"[4]

इस प्रकार हम देखते है कि संस्कृति का अर्थ अत्यन्त व्यापक है यह मानव के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन दोनों से संम्बन्धित है। इसमें मानव की सामाजिक संस्थाएं तथा मनोवैज्ञानिक विचार दोनों का समावेश है।

---

1. F J. Brown, *Educational Sociology*, N. Y., Prentice-Hall, 1949. p 63; "Culture as the total behaviour pattern of the gro up, conditioned in part, by the physical environment, both natural and man-made but primarily by the standardized ideas, attitudes values and habits which have been developed by the group to meet its needs.

2. E. B. Taylor,"Culture is defined as that complex whole which includes knowledge, belief, art morals, law, custom and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society."

3. Suther land and Woodword : "Culture includes anything that can be communicated frym one generation to another. The culture of a people is their knowledge, belief, art, moral, law, modes of communication."

4. Ellwood considers that culture includes on the one hand the whole of mans material civilization, tools, weapons systems of industry, and an the other, all the non-material or spiritual civilization such as language, literature, art, religion, morality, law and Government.

यंग महोदय अपनी पुस्तक "पर्सनेलिटी एण्ड प्रोबलम्सन आफ ऐडजस्ट-मेन्ट" में लिखते हैं कि समाज में मानव जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके विचार, प्रवृत्ति तथा आदत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमित होते रहते हैं।

इन सतत विचारने की विधियों, समस्याओं को सुलझाने की रीतियों तथा सामाजिक स्थितियों को हम संस्कृति कहते हैं। संक्षेप में संस्कृति के मूल खण्डों को हम इस प्रकार मान सकते हैं-(१) संस्कृति उस जन समाज में से जिसमें मनुष्य रहते हैं तथा एक-दूसरे को वे अपनी क्रियाओं से प्रभावित करते हैं, उद्भूत होती है। (२) इसका जन्म खाने-पीने की, शरणागत की, काम प्रवृत्ति की, सुरक्षा की तथा सामाजिक व्यवस्था इत्यादि की मूल आवश्यकताओं से तथा उसकी गौण आवश्यकताओं जैसे धर्म, कलात्मक तथा मनोरंजन की अभिव्यक्ति से होता है। (३) समाज में चिंतन करने के तथा कार्य करने के तरीके कलान्तर में एक निश्चित रूप ग्रहण कर लेते हैं, तथा (४) चेतन अथवा अचेतन रूप में एक समूह से दूसरे में संक्रलित हो जाते है और इस प्रकार (५) संस्कृति को एक सतत क्रमशीलता दे दी जाती है।[1]

संस्कृति के कुछ ढाँचे[2] निम्नलिखित है :—

(१) विचारों के आदान प्रदान का स्वरूप, संकेत तथा भाषा।[3]

(२) विभिन्न विधियाँ तथा वस्तुएँ जो मानव की भौतिक उन्नति का आयोजन करती हैं।

---

1. Young, Personality and problems of Adjustment, p. 130 : "The continuity of ideas, attitudes and habits from one generation to the next is one of the out-standing features of man's life in society. Those folkways, these continuous methods of thinking of and handling problems and social situations we call culture. The fundamental factors in culture can be summarized as follows : (1) it arises out of the collectivity or group in which man lives especially as his actions there are affected. (2) by his basic needs for food, drink, shelter, sexual activity, protection or security, social order, and by his secondary needs for religious, artistic and recreational expression (3) these ways of thinking and doing become more or less formalized and (4) are transmitted both consciously and unconsciously from one group to another thus (5) giving continuity. 6. Patterns, 7. Patterns of communication, gestures and language.

(३) यातायात एवं पर्यटन के साधन।
(४) माल तथा अन्य सुविधा का आदान-प्रदान, वाणिज्य इत्यादि।
(५) सम्पति के रूप।
(६) काम तथा परिवार व्यवस्था।
(७) सामाजिक नियंत्रण तथा सरकार की संस्था।[1]
(८) कलात्मक अभिव्यक्ति।
(९) मनोरंजन की रुचियाँ।
(१०) धार्मिक तथा तांत्रिक विचार धारा।
(११) विज्ञान।
तथा (१२) धर्मग्रन्थ और दर्शन।

शिक्षा में सांस्कृतिक उद्देश्य

संस्कृति का अर्थ समझने के उपरान्त सांस्कृतिक उद्देश्य का समझना कठिन नहीं है। शिक्षा में सांस्कृतिक उद्देश्य से तात्पर्य है—जाति की संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संक्रमित करने में सहायता प्रदान करना। इस उद्देश्य को शिक्षा का मूल उद्देश्य कहने का यही अर्थ है कि वर्तमान पीढ़ी सुसंस्कृत बन जाय, जाति सभ्य हो जाय। बालक कलात्मक, सुन्दर, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक, अनुभवों को प्राप्त कर सके। कहने का तात्पर्य यह है कि ऊपर जो संस्कृति का अर्थ बतलाया गया है, उसको प्राप्त करे। वह सुसंस्कृत विचारों को प्राप्त कर सके और उन सब को ग्रहण करके एक उत्तम मानव बन जाय जिसे सुसंस्कृत तथा सभ्य कहा जा सके।

शिक्षा में सांस्कृतिक उद्देश्य को उद्देश्य मानने में गुण[2] :—सांस्कृतिक उद्देश्य को शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। इसका कारण यह है कि यह मानव व्यक्तित्व का तथा सामाजिक जीवन की समस्याओं का हल प्रदान करता है। मनुष्य में जो पशु प्रवृत्ति है उसको उचित रूप में संस्कृति ही रखती है। ज्ञान द्वारा शक्ति मिलती है परन्तु संस्कृति विवेक प्रदान करती है। ज्ञान मस्तिष्क को सूचना प्रदान करता है परन्तु हृदय को अशिक्षित ही छोड देता है। संस्कृति न केवल मस्तिष्क को शिक्षित करती है परन्तु हृदय को भी शिक्षित बनाती है। ज्ञान मानवता की वास्तविक सेवा उस समय करता है जब वह हर प्रकार की संस्कृति को स्वीकृति देता है। एक सांस्कृतिक मनुष्य वह है जो अपनी व्यक्तिगत रुचियों को उच्च उद्देश्यों के प्रति बलिदान कर देता है। इस

1. Social controls and institutions of Government.
2. Merits in accepting culture as the aim in education.

प्रकार की संस्कृति बहुत लम्बे समय के प्रशिक्षण के बाद आती है। संस्कृति केवल ज्ञान को इकट्ठा करना नहीं है, वरन् यह आत्मा की सारग्राहिणी प्रवृत्ति है। प्रकृति में जो कुछ भी अच्छा उसे अपना लिया जाता है। संस्कृति मानव के सम्पूर्ण दृष्टिकोण को परिवर्तित कर देती है।

सांस्कृतिक उद्देश्य को एक मात्र उद्देश्य मानने में अवगुण[1]:—एक संकीर्ण व्यक्ति के हाथ संस्कृति एक बहुत ही खतरनाक शिक्षा का उद्देश्य बन जाता है। संस्कृति को अत्यधिक महत्व देने वाले व्यक्ति सही या गलत का निर्णय उन व्यक्तियों के आधार पर करते है जो पूर्व काल में थे। वे व्यक्ति जो वर्तमान में जीवित रहना चाहते है उन्हें पूर्व में न देखकर वर्तमान में देखना चाहिए और अपने को भविष्य के लिए तैयार करना चाहिए।

शिक्षा का वैयक्तिकता के विकास का उद्देश्य[2]

शिक्षा के वैयक्तिकता के विकास के उद्देश्य पर सरपर्सी नन[3] ने बहुत बल दिया है। उनका कथन है कि व्यक्ति में सर्वोच्च स्तर की कुशलता एवं नैपुण्य का विकास करना ही शिक्षा का महान् उद्देश्य है। अपनी पुस्तक "एजूकेशन इट्स डाटा एण्ड फर्स्ट प्रिन्सिपुल्स" में नॅन महोदय लिखते है " हमे सदैव इस सिद्धान्त पर अटल रहना चाहिए कि स्त्री और पुरुषो के वैयक्तिक क्रिया-कलापों की अपेक्षा मानव जगत में कहीं भी और कभी भी अच्छाई का प्रवेश नहीं होता। अतः शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो इस सत्य पर निर्भर रहे।[4] किन्तु इस दृष्टिकोण से यह तात्पर्य नही कि व्यक्ति का अपने सहकारियों के प्रति कोई उत्तरदायित्व नही होता क्योकि व्यक्तिगत जीवन का विकास अपनी स्वयं की प्रकृति मे हो सकता है, और यह उतना ही सामाजिक है जितना कि आत्म-सम्बन्धी। यह दृष्टिकोण न तो परम्परागत अनुशासन के मूल्य को अस्वीकृत करता है और न धर्म के प्रभाव का निरादर। परन्तु यह किसी ऐसी यथार्थता को मानने से इन्कार करता है जिसमें व्यक्तिगत जीवन को एक साधारण तत्व समझा जाता है और जिसकी उपेक्षा करना ही जहाँ अच्छा समझा जाता है।

वैयक्तिकता उद्देश्य से तात्पर्य है कि शिक्षा द्वारा इस प्रकार की दिशाएँ

---

1. Demerits in accepting culture as the only aim in Education. 2. Individuality as an aim of Education, 3. Sir Percy Nunn, 4. Nunn, Education its data and first principles : "We shall stand throughout on the theory that nothing good enters into the human world except in and through the activities of Individual men and women and that the education must be shaped to accord with that truth."

प्राप्त की जायँ जिनमें व्यक्तित्व का विकास पूर्ण रूप से हो ताकि वह मानव जीवन के लिए अपना स्वयं का योग दे सके। शिक्षा का उद्देश्य यह है कि व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास के लिए उत्तम सांस्कृतिक तथा नैतिक परम्पराओं का उचित स्थान होना चाहिए। एक कारीगर केवल उन्हीं वस्तुओं से कुछ निर्माण कर सकता है जो उसके लिए सुलभ है। परन्तु वह इस बात के लिए स्वतन्त्र रहता है कि वह अपनी बुद्धि के अनुसार उन्हें किसी भी प्रकार के कार्य में ला सके। इसी प्रकार से एक स्कूल में शिक्षक तथा अनुशासन आवश्यक रूप से उन सांस्कृतिक और नैतिक परम्पराओं को जिन्हें शासन अत्यन्त मूल्यवान समझता है ग्रहण करते हुए भी इतनी स्वतन्त्रता पूर्वक हो कि व्यक्ति का स्वतंत्र विकास हो सके। संसार की उन्नति के लिए हर प्रकार के मानव की आवश्यकता है और संसार तभी अच्छा बनेगा यदि हर एक अपने प्रकार का बन जाय। अतएव मनुष्यों को व्यक्तिगत जीवन का सम्मान करना सीखना चाहिए। इस रूप में नहीं कि यह एक व्यक्तिगत अधिकार की वस्तु समझा जाए वरन् केवल एक ऐसा साधन जिसके द्वारा वास्तविक मूल्य संसार में प्रवेश पा सकें। व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को किसी भी निश्चित ढाँचे में नहीं समझना चाहिए।

एक व्यक्ति समाज का स्तर ऊँचा बना सकता है। समाज का उत्तर-दायित्व उसके सदस्य व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार नहीं पूर्ण कर सकते कि हर एक दूसरे की प्रकार का हो जाय परन्तु 'बोसाँके' महोदय[1] के शब्दों में जब मानव अपने को प्रतिभा तथा वातावरण का योग समझता है और उसका यह कार्य है कि वह उन्हें सबसे अधिक शक्तिशाली बनाये। व्यक्तिगत विकास ही सबसे उच्च विकास है। संसार मे सब अच्छी वस्तुए व्यक्तियों द्वारा ही बनाई जाती हैं। अतएव व्यक्ति के अतिरिक्त कर्त्तव्य का कोई अर्थ नहीं है। आत्म-बलिदान का कोई मूल्य नहीं है, शासन को कोई स्वीकृति नहीं है। व्यक्ति के विकास द्वारा ही राष्ट्रों में भाई-चारे का आधार रखा जाता है। यही तो एक आधार है जिसमें व्यक्ति मिलकर "भगवान के नगर का निर्माण" करते हैं। अतएव हमें इसे ही अपनी शिक्षा का आदर्श बना लेना चाहिए। हर एक बालक को अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों के प्रकट एवं विकसित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए।

हम वैयक्तिकता को दो रूपों मे देख सकते है—(१) आत्माभिव्यक्ति,[2] और (२) आत्मानुभूति[3]। इन दोनों रूपों से क्या तात्पर्य है यहाँ हम इस पर प्रकाश डालेंगे।

शिक्षा में आत्माभिव्यक्ति का उद्देश्य:—शिक्षा का उद्देश्य वैयक्तिक विकास

1. Bosanquet, 2. Self-expression, 3. Self-realization,

के रूप में एक अतिवादी रूप ले लेता है जब कि आत्माभिव्यक्ति को जीवन के पथ-प्रदर्शन का मुख्य नियम माना जाता है तथा शिक्षा का भी नियम इसी कोटि में माना जाता है। आत्माभिव्यक्तित्व व्यक्ति के विकास के रूप में आत्म-प्रकाशन[3] की भावना पर बल देता है। आत्म-प्रकाशन से तात्पर्य है कि व्यक्ति बिना किसी रोक-टोक के ऐसा व्यवहार करे जैसा कि उसकी प्रकृति उसे करने को कहे, चाहे वह कार्य दूसरों को न पसंद हो। यह तो सत्य है कि मस्तिष्क के बहुत से दोष अवरोध के कारण होते हैं और जिसके कारण मनोविश्लेषण-वादी आत्म-प्रकाशन पर बल देते हैं। परन्तु इस प्रकार का व्यवहार असामाजिक ही रहेगा। यदि प्रत्येक मूल प्रवृत्ति को आत्म-प्रकाशन का अवसर दे दिया जाय तो हमारा सामाजिक जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा।

शिक्षा तथा आत्मानुभूति[2] :—आत्मानुभूति तथा आत्माभिव्यक्ति में यह अन्तर है कि दोनों में आत्म का अर्थ विभिन्न है। आत्माभिव्यक्ति में आत्म वह है जैसा मैं उसे जानता हूँ[3] और आत्मानुभूति में आत्म से तात्पर्य वह है जैसा मैं उसे चाहता हूँ।[4] जो मूर्तमान आत्म[5] व्यक्ति का है वह आत्म है आत्माभिव्यक्ति का और जिस आदर्श आत्म[6] की हम कल्पना करते है वह है आत्मानुभूति का। यह ठीक है कि आत्मानुभूति में आत्म-प्रदर्शन की भावना निहित है पर वह आत्म-प्रदर्शन रोक दिया जायगा जो समाज के लिए अशुभ होगा। आत्मानुभूति मे सदैव स्वतन्त्रता आवश्यक है। ऐडम्स[7] महोदय के अनुसार आत्म जो आत्मानुभूति के आदर्श में निहित है अपनी अनुभूति समाज का विरोध करके नहीं कर सकती। परन्तु वह समाज में सामाजिक प्रक्रिया द्वारा ही संभव है। आत्मानुभूति के दृष्टिकोण को सामने रखते हुए शिक्षा का ध्येय यह कहा जा सकता है कि विद्यार्थी के गुणों का पता लगाया जाय और उनको वह मार्ग बताया जाय जिस पर चल कर वे अपने सबसे उच्च गुण की अनुभूति कर सके।

वैयक्तिकतावादी उद्देश्य में दोष:—वैयक्तिकता का उद्देश्य शिक्षा मे दोष रहित नहीं है। इसमें भी बहुत से दोषो की ओर संकेत किया जा सकता है। आत्माभिव्यक्ति का यदि उद्देश्य लिया जाय तो हमे इतने दोष दिखाई देते है कि हमें यह कहना ही पड़ता है कि यह उद्देश्य शिक्षा का उद्देश्य नहीं हो सकता परंतु आत्मानुभूति का उद्देश्य शिक्षा में उचित प्रतीत होता है। शिक्षा में व्यक्तित्व को एक मात्र उद्देश्य मानने में क्या दोष हैं, अब यहाँ हम उसका वर्णन करेंगे।

---

1. Self-assertion. 2, Self-realization and Education, 3. Self as I know it, 4. Self as I would have it to be, 5. concrete self, 6. Ideal self, 7. Adams.

(१) वैयक्तिकता के उद्देश्य से तात्पर्य है कि हर प्रकार के व्यक्तित्व को विकसित होने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय चाहे वह व्यक्तित्व समाज के लिए अच्छा हो या बुरा परन्तु यह सामाजिक अव्यवस्था को जन्म देता है।) परन्तु असामाजिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति को वही स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त होनी चाहिए जो सामाजिक प्रवृत्तियों को होती है परन्तु व्यक्तित्व का विकास कुछ सीमाओं के अन्दर करने से इस दोष को दूर किया जा सकता है।

(२) यह उद्देश्य सिद्धान्त के रूप में अच्छा हो सकता है परन्तु यह व्यावहारिक रूप में नहीं लाया जा सकता क्योंकि यदि हम इस उद्देश्य को मानेंगे तो न केवल हर एक विद्यार्थी के लिए विशेष पाठ्यक्रम की आवश्यकता है अपितु एक अलग-अलग विद्यालय भी चाहिए।)

'टी० पी० नन'[1] महोदय इस युक्ति का उत्तर देते हुए कहते हैं कि शिक्षक को आवश्यक रूप से कुछ सीमाओं के अन्दर कार्य करना पड़ेगा और विद्यार्थी के व्यक्तित्व का विकास इन्हीं सीमाओं के अन्तर्गत होना चाहिए। हम अपरिवर्तनशील मानव जीवन की दशाओं में परिवर्तन नहीं ला सकते परन्तु उनका सबसे उत्त उपयोग कर सकते हैं।

(३) रस्क[2] महोदय का कथन है कि हमें व्यक्तिगत वैयक्तिकता के विकास के स्थान पर व्यक्तित्व को समृद्ध[3] बनाने के लिये शिक्षा को ग्रहण करना चाहिए। उनका कहना है कि यह उद्देश्य एक मनुष्य को कम अहंकारी बनायेगा। स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास में व्यक्ति केवल अपने को ही महत्वपूर्ण समझता है। वह उसी काम में रुचि लेता एवं प्रधानता देता है जो उसके व्यक्तित्व के लिए अच्छा है परन्तु व्यक्ति की समृद्धि में समाज का भी ध्यान व्यक्ति द्वारा रखा जाता है। वह अपने सहयोगियों के लिए बलिदान को तत्पर रहता है।

(४) शिक्षा में उद्देश्य के रूप में वैयक्तिकता का विकास मनुष्य की तर्क-शक्ति की ओर कोई ध्यान नहीं देता। परन्तु शिक्षा द्वारा व्यक्ति में तर्क-शक्ति का विकास करना आवश्यक है और इसके लिए केवल व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास ही पर्याप्त नहीं होगा।

(५) यदि व्यक्तित्व के जैविक विकास[4] पर अधिक बल दिया जाय तो परिणाम यह होगा कि वंशानुक्रम और प्रवृत्तियों को ही सबसे महत्वपूर्ण समझा जायगा और वातावरण तथा पाठ्यक्रम का प्रभाव अत्यन्त कम कर दिया जायेगा यह स्थिति जैविक संभावनाओं को प्रोत्साहित करेगी।

---

1. T. P. Nunn 2. Rusk, 3. Enrichment of personaliy, 4. Biological development.

तात्पर्य यह कि व्यक्ति की सारी विशेषताएँ और गुण उसके वंशानुक्रम पर ही आधारित मान लिए जायेंगे। यह समझा जायगा कि जन्म के समय ही उसके सारे जीवन का निर्णय हो जाता है। और मूल गुण ही उसके सर्वशक्तिशाली हैं। यह स्थिति अत्यन्त दुखपूर्ण है क्योंकि इसके अनुसार व्यक्ति के सुधार एवं विकास के सब रास्ते बन्द हो जाते हैं। व्यक्ति यदि बुरी प्रवृत्तियों के साथ उत्पन्न हुआ है तो वही उसमें जन्म भर रहेंगी जिनमें कोई सुधार संभव नहीं है।

(६) यदि शिक्षा में स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास को उच्च स्थान दिया जाता है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि व्यक्ति को वातावरण के अनुकूल बनने की स्वतन्त्रता दे दी जाय। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को वातावरण के अनुसार व्यवस्थित करना ही आवश्यक है। परन्तु अनुकूलन शिक्षा में एक संतोषजनक विचार नहीं है। हमें वातावरण को जैसा वह है वैसा ही नहीं समझना चाहिये। अध्यापक को वातावरण में उचित परिवर्तन लाने की चेष्टा करनी चाहिये। जीवन में विकास प्रायः द्वन्द्व के कारण होता है न कि अनुकूलन के द्वारा। अतः सबसे अच्छे वे व्यक्ति हैं जो केवल समय के अनुकूल अपने को बनाने की ही चेष्टा नहीं करते परन्तु समय को बदलने की भी भावना रखते है।

(७) यह उद्देश्य हमारे अनुभव के सामाजिक स्वरूप का वर्णन करने में भी असफल रहता है। मनुष्य की उच्च प्रकृति सामाजिकता है जैसा कि केरड[1] महोदय का कथन है कि जब व्यक्ति अपना समर्पण सामाजिक जीवन को करता है तो उसी के द्वारा वह सबसे प्रथम अपनी पाशविक प्रवृत्ति से ऊँचा उठता है[2]। सामाजिक जीवन मनुष्य की सामान्य प्रकृति है।

(८) प्रकृतिवादी कहते है कि व्यक्ति का स्वतंत्र विकास शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। यह दृष्टिकोण भ्रामात्मक है और यह केवल आत्मप्रदर्शन की भावना को मूल सत्य मानकर चलता है। जैसा कि नीशे[3] महोदय के नीति शास्त्र मे है। नीशे महोदय के अनुसार एक कुशल व्यक्ति तथा एक महामानव किसी के भी आधिपत्य को नहीं मानता। केवल अपनी इच्छा शक्ति के अतिरिक्त और किसी नैतिकता को नहीं मानता, केवल अपनी रुचि के अतिरिक्त किसी भी रुचि को नहीं मानता। वह केवल अपने अधिकारों के लिए लड़ता है और दया, सहानुभूति, आत्म-बलिदान, इत्यादि उसके लिए अर्थहीन हैं।

अंत में हम कह सकते हैं कि व्यक्तित्व का विकास शिक्षा का एक महत्व-

---

1. Caird. 2. Caird : It is through the surrender of himself to social life that man is first lifted above his animal individuality, 3. Nietzche.

पूर्ण उद्देश्य है परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य यही है। इस उद्देश्य में बहुत से दोष हैं और इस कारण हमें बहुत ही सावधानी-पूर्वक आगे बढकर इसे शिक्षा के उद्देश्य के रूप में स्वीकृत करना होगा। शिक्षा का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति के रूप में हम कदापि नहीं रख सकते क्योंकि यह असामाजिक है। परन्तु आत्मानुभूति के रूप में हम इस उद्देश्य को शिक्षा का उचित उद्देश्य मान सकते हैं। आत्मानुभूति व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों प्रकार के विकास से सम्बन्धित है जबकि आत्माभिव्यक्ति केवल व्यक्ति से।

सामाजिक उद्देश्य[1]

हमने अभी शिक्षा के वैयक्तिकता के उद्देश्य पर प्रकाश डाला है। यहाँ अब हम सामाजिक उद्देश्य की ओर ध्यान देंगे। सर्वप्रथम हम सामाजिक उद्देश्य के चरम स्वरूप की ओर दृष्टिपात करेंगे।

सामाजिक उद्देश्य से तात्पर्य—सामाजिक उद्देश्य अपने चरमस्वरूप में राज्य को एक उच्च सत्ता के रूप में देखता है जो उन व्यक्तियों से उच्च है जो उसके नागरिक हैं। वह हर प्रकार से नागरिकों से अधिक महत्वपूर्ण है और उनकी सब इच्छाओं और कामनाओं से उच्च है। राज्य की अपने में स्वयं निहित नैतिकता होती है। इसमें तर्क तथा न्याय दोनों निहित हैं। अतएव शिक्षा का उद्देश्य जीवन का सामान्य रूप से और विशेष रूप मे राज्य की भलाई है।

इस दर्शन का वास्तविक परिणाम यह निकलता है कि राज्य की सत्ता को सर्वश्रेष्ठ माना जाय जो इस राज्य के नागरिकों के जीवन तथा जीवन लक्ष्य पर नियंत्रण रखती है। यही सत्ता उचित तथा अनुचित को निर्धारित करती है। यह अपने नागरिकों को इस प्रकार से मोड़ना चाहती है कि वह राज्य के कल्याण के लिए नागरिकों को बलिदान करने के लिए तत्पर रखे। शिक्षा इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली साधन हैं। अतएव राज्य शिक्षा की निश्चित एवं अपरिवर्तनशील विधि को अपनाता है जो राज्य के कल्याण का उद्देश्य लेकर चलती है। यह राज्य ही है जो इस बात को निर्धारित करता है कि क्या पढ़ाया जाए और कैसे पढ़ाया जाय। पाठ्यक्रम तथा शिक्षण पद्धति दोनों में अनुशासन, संगठन, शासन सत्ता का आदेश ग्रहण करना इत्यादि पर ही बल दिया जाता है। व्यक्तित्व का दमन किया जाता है। संसार के सब राष्ट्रों में पुरातन काल का राज्य स्पार्टा[2] इस प्रकार के राज्य का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस देश में सम्पूर्ण शिक्षा केवल एक आज्ञा-पालन का अभ्यास

1. Social aims. 2. Sparta.

था। (कुछ वर्ष पहिले इस प्रकार के राज्य का उदाहरण हमने जर्मनी में देखा था। वहाँ यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि राज्य के ऊपर उससे बड़ी और कोई नैतिक सत्ता नहीं है) अतएव उस देश में प्रारम्भिक विद्यालयों से विश्व-विद्यालयों तक की शिक्षा को इस प्रकार का बनाया गया कि वह इन विचारों को सम्पूर्ण विद्यार्थियों में भर दे। (शिक्षा को सामाजिक उद्देश्य यदि उपरोक्त रूप में लिया जाय तो वह इतना दोषपूर्ण है कि उसे तुरन्त ठुकरा दिया जाय। परन्तु प्रजातंत्र देशों में यह प्रसिद्ध है "**शिक्षा सामाजिक सेवा के लिए**"[1] या "**शिक्षा नागरिकता के लिए**" जिसका अर्थ है कि समाज की सेवा के उद्देश्य को ध्यान में रखकर शिक्षा को अधिक व्यापक और अधिक विशद रूप देना चाहिए। (सामाजिकता एवं श्रेष्ठ नागरिकता की शिक्षा पाठशालाओं में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम द्वारा तथा विभिन्न सामाजिक क्रियाओं द्वारा देनी चाहिए। (कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि यदि एक व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छाओं और उसके कर्त्तव्यों में एक नागरिक के नाते द्वन्द्व है तो व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छाओं को दबा देना चाहिए और राज्य की सत्ता को उच्च समझना चाहिए परन्तु वास्तविक रूप में व्यक्ति को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह नि.स्वार्थी बन जाए और दूसरों की आवश्यकताओं और इच्छाओं का सम्मान करे।)

(प्रोफेसर बॉगले[3] और ड्यूवी महोदय[4] का विचार है कि शिक्षा में सामाजिक उद्देश्य का अर्थ है सामाजिक कुशलता का प्राप्त करना। बॉगले महोदय ने अपनी पुस्तक "एडूकेशनल वैल्यूज" में एक सामाजिक कुशल व्यक्ति की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है :-)

(१) **आर्थिक कुशलता**[5]—जिसका अर्थ है कि व्यक्ति अपनी जीविका उपार्जन स्वयं कर सके।

(२) **निषेधात्मक नैतिकता**[6]—संकल्प शक्ति के द्वारा अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण कर लिया जाय जब कि उनको पूर्ण करने में दूसरों की आर्थिक कुशलता पर कुप्रभाव पड़ता है।

(३) **स्वीकारात्मक नैतिकता**[7]—यह संकल्प-शक्ति कि अपनी इच्छाओं को बलिदान कर दिया जाय जब कि उनको पूर्ण करने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक विकास नहीं होता। इससे तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की सम्पूर्ण क्रिया का मूल्य सामाजिक उत्तरदायित्व द्वारा निर्धारित किया जाता है।

---

1. Education for social service, 2. Education for citizenship. 3. Bagley, 4. Dewey, 5. Economic efficiency, 6. Negative morality, 7. Positive morality.

एक सामाजिक कुशल व्यक्ति एक सुनिश्चित आचरण के अनुसार कार्य करता है जिसे नैतिक आचरण कहते हैं। अतएव यह विचारधारा सामाजिक सेवा को शिक्षा के उद्देश्य के रूप में मानती है। पाठशाला में नागरिक के व्यक्तिगत अधिकारों और कर्त्तव्यों पर बल देना चाहिए। उन्हें अपने विद्यार्थियों द्वारा प्रसन्नता पूर्वक, इच्छा पूर्वक और प्रभावशाली सेवा का आयोजन करना चाहिए।

इस उद्देश्य में दोष—शिक्षा में सामाजिक उद्देश्य अपने सब अर्थों के रूप में गृहीत नहीं किए जा सकते। इसका चरम रूप निन्द्य होता है। यह दूसरे के विचारों से समझौता नहीं करता और (यह उद्देश्य व्यक्ति की सत्ता को कोई महत्व नहीं देता और न व्यक्ति के विकास को कोई स्थान देता है।)

(नागरिकता को यदि शिक्षा का आदर्श माना जाय तो वह भी खतरे से खाली नहीं है।) एक संकीर्ण दृष्टिकोण से नागरिकता की शिक्षा व्यक्ति को ऐसा बना देगी जो सरकार के हाथ में एक खिलौना मात्र बन जायगा। इसके अतिरिक्त संकीर्ण नागरिकता एक प्रकार की उद्दंड राष्ट्रीयता की भावना को जन्म देगी और इस प्रकार से रूढ़िवादी एवं अनुदार न्याय को प्रतिपादित करेगी। यह उस नारे की ओर हमें ले जायेगा कि "मेरा देश उचित या अनुचित करे सब ठीक है और एक इस प्रकार की विचारणा को प्रोत्साहन देगी जो अवैज्ञानिक एवं रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी होगी। (यदि शिक्षा नागरिकता के लिए दी जाय तो यह संसार की नागरिकता के लिए होनी चाहिए। उसका क्षेत्र संकुचित न होकर व्यापक होना चाहिए।)

(सामाजिक उद्देश्य का विरोध करने वाले यह कहते हैं कि व्यक्ति को अधिक महत्व देना चाहिए। शिक्षा को व्यक्ति का प्रशिक्षण पहिले करना चाहिए। एक अच्छा व्यक्ति ही अच्छा नागरिक बन सकता है। अतः उनकी दृष्टि से व्यक्ति प्रधान है समाज नहीं।) उनके लिये व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास ही शिक्षा का आदर्श होना चाहिए।

सामाजिक तथा व्यक्तिगत उद्देश्यों का समन्वय[1]

व्यक्तिगत विकास के लिये शिक्षा और एकाधिपति राज्य के लिये शिक्षा में किसी भी प्रकार के समन्वय की कल्पना सम्भव नहीं है। ये दोनों उद्देश्य एक-दूसरे से कोसों दूर हैं। परन्तु सामाजिक सेवा के आदर्श तथा व्यक्तिगत विकास के आदर्श में समन्वय होना कोई कठिन बात नहीं है। जब शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य समाज सेवा को प्रोत्साहित करना है तो उस समाज के

1. Synthesis between individual and social aims.

व्यक्तियों का हित होना निश्चित ही है अतः यह विचारधारा समन्वय के बहुत ही समीप है। अच्छी नागरिकता के आदर्श और शिक्षा के व्यक्तित्व के उद्देश्य में आत्मानुभूति का आदर्श निहित है न कि आत्माभिव्यक्तिका। यदि व्यक्ति में अच्छे गुणों का विकास हो गया है और व्यक्ति अपने को सबसे अधिक समाज की सेवा में लगाता है तो उससे व्यक्ति और समाज दोनों को मान्यता मिलेगी।

व्यक्तित्व का विकास और उसकी अभिव्यक्ति समाज में ही सम्भव है। समाज से परे उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। व्यक्तित्व जैसा ऐडम्स महोदय ने कहा है कि **उन कार्यों में निहित रहना है जैसा कि व्यक्ति दूसरे के साथ व्यवहार करता एवं उनके प्रति प्रतिक्रिया करता है।**[1] नन महोदय कहते हैं कि **व्यक्ति की प्रकृति जितनी आत्म-गौरव के प्रति सचेष्ट है, उतनी ही सामाजिक भी है।**[2]

हम रॉस के शब्दों में इस विवाद का अन्त कर सकते है—"सामाजिक वातावरण से विलग किये जाने पर वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं है। आत्मानुभूति को केवल समाज सेवा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और वास्तविक मूल्यों के सामाजिक आदर्श उन्हीं स्वतन्त्र व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त किये जा सकते है जिन्होंने अपनी बहुमूल्य वैयक्तिकता का विकास कर लिया है। यह एक ऐसा वृत्त है जो तोड़ा नहीं जा सकता और समाज सेवा, व्यक्तित्व, स्वतन्त्रता एवं वैयक्तिकता जिसके महत्वपूर्ण विन्दु हैं।[3]

नॅन महोदय का भी यह विश्वास है कि व्यक्तित्व का विकास तथा सामाजिक आचरण एक-दूसरे के विपरीत नहीं है। विद्यार्थियों का समाजीकरण किसी भी प्रकार से व्यक्तित्व को प्रोत्साहित करने के विरुद्ध नही है वरन् हर एक को यह स्वतन्त्रता है कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार अपनी विशेषताओं का विकास करे। सबसे उच्च कोटि का समाज वह होता है जिसमें हरेक

---

1. Adams: "Personality nearly always implies a reference to the way in which the individual concerned reacts upon other individuals 2. Nunn : Social as truly as it is self-regarding.

3. Ross : "Thus individuality is of no value and personality is meaningless term apart from the social environment in which they are developed and made manifest. Self-realization can be achieved only through social service, and social ideals of real value can come intso being only through free individuals who have developed valuable individuality. The circle cannot be broken."

व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार सहज माध्यम द्वारा समाज से वह निकाल सके जो उसकी प्रकृति के विकास के लिये वांछनीय है और अपनी विशेषताओं द्वारा समाज को समृद्ध भी बनाए।

शिक्षा में नैतिक उद्देश्य[1]

कुछ शिक्षा शास्त्रियों का विचार है कि नैतिक उद्देश्य ही शिक्षा का सबसे महान् उद्देश्य है। और सभी दूसरे उद्देश्य गौण उद्देश्य हैं। महान् शिक्षक हर्बर्ट[2] ने कहा है कि **शिक्षा का एक मात्र कार्य या सम्पूर्ण कार्य यही है कि मनुष्यों में नैतिकता का विकास करे**। बर्ट्रेन्ड रसेल[3] महोदय भी इसी उद्देश्य पर बल देते हैं। यहाँ हम नैतिकता को उच्च शिक्षा का आदर्श मानने के कारणों पर विचार करेंगे।

हर्बर्ट के नैतिकता के सम्बन्ध में विचार

उद्विकास का सिद्धान्त जिसने वंशानुक्रम की शक्तियों पर अधिक बल दिया है, शिक्षक को अपने कार्य के सम्बन्ध में निराशा से भर देता है। उद्विकास के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले यह मानते हैं कि शिक्षा व्यक्ति के सम्बन्ध में अधिक कुछ भी नहीं कर सकती। उनका मत है कि शिक्षा नैतिक शक्ति का एक निश्चित सीमा तक ही निर्माण कर सकती है। हर्बर्ट महोदय का सिद्धान्त ठीक इसके विपरीत है। उन्होंने कहा है कि शिक्षा का उद्देश्य नैतिकता का विकास है। वे कहते हैं कि नैतिकता हर समय मानवता का उच्च उद्देश्य समझा जाता है और इसी कारण यह शिक्षा का भी महान् उद्देश्य है। इस उद्देश्य की महानता पर कोई शक नहीं किया जा सकता है। एक शैक्षिक दार्शनिक को पता लगाना आवश्यक है कि कैसे यह उद्देश्य प्राप्त किया जाय। हर्बर्ट महोदय कहते हैं यह बहुमुखी रुचि[4] द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। "शिक्षण का महान् एवं अन्तिम उद्देश्य सद्गुणों के विकास की धारणा में निहित है। परन्तु शिक्षण द्वारा अन्तिम उद्देश्य के प्राप्त करने से प्रथम ही विद्यार्थी में बहुमुखी रुचियों के विकास पर बल देना चाहिए,"[5] क्योंकि उसी

---

1. Moral aims in Education, 2. Herbart 3. Bertrand Russel, 4. Many sidedness of interest, 5. The supreme final aim of instruction is indeed contained in the concept virtue. But the nearer aim which instruction in particular must set before itself in order to reach the final or may be expressed as many sidedness of interest.

के द्वारा समाज-सम्मत नैतिकता प्राप्त की जा सकती है। हर्बर्ट महोदय का कथन है कि एक व्यक्ति का आचरण तथा चरित्र उसके विचारों के दायरे या उसकी रुचियों से पता चलता है। जिन पर उसके विचारों की सीमा निर्भर रहती है अतएव शिक्षण का महत्व चरित्र निर्माण में बहुत ही अधिक होता है। विचारों के दायरे की सीमायें ही चरित्र की सीमाएँ हैं। विचारों के दायरे को सुसंस्कृत बनाना ही शिक्षा का परम कर्त्तव्य है।

मनुष्य के विचार ही उसके कार्यों को प्रेरणा प्रदान करते हैं। विचारों द्वारा ही उसकी संकल्प शक्ति का पता चलता है और संकल्प शक्ति विचारों के दायरे से उद्‌भूत होती है। अतएव हर्बर्ट महोदय कहते हैं कि शिक्षा का ठोस कार्य है विचारों के दायरे को सुसंस्कृत बनाना। हर्बर्ट के अनुसार एक मूर्ख, बुद्धिमान नही हो सकता। क्योंकि यदि एक मनुष्य अच्छे विचार नहीं रखता तो उसमें उच्च कार्य करने की उचित प्रेरणा का अभाव होगा।

हर्बर्ट महोदय की विचारधारा की आलोचना

हर्बर्ट महोदय कार्यों को प्रेरणा प्रदान करने वाले तत्व केवल प्रत्यय विचारों को मानते थे। हर्बर्ट की इस विचारधारा की आलोचना सब दूसरे शिक्षा शास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक करते हैं। कोई भी यह मानने को तैयार हो सकता है कि चरित्र निर्माण शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है परन्तु कोई भी हर्बर्ट के द्वारा निर्धारित किए हुए मार्गों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक नहीं समझता। हर्बर्ट का सिद्धान्त जैसा कि रेमण्ट[1] महोदय कहते हैं चरित्र के निर्माण में ज्ञान पर बहुत अधिक बल देता है। हर्बर्ट का कहना है कि इच्छा शक्ति विकसित होती हैं और पूर्ण रूप से निर्भर रहती है उन विचारों पर जो मस्तिष्क में स्थित होते हैं परन्तु इच्छा शक्ति का मूल आधार उन मूल प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों में निहित रहता है जो उतनी ही प्रथम और मूल है जितना कि प्रत्यक्ष-ज्ञान। तात्पर्य यह कि एक उच्च प्रकार का सुसंस्कृत व्यक्ति बुरा कार्य बुरे उदाहरणों के प्रभाव के कारण कर सकता है, या जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में बुरी आदतों के कारण या कुछ इच्छा शक्ति के दोष के कारण या इसी प्रकार के अन्य किसी कारण से जो बुद्धि पर आश्रित हो। और इसी प्रकार से एक कम शिक्षित व्यक्ति भी एक उच्च नैतिक स्तर पर हो सकता है।

हर्बर्ट के सिद्धान्त की जिसे अंग्रेजी भाषा में 'इन्टेलेक्चुलिज्म'[2] कहते है अब इन्हीं कारणों से आलोचना की जाती है। हर्बर्ट के सिद्धान्त सबसे

---

1. Raymont, 2. Intellectualism.

अधिक महत्व ज्ञान को देता है। चरित्र का शिक्षण संवेगों तथा कार्यों द्वारा सम्भव नहीं क्योंकि हर्बर्ट के अनुसार ये सब स्वयं विचारों पर निर्भर होते हैं। इन सबका फल यह है कि हमारे व्यक्तित्व का विकास केवल एकांगी होता है। युवकों के मस्तिष्क में ज्ञान भर दिया जाता है जो उन्हें कोई लाभ नहीं पहुँचाता। जब भी कार्य करने का समय आता है वे हेमलेट[1] (शेक्सपीयर महोदय के ड्रामे 'हेमलेट' का नायक) की तरह एक अनिश्चित विचारों की अवस्था में रहते हैं। अतएव न केवल उनके ज्ञान का ही वर्धन करना चाहिए परन्तु कार्य करने की उचित आदतों का भी निर्माण उनमें करना चाहिए।

बरट्रेन्ड रसेल का दृष्टिकोण[2]

बरट्रेन्ड रसेल महोदय भी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य उचित चरित्र का निर्माण समझते हैं। शिक्षा का उद्देश्य चरित्र की महानता का विकास करना है। रसेल चार गुणों को हर एक विद्यार्थी में विकसित करना आवश्यक समझते हैं। वे गुण हैं—पौरुष,[3] साहस,[4] सम्वेदनशीलता[5] और बुद्धि[6]। पौरुष मूल्यवान वस्तु हैं क्योंकि यह संसार के प्रति रुचि उत्पन्न करता है और कठोर परिश्रम की शक्ति प्रदान करता है। साहस से तात्पर्य है असंगत भय[7] का अभाव। साहस की भावना को इस प्रकार से प्रोत्साहित करना चाहिए कि व्यक्ति खतरों का सामना कर सके। समवेदनशीलता से तात्पर्य है वह गुण जिसके कारण हम बहुत सी वस्तुओं की ओर प्रसन्नतापूर्वक प्रभावित हो जाते है अथवा उचित वस्तुओं के प्रति स्वेच्छा से आकर्षित होते हैं। इसका अर्थ है सहानुभूति, उन व्यक्तियों के साथ जो निकट हैं अथवा जो दूर हैं। अपने राष्ट्र के व्यक्तियों के साथ और दूसरे राष्ट्र के व्यक्तियों के साथ भी। मित्रों और दुश्मनों के साथ भी। बुद्धि से रसेल महोदय का अर्थ है वास्तविक ज्ञान तथा ज्ञान को प्राप्त करने की शक्ति दोनों ही। हालाँकि बुद्धि का विशिष्ट रूप से दूसरे गुण से ही तात्पर्य माना जाता है। बिना बुद्धि के हमारे यह जटिल वर्त्तमान संसार जीवित नहीं रह सकता अतएव बुद्धि का विकास करना रसेल महोदय शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य मानते हैं।

जिन गुणों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे एक स्वस्थ व्यक्तित्व के लिये परम आवश्यक हैं। परन्तु प्रत्येक विद्यार्थी के कुछ विशिष्ट गुण होते हैं। अतः उसे ऐसी सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए जिससे वह अपने गुणों का विकास एक कलाकार या एक कवि या एक नाटककार इत्यादि के रूप में कर सके।

---

1. Hamlet, 2. Bertrand Russel's view.
3. Vitality. 4. Courage, 5. Sensitiveness and 6. Intellect, 7. Irrational fear.

रसेल महोदय का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में इस प्रकार के गुणों का विकास करना शिक्षक का मुख्य कार्य नहीं है। उसको विशेष तौर से अपना ध्यान उन वस्तुओं की ओर केन्द्रित करना चाहिए जो सामान्य गुणों के विकास में सहायता प्रदान करें। तात्पर्य यह कि व्यक्ति में सद्गुणों का विकास हो।

रसेल महोदय शिक्षा के प्रति अपने दृष्टिकोण में बहुत व्यावहारिक हैं। उन्होंने दूर के उद्देश्यों को शिक्षा के कार्यक्रम से दूर ही रखा है किंतु यह शैक्षिक सिद्धान्त में एक दोष ही है न कि गुण। शिक्षा के उद्देश्य को हम नैतिक जीवन से जो मानव जीवन के उद्देश्यों को निर्धारित करता है, विलग नहीं कर सकते। विभिन्न सुन्दर गुणों को एकता के सूत्र में बाँधना आवश्यक है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण

आदर्शवादी नैतिक उद्देश्य को शिक्षा में अन्तिम उद्देश्य के रूप में देखते है। आदर्शवादियों का नैतिकता से तात्पर्य है व्यक्तिगत पूर्णता की खोज। वे अखिल ब्रह्माण्ड में सत्य, शिव और सुन्दर तीन को ही पूर्ण मानते हैं। अतएव आदर्शवादी कहते है कि शिक्षा द्वारा युवको को ईमानदारी, न्याय, पवित्रता, सत्य, सुन्दर तथा शिव जिन वस्तुओं में निहित है उन्हें प्राप्त करने की ओर ही अग्रसर करे।

नैतिक शिक्षा का उद्देश्य प्राचीन भारत तथा ग्रीक की शिक्षा प्रणाली में सबसे महान् माना जाता था। चरित्र तथा आचरण की आधार शिला अध्यापक द्वारा स्वयं के उदाहरण तथा अपने प्रभाव द्वारा रखी जाती थी। वह बालकों को पवित्रता, आदर करना, आत्म बलिदान के लिए तत्पर रहना, शुद्धता प्राप्त करने के लिए चेष्टा करना और बालकों में कर्त्तव्य की उच्च भावना को प्रोत्साहित करने की प्रेरणा देते थे।

नैतिकता सब प्रकार के आचरण का गुण है चाहे वह स्वास्थ्य के लिए हो चाहे ज्ञान के लिए। जब एक विद्यार्थी को अपने शरीर की सुरक्षा की शिक्षा दी जाती है या सत्य तथा ज्ञान की शिक्षा दी जाती है तो उसको अच्छे आचरण का प्रशिक्षण मिल जाता है। अतएव शिक्षा का नैतिक उद्देश्य, ज्ञान उद्देश्य के विपरीत नहीं है।

नैतिकता शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक उद्देश्य का भी विरोधी नहीं है। एक अच्छे चरित्र वाला व्यक्ति ऐसा व्यक्ति है जो कार्य को उचित प्रकार से नैतिक आचरण के अनुरूप करता है। अतः वह व्यक्ति कार्य के औचित्य पर चिन्तन द्वारा विचार करता है। इस प्रकार के गुण; जैसे सद्गुण स्वतन्त्रता

तथा जीवन का आदर, सत्य, न्याय इत्यादि व्यक्ति में सामाजिक कुशलता को भी प्रोत्साहित करेंगे।

शिक्षा के नैतिक उद्देश्य और सौन्दर्य बोध[1] के उद्देश्य में भी समन्वय स्थापित किया जा सकता है। नैतिकता तथा कला का घनिष्ट सम्बन्ध है। कला नैतिक जीवन के लिए उस सीमा तक शिक्षा देती है जिस सीमा तक वह सुन्दर भावों तथा अच्छी सहानुभूति की भावना को प्रोत्साहित करती है। यह उन विचारों को प्रतिपादित करती है जो नैतिक जीवन का विकास करते हैं।

इस उद्देश्य के मुख्य दोष

इस उद्देश्य के मुख्य दोष दो प्रकार से बताए जा सकते है :—

(१) यह उद्देश्य एक पक्षीय है। यदि एक विद्यार्थी के नैतिक आचरण को ही एक मात्र महत्व दिया जाय तो उसके सब दूसरे गुणों को छोड़ना पड़ता है। इस आलोचना के प्रति नैतिकता के समर्थक यह कह सकते हैं कि नैतिक उद्देश्य पर बल देने से यह तात्पर्य नहीं है कि शिक्षण को या पाठ्यक्रम को महत्व न दिया जाय। मस्तिष्क का उचित विकास उन वस्तुओं को प्राप्त करना है जो ठीक है।

(२) शुद्ध या अशुद्ध, उचित या अनुचित, अच्छे या बुरे इत्यादि के सबंध मे नीति-शास्त्र के दृष्टिकोण से बहुत सी विवादास्पद कठिनाइयाँ हैं। अतएव एक अध्यापक के लिए अत्यन्त कठिन है कि वह उनको कैसे एक उचित अर्थ प्रदान करे। इस दृष्टिकोण के समर्थक कहते हैं कि अध्यापक को विवादों मे पड़ने की कोई आवश्यकता नही है। उसको तो नैतिकता के अर्थ के उन गुणों को समझना चाहिए जिन्हें उसके समय के समाज के उच्च सदस्य मानते है।

निष्कर्ष—यदि चरित्र को एक व्यापक अर्थ प्रदान किया जाय तो यह शिक्षा का एक उचित उद्देश्य माना जा सकता है। अच्छा चरित्र व्यक्तित्व के गुणों का एक अच्छा संगठन माना जा सकता है। यह व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्ति के अनुकूल होता है और उन मूल्यों के अनुकूल भी, जिन्हें समाज स्वीकार करता है। अतएव शिक्षा का उद्देश्य एक सन्तुलित एवं सम्यक् व्यक्तित्व का विकास करना है।

---

1. Aesthetic aim.
2. Conclusion.

सारांश

शिक्षा के उद्देश्य जीवन-दर्शन पर निर्भर होते हैं और विभिन्न मनुष्यों का जीवन दर्शन विभिन्न होता है। अतएव शिक्षा के उद्देश्य भी विभिन्नता लिये होते हैं। परन्तु ऐसी दशा में भी हम यह नहीं कह सकते कि क्योंकि शिक्षा का कोई एक या एक से अधिक उद्देश्य सर्वमान्य नहीं है इसलिये शिक्षा उद्देश्य-रहित रूप से ही दी जाय। यह सम्भव नहीं कि बिना किसी उद्देश्य के शिक्षा का कार्य सुचारू रूप से चलता रहे। शिक्षा दोषों से परिपूर्ण हो जाती है जब उसे कोई भी उद्देश्य प्रदान नहीं किया जाता। उद्देश्यों के ही प्रकाश में उचित रूप से पाठ्यक्रम का निर्माण, शिक्षा की पद्धति का चुनाव, अनुशासन की समस्या का हल तथा विद्यालयों का संगठन इत्यादि हो सकता है।

शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान

आदर्शवादी इस उद्देश्य का प्रतिपादन करते हैं। भारतीय दर्शन में भौतिक ज्ञान तथा आत्म-ज्ञान दोनों को महत्ता प्रदान की गयी है।

वेबस्टर महोदय के अनुसार ज्ञान, वह जानकारी है जो वास्तविक अनुभव द्वारा प्राप्त होती है। प्लेटो महोदय उस ज्ञान को सत्य मानते हैं जो प्रत्यय ज्ञान है। और ड्यूवी महोदय ज्ञान को एक प्रयोजनवादी अर्थ प्रदान करते हैं।

शिक्षा में ज्ञान-उद्देश्य सबसे अधिक ग्राह्य है। ज्ञान बिना संसार में किसी प्रकार का विकास संभव नहीं है, न नैतिकता संभव है और न संस्कृति का आदान प्रदान हो सकता है।

परन्तु ज्ञान को हम शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं मान सकते क्योंकि इस दशा में ऐसे मानवों का मिलना कठिन हो जायगा जो विशाल हृदय हों। ज्ञान उद्देश्य स्वयं में साध्य नहीं हो सकता। हाँ यह दूसरे किसी उद्देश्य के लिए साध्य के रूप में मान्य हो सकता है। यदि इसे ही साध्य मान लिया जाय तो संसार विषमताओं से भर जायगा।

हम ज्ञान के उस रूप को जो जाति के अनुभव को विद्यार्थी के अनुभव के अन्तर्गत लाता है, शिक्षा के उद्देश्य रूप में मान सकते हैं।

शिक्षा का सांस्कृतिक उद्देश्य

एच० रग महोदय संस्कृति का अर्थ मनुष्यों के सम्पूर्ण जीवन को जो समूहों के साथ सम्बद्ध है, मानते हैं। ब्राउन महोदय, टेलर महोदय तथा सदरलैंड एवं वुडवर्ड महोदय भी संस्कृति से क्या तात्पर्य है इसकी व्याख्या करते हैं। इन सब के द्वारा दी गई परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते

हैं कि संस्कृति का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। इसमें मानव की सामाजिक संस्थाऐं तथा मनोवैज्ञानिक विचार—दोनों का समावेश है।

शिक्षा में सांस्कृतिक उद्देश्य से तात्पर्य है जाति की संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमित करने में सहायता प्रदान करना। इस उद्देश्य को शिक्षा का मूल उद्देश्य कहने का यही अर्थ है कि वर्तमान पीढ़ी सुसंस्कृत बन जाय।

सांस्कृतिक उद्देश्य को शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मानने में यह गुण है कि शिक्षा द्वारा हृदय तथा मस्तिष्क दोनों का शिक्षण हो जाता है। संस्कृति आत्मा की सार-ग्राहिणी प्रवृत्ति है।

संकीर्ण व्यक्ति सांस्कृतिक उद्देश्य को बहुत दूषित बना देते हैं। वे वर्तमान की ओर ध्यान न देकर हर प्रकार की प्रेरणा पूर्व काल में स्थित मानव तथा उनकी सभ्यता से ग्रहण करते हैं।

शिक्षा का वैयक्तिक विकास का उद्देश्य

वैयक्तिक उद्देश्य से तात्पर्य है कि शिक्षा द्वारा इस प्रकार की दिशाएं प्राप्त की जाएँ जिनमें व्यक्तित्व का विकास पूर्ण रूप से हो ताकि वह मानव जीवन के लिए अपना स्वयं का योग दे सके। इस उद्देश्य में मुख्य बात यह है कि बालक को अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों को प्रकट एवं विकसित करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है।

वैयक्तिकता दो रूप में देखी जा सकती है-(१) आत्माभिव्यक्ति, और (२) आत्मानुभूति। आत्माभिव्यक्ति व्यक्तित्व के विकास के रूप में आत्म प्रकाशन की भावना पर बल देती है। आत्मानुभूति के दृष्टिकोण को सामने रखते हुए शिक्षा का ध्येय यह कहा जा सकता है कि विद्यार्थी के गुणों का पता लगाया जाय और उनको वह मार्ग बताया जाय जिस पर चलकर वह अपने सबसे उच्च गुण की अनुभूति कर सकें।

व्यक्तित्व के उद्देश्य को एकमात्र उद्देश्य मानने में यह दोष हैं

(१) इस उद्देश्य को मानने का अर्थ यह है कि सामाजिक और असामाजिक प्रवृत्तियों को विकास का समान अवसर दिया जाय।

(२) यह उद्देश्य व्यावहारिक रूप में अच्छा नहीं है क्योंकि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अलग विद्यालय या पाठ्यक्रम का आयोजन करना संभव नहीं है।

(३) स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास में व्यक्ति केवल अपने को ही महत्वपूर्ण समझता है।

(४) वैयक्तिकता का विकास शिक्षा में उद्देश्य के रूप में मनुष्य की तर्क शक्ति की ओर कोई ध्यान नहीं देता।

(५) व्यक्ति के जैविक विकास पर अधिक बल देने से वंशानुक्रम और मूल प्रवृत्तियों को ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है और वातावरण तथा पाठ्य-क्रम का प्रभाव अत्यन्त कम कर दिया जाता है।

(६) व्यक्तित्व के विकास के लिये वातावरण से अनुकूलन अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता है परन्तु शिक्षा द्वारा केवल वातावरण का अनुकूलन ही प्राप्त नहीं करना है अपितु इसमें प्रगति भी लानी है।

(७) यह उद्देश्य अनुभव के सामाजिक स्वरूप का वर्णन करने में भी असफल रहता है।

(८) यह आत्म-प्रदर्शन की भावना पर ही बल देता है।

शिक्षा में आत्मानुभूति उद्देश्य का उचित हो सकता है परन्तु आत्माभिव्यक्ति का कदापि नहीं।

सामाजिक उद्देश्य

सामाजिक उद्देश्य अपने चरम स्वरूप म राज्य को एक उच्च सत्ता के रूप में देखते हैं। राज्य द्वारा ही पाठ्यक्रम तथा शिक्षण-पद्धति दोनो मे अनुशासन, संगठन सत्ता का आदेश ग्रहण करना इत्यादि का निर्धारण होता है। इस रूप में शिक्षा का यह उद्देश्य अत्यन्त दोषपूर्ण है। परन्तु प्रजातन्त्र देशों में जो सामाजिक उद्देश्य का रूप अपनाया जाता है वह है "शिक्षा समाज सेवा" के लिए या "शिक्षा नागरिकता" के लिए।

प्रोफेसर बाँगले और ड्यूवी महोदय का विचार है कि शिक्षा में सामाजिक उद्देश्य का अर्थ है सामाजिक कुशलता का प्राप्त करना। एक सामाजिक कुशल व्यक्ति की मुख्य विशेषताएँ हैं—(१) आर्थिक कुशलता, (२) निषेधात्मक नैतिकता, तथा (३) स्वीकारात्मक नैतिकता।

शिक्षा में सामाजिक उद्देश्य अपने सब अर्थों मे गृहीत नहीं किए जा सकते। सकीर्ण नागरिकता का उद्देश्य हमे मान्य नहीं हो सकता। यदि शिक्षा को नागरिकता का उद्देश्य अपने समक्ष रखना है तो उसे संसार की नागरिकता के लिये व्यक्ति को तैयार करना चाहिए। शिक्षा में व्यक्ति को भी प्रधानता देनी चाहिए।

सामाजिक तथा व्यक्तिगत उद्देश्यों का समन्वय

सामाजिक सेवा के आदर्श तथा व्यक्तिगत विकास के आदर्श में समन्वय सम्भव है। यदि व्यक्ति मे अच्छे गुणो का विकास हो गया हैं और व्यक्ति अपने को सबसे अधिक समाज सेवा में लगाता है तो उससे व्यक्ति और समाज दोनों

का हित होगा। नन महोदय के विचारानुसार वैयक्तिकता का विकास तथा सामाजिक आचरण एक-दूसरे के विपरीत नहीं है।

शिक्षा में नैतिक उद्देश्य

हर्बर्ट महोदय नैतिकता को ही शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य मानते हैं। उनके अनुसार यह उद्देश्य बालक की बहुमुखी रुचियों के विकास पर बल देकर प्राप्त किया जा सकता है। हर्बर्ट महोदय कार्यों को प्रेरणा प्रदान करने वाले तत्व केवल प्रत्यय विचारों को मानते है। आजकल इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की जाती है। बालकों के मस्तिष्क को केवल ज्ञान से भरना, शिक्षा कार्य नहीं है वरन् उनमें उचित आदतों का भी निर्माण करना चाहिए।

रसेल महोदय भी शिक्षा का उद्देश्य उचित चरित्र का निर्माण समझते हैं। वे चार गुणों को हर विद्यार्थी में विकसित करना आवश्यक समझते है। वे गुण हैं—(१) पौरुष, (२) साहस, (३) संवेदनशीलता, और (४) बुद्धि। परन्तु रसल महोदय द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सुन्दर गुणों को एकता के सूत्र में बाँधना आवश्यक है।

आदर्शवादी नैतिक उद्देश्य को शिक्षा में अन्तिम उद्देश्य के रूप में देखते हैं। शिक्षा मे नैतिक उद्देश्य न ज्ञान उद्देश्य का विरोधी है न व्यक्तिगत विकास का और न ही सामाजिक विकास का। इस उद्देश्य मे और सौंदर्य बोध के उद्देश्य में भी समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

इस उद्देश्य के ये दोष है (१) यह एकाङ्गी है (२) आदर्शों, मूल्यों, सत्यों इत्यादि का निर्धारण विवादपूर्ण है। यदि इस उद्देश्य को व्यापक अर्थ प्रदान किया जाय तो यह शिक्षा का श्रेष्ठ उद्देश्य माना जा सकता है।

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. शिक्षा के विभिन्न मुख्य उद्देश्यों का वर्णन कीजिए। इनमें से किस उद्देश्य को आप सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं और क्यों ?
२. व्यक्तिगत तथा सामाजिक उद्देश्यो का वर्णन कीजिए। इनमें आप किस प्रकार समन्वय स्थापित कर सकते हैं ?
३. शिक्षा का केवल एक ही उद्देश्य होना चाहिए और वह है नैतिकता। इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कोजिए तथा इस बात पर प्रकाश डालिए कि विद्यालयों में यह कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?
४. अमरीका का दर्शन प्रयोजनवाद है, रूस का साम्यवाद तथा प्राचीन

भारत का आदर्शवाद। स्पष्ट रूप से वर्णन कीजिये कि वर्तमान भारत का शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिए।

५. शिक्षा में ज्ञान उद्देश्य से क्या तात्पर्य है? इस उद्देश्य को हम शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य क्यों नहीं मान सकते।

६. नागरिकता के लिए शिक्षा से आप क्या समझते हैं? आप अपने शिष्यों में नागरिकता की भावना का विकास किस प्रकार करेंगे।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) नन : **एडूकेशन इट्स डेटा एन्ड फर्स्ट प्रिन्सिपुल्स**
(२) रॉस : **ग्राउन्डवर्क ऑफ एडूकेशनल थ्योरी**
(३) रेमन्ट : **प्रिन्सिपुल्स ऑफ एडूकेशन**
(४) ब्राउन : **एडूकेशनल सोशियोलॉजी**
(५) ब्रुबेचर : **माडर्न प्रिन्सिपुल्स ऑफ एडकेशन**
(६) अदावल : **भारतीय शिक्षा सिद्धान्त**
(७) अग्रवाल : **शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त**

— :o: —

अध्याय ८

स्वतंत्रता और अनुशासन[1]

अनुशासन किसी भी देश, राष्ट्र या समाज के जीवन की सबसे अमूल्य निधि है और जिस प्रकार अनुशासन का मूल्य राष्ट्र के जीवन में बहुत अधिक है उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन के लिये भी यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि मानव समाज के लिए बालक, विद्यालय में तैयार किये जाते हैं। अतएव विद्यालयों में भी अनुशासन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। हर एक समाज में रहने वाले प्राणी को कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं परन्तु इसके बदले में समाज उनसे कुछ चाहता भी है। प्राणियों को अधिकार तो मिल जाते हैं परन्तु उन्हें जो कर्त्तव्य समाज के प्रति निभाने पड़ते हैं वे भी आवश्यक हैं। बिना कर्त्तव्यों के अधिकारों का कोई मूल्य नहीं। इसी प्रकार एक विद्यालय में बालकों को शिक्षा दी जाती है, उनके जीवन को सुदृढ़ और सुन्दर बनाया जाता है परन्तु यह भी उनसे आशा की जाती है कि वे विद्यालय के नियमों आदि का पालन करें और विद्यालय में उचित व्यवहार को अपनायें। इस प्रकार अधिकार और उत्तरदायित्व या कर्त्तव्य आपस में सह-सम्बन्धी हैं। उसी समाज की व्यवस्था अच्छी मानी जाती है जिसमें समाज का प्रत्येक सदस्य अपने उत्तरदायित्व को समझ कर अपने कर्त्तव्यों का सुन्दरता पूर्वक निर्वाह करता है। व्यक्ति के कर्त्तव्य और

1. Freedom and discipline.

अधिकारों पर नियंत्रण रखने के लिये प्रत्येक राष्ट्र कुछ कानून बनाता है और प्रत्येक नागरिक को उनका पालन करना होता है। यदि देश में कानून न हो या सब नागरिक कानून को भंग करने पर ही तुले हों तो देश में अराजकता फैल जाती है।

विद्यालयों का संगठन भी कुछ विशिष्ट नियमों के आधार पर होना चाहिए अन्यथा समाज द्वारा वे जिस उद्देश्य के लिये स्थापित किये गये हैं वह निष्फल हो जायगा। विद्यालय एक लघु समाज है[1] और इसीलिए जो बात समाज के लिए ठीक है वह विद्यालय के लिए भी ठीक है। इसके अतिरिक्त विद्यालय द्वारा ही समाज के सदस्यों या देश के नागरिकों में अपने कर्त्तव्यों के प्रति उच्च भावना का विकास करना संभव है। यहाँ बालकों में आरम्भ से ही इस बात की धारणा बैठा दी जाती है कि कर्त्तव्यपरायणता एक व्यक्ति के लिए सबसे मूल्यवान वस्तु है। बालकों में सामाजिकता की भावना का विकास कर दिया जाता है और उनकी उन प्रवृत्तियों को जो व्यक्तिगत हैं तथा समाज के लिए हानिकारक हैं उचित रूप से शोधन करके ठीक मार्ग की ओर उन्मुख किया जाता है। परंतु यह सब विद्यालय उसी समय कर पाते है जब उनमें उचित प्रकार का अनुशासन हो। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि उचित प्रकार के अनुशासन से हमारा तात्पर्य क्या है? परन्तु उचित अनुशासन क्या है? इसका उत्तर देने से पहले हमें अनुशासन के विभिन्न दृष्टिकोणों को समझना आवश्यक है—

अनुशासन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण

अनुशासन की पृष्ठ भूमि पर ध्यान देने से हम देखते हैं कि समय-समय की राजनीतिक, धार्मिक तथा दार्शनिक विचार धारा के साथ-साथ अनुशासन का दृष्टिकोण बदलता रहता है। प्राचीन काल में समाज की व्यवस्था ऐसी थी कि नियमों का पालन तथा देश के कानूनो की मान्यता कठोर दंड के भय से कराई जाती थी। यह माना जाता था कि राजा द्वारा कोई त्रुटि हो ही नहीं सकती।[2] अतएव अनुशासन से तात्पर्य, बर्बरता पूर्ण विधियों से देश तथा समाज के नियमों को समाज के सदस्यों द्वारा मनवाना ही उन्हें अनुशासित करना था। अनुशासन का यही दृष्टिकोण विद्यालयों की शिक्षा मे भी मान्य था। अनुशासन से तात्पर्य था कि विद्यार्थी कक्षा में शान्ति पूर्वक बैठें और कक्षा में अच्छी व्यवस्था बनाये रखें। अध्यापकों का कहना मानना विद्यार्थियों का सबसे मुख्य कर्त्तव्य समझा जाता था। अध्यापकों से यह आशा की जाती थी कि वे डंडे के जोर से कक्षा मे अनुशासन रखेगें। अध्यापकों का बालको के ऊपर पूर्ण

1. Society in miniature. 2. King can do no wrong.

अधिकार समझा जाता था और कहा जाता था कि "डंडे से छुटकारा दो तो बालक बिगड़ जायेगा[1]।" एक डंडा और पुस्तक शिक्षा प्रदान करने के सबसे मूल्यवान साधन समझे जाते थे। सारे विद्यालय का वातावरण अधिनायकत्व से पूर्ण और क्रूर होता था। बालक को कोई स्वतंत्रता नहीं थी कि वह कुछ बोले। उसे तो केवल अध्यापक की आज्ञा पालन ही करना था, चाहे वह कैसी भी आज्ञा क्यों न हो।

परन्तु इस प्रकार का अनुशासन बालकों को निष्क्रिय श्रोता बना देता है। वे आत्म-विश्वास खो बैठते है। वे स्वयं कोई भी निर्णय लेने में असफल हो जाते हैं। वे केवल दूसरों के इशारे पर नाचने वाले बन जाते हैं। यह स्थिति समाज की प्रगति को रोक देती है क्योंकि समाज की प्रगति उसके सदस्यों के स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति में ही निहित है।

मनोविज्ञान के विकास के साथ अनुशासन के सम्बन्ध में धारणा का दूसरा दौर आरम्भ होता है। अनुशासन को मन के प्रशिक्षण का रूप दिया जाने लगा। यह विश्वास किया जाने लगा कि मानसिक प्रशिक्षण के लिए कुछ विषयों का पढ़ना आवश्यक है और यह कि यदि इन विषयों को कठोर नियंत्रण के साथ पढ़ाया जाये तो इनके द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान दूसरे विषयों में संक्रमित[2] हो जाता है। अतएव शिक्षा का ध्येय मन का प्रशिक्षण माना गया और इसके लिए यही उपयुक्त समझा गया कि बालको को कठोर दण्ड के भय द्वारा अनुशासित किया जाय। अनुशासन से तात्पर्य था बाहरी शक्तियों द्वारा कक्षा या स्कूल में व्यवस्था रखना। बाहरी शक्तियों से यहाँ अर्थ अध्यापकों या अभिभावकों से ही है। यह विश्वास किया जाता था कि यदि बालकों को मार-पीट कर या अध्यापक के व्यक्तित्व के भय के कारण आज्ञा पालन, समय की पाबन्दी, और दूसरी अन्य आदतें जो सामाजिक दृष्टिकोण से उचित हैं, सिखा दी जायें तो बालक उनका हर स्थिति में उपयोग करने के लिए तैयार कर दिया जाता है। भय और दण्ड का सिद्धान्त अनुशासन के लिए अच्छा समझा गया।

१९ वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों मे अनुशासन के प्रति दृष्टिकोण में बहुत परिवर्तन आगया। इस समय की राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति के प्रभाव ने अनुशासन के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर ला दिया। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बल दिया जाने लगा और राजा कोई त्रुटि नहीं कर सकता, इस

---

1. Spare the rod and spoil the child. 2. Transfer.

सिद्धान्त को ठुकराया जाने लगा। शक्ति मनोविज्ञान का विरोध हुआ और अनुशासन रखने में भय और दण्ड को अच्छा नहीं समझा जाने लगा।

शिक्षा में आधुनिक विचारधारा का प्रादुर्भाव बहुत कुछ अमरीकी दार्शनिकों के प्रयास का फल था। परन्तु रूसो महोदय ने एक नया रास्ता दिखाया जिसे हम कभी नहीं भूल सकते। इस काल में पाठ्यक्रम के स्थान पर बालक को शिक्षा का केन्द्र माना जाने लगा। विद्यालय की क्रियायें तथा शिक्षा को बालकों की रुचियों तथा प्रकृति के अनुसार दिये जाने पर बल दिया जाने लगा। बालक की रुचियों और प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करके उसके ऊपर नियन्त्रण को महत्व दिया जाने लगा। प्रेम तथा सहानुभूति पर ही केन्द्रित करके अनुशासन का प्रतिपादन होने लगा। बालक के अपराधों के प्रति यह दृष्टिकोण अपनाया गया कि उनके लिए उसे सजा न दी जाय परन्तु उसे अपने अपराध को स्वयं ही समझने के लिए समय देना चाहिए और इस प्रकार ऐसी परिस्थिति पैदा करनी चाहिए जिससे बालक अपने हृदय से यह निर्णय करे कि उसे अपराध को फिर नहीं दुहराना चाहिए। फ्रोबेल[1] महोदय ने अपनी किंडरगार्टेन[2] शिक्षा प्रणाली में इसी प्रकार के अनुशासन पर महत्व दिया है।

अमरीका में ड्यूवी[3] महोदय के शिक्षा दर्शन ने अनुशासन के नये अर्थ को बहुत ही स्पष्ट और पूर्ण ढंग से हमारे समक्ष रखा। उन्होंने व्यक्तिगत विकास को सामाजिक वातावरण में ही उचित समझा। उन्होंने प्रतिपादित किया कि व्यक्ति के नैतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक विकास को एक साथ विकसित होने के लिये शिक्षा देनी चाहिए। विद्यालय का कार्य केवल बौद्धिक विकास ही नहीं है वरन् नैतिक तथा सामाजिक विकास भी करना है। इसके लिए विद्यालय में सामाजिक वातावरण का होना आवश्यक है। अनुशासन के लिए उन्होंने इस विचार को महत्व दिया कि बालक का विद्यालय के सामाजिक जीवन में भाग लेने से उसमें सहयोग की भावना का विकास होगा और विद्यालय के सामाजिक, बौद्धिक, नैतिक तथा शारीरिक कार्यक्रम में भाग लेकर अनुशासन की महत्ता को समझेगा। अतएव ड्यूवी महोदय बाह्य साधनों द्वारा अनुशासन के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। वे विद्यालय के वास्तविक कार्यक्रम में भाग लेकर बालक में अनुशासन की भावना के विकास पर बल देते हैं। अध्यापक का कर्त्तव्य केवल यह समझा जाता है कि वह बालकों के लिए उचित वातावरण को निर्धारण कर दे। मारपीट तथा दंड के भय द्वारा अनुशासन की व्यवस्था कभी न रखना चाहिए।

आधुनिक काल में अनुशासन का अर्थ है कि बालक भौतिक तथा सामाजिक

---

1. Froebel, 2. Kindergarten, 3. Dewey.

वातावरण में रह कर उचित व्यवहार को सीखे। उस पर कोई ऐसा नियंत्रण नहीं होना चाहिए जो उसकी स्वतन्त्रता का दमन करे। उसकी प्रवृत्तियों का भय के कारण अवरोध नहीं होना चाहिए। मारपीट, दंड, पुरस्कार इत्यादि के द्वारा बालकों को अनुशासित नहीं करना चाहिए। विद्यालय का वातावरण जनतन्त्रीय भावना से ओतप्रोत होना चाहिए। प्रत्येक बालक को अपने कर्त्तव्य और अधिकारों से अवगत होकर सामाजिक जीवन में भाग लेना चाहिए। सहयोग, सहानुभूति तथा प्रेम का ऐसा वातावरण होना चाहिए कि बालक सदैव सब की भलाई के कार्यों में आनन्द लें। इस प्रकार का वातावरण विद्यालय तथा समाज दोनों के जीवन को सुखदाई बनाने में बहुत सहायक होता है।

ऐडम्स[1] महोदय के अनुसार अनुशासन के तीन दृष्टिकोण :—हमने ऊपर अनुशासन सम्बन्धी तीन दृष्टिकोणों का वर्णन किया और उनके विकास पर प्रकाश डाला। ऐडम्स महोदय भी अनुशासन के तीन दृष्टिकोणों का वर्णन करते हैं और उनको निम्न विचारधारा के नाम से सम्बोधित करते हैं .—

(१) अवदमानात्मक[2]

(२) प्रभावात्मक[3]

तथा (३) मुक्त्यात्मक[4]

अवदमनात्मक विचारधारा—इसमें मारपीट द्वारा बालक के ऊपर अनुशासन रखने पर बल दिया जाता था। परन्तु जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है कि दमन से बालक की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है अतएव यह विचारधारा बालकों को उचित शिक्षा प्रदान करने में अत्यन्त घातक सिद्ध होती है।

प्रभावात्मक विचारधारा—दमनात्मक नीति का घोर विरोध करती है। यह बालकों को दंड देना बहुत निन्दनीय कार्य समझती है और यह प्रतिपादित करती है कि अध्यापकों को अपने अच्छे व्यवहार, आचरण तथा प्रेम द्वारा बालकों में अच्छी आदतों का निर्माण करना चाहिए। अनुशासन में अध्यापक का प्रभाव सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा गया परंतु इस विचारधारा की भी आलोचना की गई क्योंकि इसमें देखा गया कि बालक का आत्म-विकास रुक जाता है यदि अनुशासन को अध्यापक या कोई अन्य बाहरी शक्ति बालकों में अपने प्रभाव द्वारा प्रोत्साहित करे। रॉस महोदय इस विचारधारा के प्रमुख प्रवर्त्तकों में से हैं परंतु वे अध्यापकों द्वारा बालक के स्वाभाविक

---

1. Adams 2. Repressionistic, 3. Impressionistic, 4. Emancipationistic.

विकास को प्रभावित करने को मना करते हैं। फिर भी इस विचारधारा में यह दोष रह ही जाता है कि अध्यापक अपने को शिक्षा में सबसे महत्वपूर्ण खण्ड समझने लगता है और बालक के व्यक्तित्व को कोई स्थान नहीं दिया जाता। बालक भी अध्यापक के गुणों के साथ-साथ दोषों को भी ग्रहण कर लेता है। उसमें यह देखने की क्षमता नष्ट हो जाती है कि अध्यापक में क्या गुण है और क्या दोष।

मुक्त्यात्मक विचारधारा—इसमें अनुशासन का रहस्य बालक की स्वतन्त्रता में निहित है। यह विश्वास किया जाता है कि यदि बालक के ऊपर अवदमनात्मक नियन्त्रण न रख कर उसे स्वाभाविक विकास के अवसर प्रदान किये जायँ तो वह अच्छी आदतों को सीख लेगा। यह विचारधारा आजकल सर्व मान्य होती जा रही है।

अनुशासन-सम्बन्धी नवीन विचारधारा[1]

हमने अनुशासन सम्बन्धी नवीन विचारधारा की ओर ऊपर संकेत किया है। क्योंकि अवदमनात्मक या प्रभावात्मक दृष्टिकोण बालक के विकास में बाधक होते हैं इसीलिए नवीन विचारधारा में मुक्त्यात्मक दृष्टिकोण को महत्व दिया जाता है।

अनुशासन का नवीन दृष्टिकोण **स्वानुशासन**[2] के रूप में है और इसकी मुख्य विशेषता है **आत्म-नियंत्रण**[3]। अध्यापक तथा अभिभावक बालकों में छोटी आयु से ही आत्म-विश्वास और कर्त्तव्यपरायणता की भावना का विकास कर सकते हैं। उन्हें चाहिए कि वे यह चेष्टा करें कि बालक में स्वयं अपने कर्त्तव्य निभाने के प्रति उचित भावना का विकास हो। उन्हें अपने कार्य को करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो और वे स्वतन्त्रतापूर्वक वातावरण में अनुशासित रहने के मूल्य को समझें। बालकों को कार्यों में स्वतन्त्रता प्रदान करने से यहाँ यह आशय कदापि नहीं कि बालको को मनमानी करने के लिए स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय। बालकों में नियमों का पालन न करने तथा सत्ता का अनादर करने की आदतों का कभी भी निर्माण नहीं होने देना चाहिए।

कुछ शिक्षा शास्त्री नवीन अनुशासन के दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह विद्यालय में अव्यवस्था तथा अनुशासनहीनता को प्रोत्साहित करता है। बालक स्वच्छन्दता प्राप्त करते हैं और इस प्रकार उनके ऊपर से सब तरह के नियंत्रण उठ जाते हैं। परन्तु ऐसी धारणा त्रुटिपूर्ण है। विद्यालय में

---

1. New concept of discipline, 2. Self-discipline, 3. Self-control.

व्यवस्था की महत्ता को यह विचारधारा भी प्रधानता देती है। परन्तु अन्तर यह है कि यहाँ व्यवस्था तथा अनुशासन बालक की सृजनात्मक क्रियाओं की उपज है। यह आशा की जाती है कि यदि बालकों को आत्मप्रकाशन के अवसर प्रदान कर दिए जायें तो अनुशासन और व्यवस्था तो हो ही जायगी। बालक की वृत्तियों का अवदमन न होगा और न कोई रोकटोक ही लगेगी। बालक अनुशासन के वास्तविक अर्थ को स्वयं समझ लेंगे। विद्यालय अनुशासन से तात्पर्य यही है कि बालक में उचित वृत्तियों तथा आदतों का निर्माण हो जाय और वह सामाजिक जीवन में सहयोग तथा प्रेमपूर्वक जीवन व्यतीत करना सीखे।

अनुशासन तथा स्वतन्त्रता

नवीन विचारधारा के अन्तर्गत अनुशासन में स्वतन्त्रता का समावेश होना चाहिए। अनुशासन से तात्पर्य फौजी अनुशासन तथा आतंक से नहीं है। अध्यापकों के द्वारा अनुशासन रखने के लिए बालक में सृजनात्मक विचाधारा तथा सुन्दर आदतों का निर्माण करना है न कि नियंत्रण जो अवरोधात्मक होता है। मूलर महोदय का कथन कि "**अपने सबसे नवीन तथा सम्यक रूप में अनुशासन से तात्पर्य है बालक तथा बालिकाओं को एक जनतन्त्रीय सामाजिक जीवन के लिए तैयार करना।**"[1] वह आगे कहते हैं कि "**अनुशासन का ध्येय व्यक्ति को ज्ञान, शक्ति, आदतें, रुचियाँ और आदर्शों को जो उसके स्वयं की, उसके मित्रों तथा सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए निर्मित होते हैं प्राप्त करने में सहायता करना है।**"[2] इस परिभाषा के अनुसार अनुशासन को सामाजिक रूप दिया जाता है। परन्तु इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जो नियंत्रण सत्ता द्वारा होता है उसे बुरा समझा जाता और वही नियंत्रण अच्छा समझा जाता जो व्यक्ति स्वयं अपनी तर्क शक्ति द्वारा उसे उचित समझकर ग्रहण कर लेता है।

अनुशासन में स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ह्वाइटहेड[3] महोदय कहते हैं कि

---

1. A.D. Muller, *Teaching in Secondary Schools*, N.Y., The Century Co, 1928, "In its most modern and inclusive sense discipline means preparing boys and girls for life in a democratic society."

2. The purpose of discipline is to help the individual acquire knowledge, powers, habits interests and ideals which are designed for the well being of himself, his fellows and society as a whole."

3. White head : It should be the aim of an ideally constructed education that the discipline should be the voluntary issue of free choice and that the freedom should gain an en-

"एक आदर्शपूर्ण सुनियोजित शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि अनुशासन स्वेच्छापूर्वक तथा स्वतन्त्र रूप से हो और स्वतन्त्रता अनुशासन रखने में अधिक प्रभावशाली हो । दोनों सिद्धान्त स्वतन्त्रता तथा अनुशासन एक-दूसरे के विरोधी नहीं है परन्तु इन दोनों का बालक के जीवन में ऐसा अनुकूलन होना चाहिए कि वे बालक के व्यक्तित्व के विकास में इधर-उधर होने वाली वृत्तियों के अनुसार ही हों ।" इससे तात्पर्य यही है कि अनुशासन में बालक की प्रकृति का ध्यान अवश्य रखना चाहिए । बालक को स्वतंत्रता हो कि वह अपना व्यक्तिगत विकास अपनी प्रकृति के अनुसार कर सके । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अनुशासन तथा स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि समाज या विद्यालय में स्वच्छन्दता हो । विद्यालय में सुव्यवस्था रहे, यह अनुशासन की नवीन विचारधारा भी मानती है परन्तु यह व्यवस्था बालकों में दंड द्वारा नहीं होनी चाहिए अपितु विद्यालय का वातावरण और कार्यक्रम ही ऐसा होना चाहिए जो व्यवस्था को रखने में योग दे । बालक को स्वतन्त्रता तो प्रदान की जाय परन्तु उसे असामाजिक कार्य करने या पशु प्रवृत्ति को उभरने का अवसर नहीं देना चाहिए । इन प्रवृत्तियों का शोधन करके अनुशासन स्थापित करना आवश्यक है ।

विद्यालयों में अनुशासन रखने के सम्बन्ध में कुछ ठोस सुझाव

अध्यापकों को विद्यालय में उचित अनुशासन का रखना आवश्यक है अन्यथा सारे विद्यालय का वातावरण दूषित हो जाता है । आजकल उचित अनुशासन उसी को मानते हैं जो बालकों को स्वतंत्रता प्रदान करते हुए भी सामाजिक व्यवहार की ओर ले जाता है । इस दृष्टिकोण से अनुशासन रखने के लिए अध्यापक को बहुत ही सावधानी पूर्वक तथा तर्कपूर्ण ढंग से बालक की प्रकृति के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए । उसे यह समझ लेना चाहिए कि प्रेम, सहानुभूति, ईमानदारी इत्यादि शक्तिशाली अस्त्र उसके हाथ में हैं; अनुशासन रखने में उसे इन्हीं का उपयोग करना चाहिए ।

फ्रॉन्सिस पार्कर महोदय का कथन है कि **"बालकों के अनुचित व्यवहार का मुख्य कारण यह है कि उन्हें उचित व्यवहार करने की उचित परिस्थितियाँ**

---

richment of possibility as the issue of discipline. The two principles freedom and discipline *are not aniagonistic but should be so ajusted* in the child's life that they correspond a natural sway, to and fro, of the developing personality."

प्राप्त ही नहीं होती।"[1] अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह उचित परिस्थितियाँ बालक को प्रदान करे। यदि वह इसमें असफल होता है तो अनुशासनहीनता का उत्तरदायित्व उसके ऊपर होता है न कि बालक के ऊपर।

शॉरिंग[2] महोदय के अनुसार विद्यालय में अनुशासन की समस्या को सुलझाने के लिए तीन विधियां है—(क) सृजनात्मक अनुशासन[3] (ख) प्रतिबंधात्मक अनुशासन[4], तथा (ग) उपचारपूर्ण अनुशासन।[5]

(अ) सृजनात्मक अनुशासन के लिये विद्यालय में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

(१) यह इस प्रकार के निर्देशों पर आधारित होना चाहिए; जैसे—यह कार्य करो तथा इस पर नहीं कि 'ऐसा मत करो'। सृजनात्मक अनुशासन अच्छी प्रक्रियाओं तथा आदतों के अभ्यास पर बल देता है।

(२) विद्यालय के कार्यक्रम में बालकों का उच्चस्तरीय सहयोग होना चाहिए।

(३) इसके द्वारा सामाजिक अनुभूति का विकास करना चाहिए। बालक अधिक शोर न मचायें, एक-दूसरे का आदर करें, इत्यादि।

(४) यह बालकों की प्रकृति को ध्यान में रखकर दिया जाय। अनुशासन जो बालकों को नीरस, निष्क्रिय बना दे वह उचित नही कहा जा सकता। कक्षा सक्रिय ही होनी चाहिए और अनुशासन को इसी दृष्टिकोण से देखना चाहिए।

(५) बालकों के व्यक्तित्व को आदर की दृष्टि ने देखना चाहिए।

(६) बालकों को सहगामी क्रियाओं में भाग लेने के अवसर प्रदान करने चाहिए।

(७) विद्यालय की परम्पराएँ अच्छे अनुशासन के अनुकूल होनी चाहिए।

(८) अध्यापक का व्यक्तित्व बालकों को उत्साहित करने वाला हो।

(ब) प्रतिबन्धात्मक अनुशासन से तात्पर्य है बालकों में अनुशासनहीनता की रोकथाम। इसके अनुसार एक अध्यापक यदि निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखेगा तो अनुशासनहीनता को रोकने में काफी हद तक सफल होगा।

---

1. Francis W. Parker : "The fundamental reason why children do not act right is because they do not have the conditions for right action".

2. Schoring : "Student teacling in Secondary Schools".

3. Constructve discipline 4. Preventive discipline 5. Remedial discipline.

(१) बालकों के नाम याद रखे।

(२) बालकों की आँखों के साथ अपनी आँखों को मिलाकर पढ़ाये।

(३) बालकों के बैठने की ठीक व्यवस्था करे।

(४) वे बालक जो ध्यान न दे रहे हों उन्हें रोक दे।

(५) पाठ को रोचक ढंग से पढ़ाये।

(६) जब कोई बालक कार्य में रुकावट डाले तो उसका शान्तिपूर्वक, कड़े परन्तु सम्मानपूर्ण ढङ्ग से उपचार करे।

(७) सम्पूर्ण कक्षा के सामने किसी भी बालक की कड़ी आलोचना या उस पर अत्यधिक क्रोध नहीं करना चाहिए।

(८) बालकों में अपने प्रति यह भावना उत्पन्न करे कि वह उनमें मानवता के नाते रुचि रखता है।

(९) मामूली बातें जिनमें अनुशासनहीनता का आभास मिले उन्हें वहीं रोक देना चाहिए क्योंकि वे ही बातें आगे चलकर गम्भीर रूप धारण कर लेती हैं।

(१०) पाठ पढ़ाते समय कक्षा मे इधर-उधर सामान्य रूप से घूमे।

(११) शिक्षा आरम्भ करने के प्रारम्भिक दिनों में दृढ़ता रखे क्योंकि यदि आरम्भ में ही बालकों को यह आभास हो जाता है कि अध्यापक ढीलाढाला है तो उसको अनुशासन रखने मे अत्यन्त कठिनाई होती है।

(स) उपचारपूर्ण अनुशासन—जब बालक अनुशासन हीन हो ही जाता है तब उसे कैसे सुधारा जाय, इसे जानना भी अध्यापक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अध्यापक को चाहिए कि सर्वप्रथम तो वह बालक की अनुशासन हीनता के कारणों का पता लगाए। तात्पर्य यह कि उसके रोग का सावधानी पूर्वक निदान ढूँढ़े। जब निदान हो जाय तो जो उपचार बालक के अपराध के सम्बन्ध या उसके दूषित व्यवहार के पीछे छिपी हुई प्रेरणाओं के सम्बन्ध में सबसे उपयुक्त हो उसे करे।

बालक को सुधारने में निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

(१) अपराधी बालक को उस समय तक दूसरे बालकों से अलग कर देना चाहिए जब तक उसके अपराध के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं हो जाता।

(२) अपराधी को अपने अपराध के सम्बन्ध में विचार करने का अवसर देना चाहिए इससे पहिले कि उससे पूछताछ की जाय।

(३) उससे स्पष्टता से बात करनी चाहिए।

(४) क्षमा माँगने के लिए कभी भी उसे बाध्य न किया जाय।

(५) दड सोच-समझ कर दिया जाय।

(६) जब मामला सुलझ जाय तो उसके सम्बन्ध में फिर बातचीत न करनी चाहिए।

(७) अपराधों तथा उनके उपचार को सब विद्यार्थियों के समक्ष वर्णन नहीं करना चाहिए।

(८) यदि कुछ बालक दूषित व्यवहार करते हैं तो सारी कक्षा को सजा नहीं देनी चाहिए।

(९) यदि यह पता न चले कि अनुशासनहीनता कक्षा में किसने की है तो सारी कक्षा से प्रेम पूर्वक अनुरोध करना चाहिए कि वैसी अनुशासन-हीनता दुबारा न की जाय।

(१०) बालक के अभिभावकों की सहायता प्राप्त की जाय।

(११) दंड देने में बालक का उपहास न किया जाय।

(१२) बालक को धमकी नहीं देनी चाहिए।

(१३) जब कोई समस्या अध्यापक न सुलझा सके तो अधिक अनुभवी अध्यापकों की सहायता लेनी चाहिए।

(१४) बहुत मामूली बातों को अनुशासनहीनता की पराकाष्ठा न समझना चाहिए।

(१५) सुधार के लिए जो कदम उठाया जाय वह बालक की समझ में आना चाहिए।

(१६) जो भी दंड दिया जाय उसे अपराध के अनुकूल होना चाहिए।

(१७) अपराध करने मे अपराधी का क्या आशय है, इसका समझना भी आवश्यक है।

(१८) दंड उस समय तक न देना चाहिए जब तक अध्यापक अपराधी के सम्बन्ध में पूर्ण विश्वस्त नहीं है।

सारांश

विद्यालयों मे अनुशासन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यहाँ बालकों में आरम्भ से ही इस बात की धारणा बैठा दी जाती है कि कर्त्तव्यपरायणता एक व्यक्ति के लिए सबसे मूल्यवान वस्तु है।

प्राचीन काल में बर्बरतापूर्ण विधियों से देश तथा समाज के नियमों को समाज के सदस्यों द्वारा मनवाना ही उन्हें अनुशासित करना कहलाता था। विद्यालयों में भी अनुशासन डंडे के जोर से रखा जाता था। परन्तु इस धारणा में परिवर्तन मनोविज्ञान के विकास के कारण लाया गया है। बालक की रुचिय

और प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करके उसके ऊपर नियंत्रण रखने को महत्त्व दिया जाने लगा। प्रेम तथा सहानुभूति पर केन्द्रित अनुशासन का प्रतिपादन होने लगा।

ड्यूवी महोदय ने सामाजिक वातावरण में ही व्यक्तिगत विकास को उचित समझा। उन्होंने इस विचार को महत्व दिया कि बालक का स्कूल के सामाजिक जीवन में भाग लेने से उसमें सहयोग की भावना का विकास होगा और विद्यालय के सामाजिक, बौद्धिक, नैतिक तथा शारीरिक कार्यक्रम में भाग लेकर अनुशासन की महत्ता को समझेगा।

ऐडम्स महोदय के अनुसार अनुशासन के तीन दृष्टिकोण है—

(१) अवदमनात्मक—बालक के ऊपर मार-पीट कर अनुशासन रखना।

(२) प्रभावात्मक—अध्यापको को अपने अच्छे व्यवहार, आचरण तथा प्रेम द्वारा बालकों मे अच्छी आदतों का निर्माण करना।

(३) मुक्त्यात्मक—बालक को स्वतन्त्रता प्रदान करके अनुशासित करना।

अनुशासन का नवीन दृष्टिकोण :—यह स्वानुशासन के रूप में है और इसकी मुख्य विशेषता आत्म-नियंत्रण है।

अनुशासन के सम्बन्ध में अब यह समझा जाता है कि बालक को स्वतन्त्रता हो कि वह अपना व्यक्तिगत विकास अपनी प्रकृति के अनुसार कर सके।

स्कारिङ्ग महोदय के अनुसार **विद्यालय में अनुशासन** की समस्या को सुलझाने के लिए तीन विधियाँ हैं-(क) सृजनात्मक अनुशासन, (ख) प्रतिबन्धात्मक अनुशासन, तथा (ग) उपचारपूर्ण अनुशासन। सृजनात्मक अनुशासन के लिए, प्रतिवन्धात्मक अनुशासन के लिए तथा उपचारपूर्ण, प्रनुशासन के लिए विद्यालयों में विशिष्ट उद्योग करने चाहिए।

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. कठोर नियमों तथा दंड-विधान से ही अनुशासन कायम नहीं रह सकता। अनुशासन स्थापित करने के लिये अन्य तरीके हैं जिनको प्रयोग में लाने से प्रायः छात्र अनुशासित रहते हैं। वे तरीके कौन-कौन से हैं ?

२. "अनुशासन एक संस्कृति है।" इस कथन को समझाते हुए बताइए कि आप किस ढंग से अपने शिक्षालय में सर्वोत्तम प्रकार के अनुशासन की स्थापना करेंगे।

३. हमारे विद्यालयों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता के क्या कारण हैं ? अनु-

शासनहीनता के उदाहरण देकर समझाइए कि आप अनुशासनहीन छात्रों से कैसे निपटेंगे ?

४. "दंड देने का अभिप्राय बालकों को कुछ सिखाना है, उनसे बदला लेना नहीं हैं।" इस कथन के सम्बन्ध में अपने विचार दीजिये।

५. कक्षा के अन्दर साधारण रूप में किस प्रकार की अनुशासन हीनता देखने में आती है। आप एक शिक्षक होने के नाते प्रत्येक प्रकार के अनुशासन हीन छात्र का कैसे उपचार करेंगे ?

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) रायेबर्न : **दि प्रोग्रेसिव स्कूल**
(२) बोसिङ्ग : **प्रिन्सिपुल्स आफ सेकन्डरी एडूकेशन**
(३) ब्रूबेचर : **माडर्न फिलास्फीज आफ एडूकेशन**
(४) पिन्सेट : **दि प्रिन्सिपुल्स आफ टीचिंग मैथड**
(५) फ्रान्सिस मोरहाउस : **दि डिसीप्लिन आफ दि स्कूल**
(६) मॉरीसन : **बेसिक प्रिन्सिपुल्स इन एडूकेशन**

—: o :—

अध्याय ९

पाठ्यक्रम[1]

इसमें संदेह नहीं कि शिक्षा प्रदान करने में सबसे महत्वपूर्ण स्थान पाठ्यक्रम का है। यदि पाठ्यक्रम का नियोजन सुन्दर और अच्छे ढंग से होता है तो शिक्षा अपने उद्देश्य प्राप्त करने में सफल होती है परन्तु यदि पाठ्यक्रम के नियोजन में लापरवाही और अशुद्ध धारणा को स्थान दिया जाता है तो असफलता निश्चित ही है ब्रिग्स महोदय का कथन है कि "**शिक्षा में मूल-समस्या पाठ्यक्रम की है।**[2] क्योंकि पाठ्यक्रम की समस्या एक मुख्य समस्या है इस कारण एक शिक्षक का इस समस्या को अच्छी तरह से समझ लेना आवश्यक है।

पाठ्यक्रम का अर्थ

पाठ्यक्रम का समानार्थी अंग्रेजी शब्द करीकुलम[3] है। करीकुलम आँग्ल भाषा का न होकर लैटिन भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है **'दौड़ का मैदान।'** बालक पाठ्यक्रम को सीखकर ही शिक्षा प्राप्त कर पाता है उसी तरह जैसे एक दौड़ने वाला दौड़ के मैदान को पार करके ही दौड़ जीत सकता है। अतएव

---

1. Curriculum, २. T.H. Briggs : *Curriculum Problems*, N.Y. Macmillan, 1927, pp. 1, 3, "The fundamental problem in education is the curriculum. 3. Curriculum.

पाठ्यक्रम दौड़ के मैदान के समान है जिसे बालक को पार करना उसकी शिक्षा के लिए आवश्यक है।

हार्न[1] महोदय के अनुसार शिक्षा की क्रिया के लिये चार वस्तुओं की आवश्यकता है; वे हैं—विद्यार्थी, पाठ्यक्रम, शैक्षिक वातावरण तथा अध्यापक। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि "पाठ्यक्रम वह है जो बालक को पढ़ाया जाता है। यह सीखना तथा शांतिपूर्ण पढ़ने से अधिक है। इसमें उद्योग, व्यवसाय, ज्ञानोपार्जन, अभ्यास तथा क्रिया सम्मिलित होते हैं इस प्रकार यह विद्यार्थी के स्नायुमंडल के संगठन में होने वाले गतिवाही तथा संवेगात्मक तत्वों को व्यक्त करता है। समाज के क्षेत्र में यह वह सब अभिव्यक्त करता है जो जाति ने संसार के सम्पर्क में कार्य किये हैं। इससे तात्पर्य यह है कि मानव तथा प्रकृति के सम्बन्ध में मनुष्य ने जो ज्ञान प्राप्त किया है वह पाठ्यक्रम में सम्मिलित होता है तथा पाठ्यक्रम, कला एवं समाज तथा प्रकृति पर मानव की इच्छा शक्ति द्वारा परिवर्तनों को भी व्यक्त करता है।

पाठ्यक्रम से तात्पर्य शैक्षिक क्रिया में निहित कोई निर्जीव एवं पदार्थों, अनुभवों और क्रियाओं का योग नहीं है। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें कुछ विशेष विषयों का अध्ययन ही सब कुछ होता है। यह जीवित तथा सक्रिय होता है जिसमें विद्यालय में वास्तविक रूप से होने वाले सब अनुभव सम्मिलित होते हैं। पाठ्यक्रम की पाठ्यवस्तु कुछ विषय न होकर विद्यार्थियों के वास्तविक अनुभव होते है।

पाठ्यक्रम द्वारा यह निर्धारित किया जाता है कि बालकों को क्या पढ़ाया जाय? यह निर्धारण विद्यालय का संगठन, उसकी साधन सामग्री, शिक्षण विधियाँ तथा समाज के लिए विद्यालय की उपयोगिता इत्यादि का क्या रूप होना चाहिए, इस पर प्रकाश डालता है। वर्तमान काल में पाठ्यक्रम के नियोजन के सम्बन्ध में दृष्टिकोण बदल रहा है। प्राचीन समय में कुछ विषयों की शिक्षा से ही तात्पर्य पाठ्यक्रम है और विद्यालय इत्यादि इन्हीं विषयों का

---

1. Horne, Herman Harrell: *The Psychological Principles of Education*, Lond. Macmillan, 1928, p. 31-32, 2 The curriculum is that which the pupil is taught. It involves more than the acts of learning and quiet study; it involves occupations, productions, achievements, exercise, activity. It thus is representative of the motor as well as the sensory elements in the nervous system of the pupil on the side of society it is representative of what the race has done in its contact with its world.

ज्ञान देने के लिये संगठित होते थे। परन्तु अब बालक के अनुभव तथा प्रकृति पर अधिक बल देने के कारण पाठ्यक्रम के अर्थ के रूप में परिवर्तन आ गया है। यह जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है बालक के सम्यक् अनुभवों के रूप में बताया जाता है। अब यह दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर अधिक केन्द्रित है। ओवेन महोदय के अनुसार नवीन पाठ्यक्रम परम्पराओं पर आधारित न होकर विश्लेषण पर आधारित होना चाहिये।[1]

दार्शनिक विचारधाराओं के अनुसार पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम की समस्या एक दार्शनिक समस्या है क्योंकि पाठ्यक्रम का नियोजन शिक्षा के उद्देश्य प्राप्त करने लिये होता है और शिक्षा के उद्देश्य हमें दर्शन द्वारा ही प्राप्त होते हैं। इसलिए पाठ्यक्रम की समस्या को दर्शन के अन्तर्गत ही माना जाता है। विभिन्न देशों तथा समाजों में पाठ्यक्रम जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के निमित्त होता है। ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करने से हम देखेगें कि जब स्पार्टा में हृष्ट-पुष्ट सैनिकों की आवश्यकता थी तो वहाँ के निवासियों के जीवन का मुख्य लक्ष्य देश को शक्तिशाली बनाना था अतएव वहाँ शिक्षा के पाठ्यक्रम में शारीरिक व्यायाम तथा युद्ध कौशलता की कला को प्राथमिकता दी जाती थी। इसी प्रकार ऐथेन्स में व्यक्तित्व विकास पर जोर दिया जाता था जिसके कारण शिक्षा के पाठ्यक्रम में व्यक्तित्व विकास में सहायता पहुँचाने वाले विषयों को महत्व दिया जाता था। प्राचीन काल में भारत में जीवन का लक्ष्य आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति था अतएव शिक्षा का लक्ष्य भी चरित्र निर्माण था और पाठ्यक्रम में धर्म, पूजन, भजन इत्यादि का समावेश था। वर्तमान काल में जब अनेकों राष्ट्रों का शिक्षा का लक्ष्य जनतन्त्रीय भावना का विकास करना हो गया है तो वहाँ का पाठ्यक्रम भी ऐसे विषयों; जैसे-नागरिक शास्त्र, नीति शास्त्र, इतिहास इत्यादि तथा ऐसी क्रियाओं को जो जनतन्त्र को प्रोत्साहित करती है, महत्व दिया जाता है। इसी प्रकार साम्यवादी देशो में पाठ्यक्रम ऐसा निर्धारित किया जाता है जो साम्यवाद की भावना को बढ़ाने वाला होता है। अतएव भिन्न दार्शनिक और सामाजिक विचारधाराएँ पाठ्यक्रम के नियोजन में विभिन्नता ला देती है।

आदर्शवाद और पाठ्यक्रम

आदर्शवाद संसार की अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मूल्यों, सत्यों तथा आदर्शों

---

1. R. D. Owen : *Principles of Adolescent Education*, N. Y., Ronald, 1929, p. 239, "The new curriculum will be based not on traditions, but on analysis."

को अधिक महत्व देता है। इसीलिए पाठ्यक्रम के निर्धारण में भी वह यही प्रतिपादित करता है कि पाठ्यक्रम का आधार मानव के विचारों तथा आदर्शों पर ही आधारित होना चाहिए। पाठ्यक्रम का सम्बन्ध बालक की वर्तमान क्रियाओं या भावी विकास से न होकर समस्त मानव जाति के अनुभव से माना जाता है। बालक में एक आदर्श चरित्र का निर्माण करना ही आदर्शवादी शिक्षा का उद्देश्य माना जाता है। अतएव पाठ्यक्रम में उन क्रियाओं पर बल दिया जाता है जो आदर्श चरित्र का निर्माण करें परन्तु वे क्रियायें क्या हैं? इसे समझने के लिए केवल बालक के निजी अनुभव पर्याप्त नहीं होते अपितु समस्त मानव जाति के अनुभवों तथा क्रियाओं का विश्लेषण करने के उपरान्त ही उपयुक्त क्रियाएँ जो पाठ्यक्रम में सम्मिलित की जा सकती हैं उनका निर्धारण हो सकता है। क्योंकि मानव भौतिक वातावरण के तथा अपने साथियों के सम्पर्क में आने से अनुभव प्राप्त करता है। इस कारण पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें इन दोनों प्रकार के अनुभवों के फल निहित हों।

नन[1] महोदय ने पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में जो अपने विचार व्यक्त किये हैं वे भी आदर्शवादी हैं। उनके अनुसार पाठ्यक्रम में सम्मिलित होने वाले विषयों का मूल्य तथा महत्व मानव जीवन के लिए उच्च होना चाहिए। पाठ्यक्रम का ऐसे होना आवश्यक है जोकि व्यक्ति तथा समाज की जीवन रक्षा की क्रियाओं की पूर्ति में सहायक हो और जो मानव सभ्यता के निर्माण में सहायता प्रदान करे क्योंकि ये ही दोनों क्रियायें मानव भावों की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति हैं।[2] अतएव प्रथम कार्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का स्वास्थ्य अच्छा हो और समाज की रक्षा के लिए वह सदाचारी तथा धार्मिक हो एवं समाज की अच्छी व्यवस्था रखने की चेष्टा करे। व्यक्ति तथा समाज के जीवन की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि पाठ्यक्रम में व्यायाम, धर्म, समाज शास्त्र, नीति शास्त्र इत्यादि का समावेश होना चाहिए। दूसरे प्रकार की क्रियाओं की पूर्ति के लिए पाठ्यक्रम में जो विषय सम्मिलित किए जायें वे इस प्रकार हैं।

"(१) साहित्य, मातृभाषा की उच्च रचनाएँ, (२) कला और सङ्गीत, (३) हस्त-कौशल-बुनाई, खुदाई, लिखाई आदि, (४) विज्ञान और गणित, (५) भूगोल, (६) इतिहास इत्यादि।"[3]

रॉस[4] महोदय पाठ्यक्रम का आधार तीन प्रक्रियाओं—ज्ञान, संवेदन और

---

1. Nunn, 2. The grand expression of human spirit.
3. Nunn : *Education its data and first principles*, p. 243,
4. Ross,

प्रक्रिया के विकास के हेतु प्रतिपादित करते हैं। ज्ञान प्रक्रिया के विकास के लिए पाठ्यक्रम में वे "भाषा, गणित, विज्ञान, साहित्य और सामाजिक विषयों को सम्मिलित करना उचित समझते हैं। संवेदना के विकास के लिए पाठ्यक्रम में "कविता, कला एवं संगीत" को सम्मिलित करना ठीक समझते हैं तथा प्रक्रिया के विकास के लिए पाठ्यक्रम में "पाक शास्त्र, शिल्प-कला एवं काष्ठ-कला तथा कताई-बुनाई" का सम्मिलित होना आवश्यक मानते हैं।

प्रकृतिवाद और पाठ्यक्रम

प्रकृतिवादी दृष्टिकोण बालक के व्यक्तित्व को महत्ता देता है। वह बालक को प्रौढ का छोटा रूप न मानकर बालक ही मानता है। अतएव शिक्षा में बालक की स्वाभाविक क्रियाओं के विकास पर अधिक बल देता है। प्रकृति-वादी केवल ज्ञान के लिए शिक्षा के विरोधी हैं। वे कहते हैं कि बालक के मस्तिष्क को थोथे ज्ञान से भर देने से कोई लाभ नहीं होता। बालक जीवन की समस्याओं को हल करने में उस समय तक बिलकुल ही असमर्थ रहेगा जब तक कि उसे जीवन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाने के लिए व्यावहारिक शिक्षा न दी जाय। अतएव शिक्षा का पाठ्यक्रम प्रकृतिवादियों के अनुसार ऐसा होना चाहिए जिससे बालक की स्वाभाविक क्रियाओं का विकास हो और वह व्यावहारिक ज्ञान बालक को प्रदान करे जिससे बालक जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से अपना व्यवस्थापन कर सके। इसके लिए पाठ्यक्रम में ऐसे विषयों का समावेश होना आवश्यक है; जैसे—व्यायाम, खेल-कूद, भूगोल, इतिहास इत्यादि। क्योंकि प्रकृतिवाद प्रकृति को ही सबसे प्रमुख स्थान देता है और पाठ्यक्रम में प्राकृतिक तत्त्वों के अध्ययन को अच्छा समझता है तथा भाषा, साहित्य, कविता इत्यादि को गौण स्थान देता है।

यथार्थवाद और पाठ्यक्रम

यथार्थवाद के अनुयायी पुस्तकीय ज्ञान को अच्छा न समझकर व्यावहारिक ज्ञान को महत्व देते हैं। यथार्थवादी यह उचित समझते हैं कि बालकों को वास्तविकता से परिचित कराया जाय तथा उनके अमूर्त एवं काल्पनिक भावों का विकास न किया जाय। उनका मत है कि बालक को व्यावहारिक ज्ञान देना सर्वश्रेष्ठ है तथा बालक को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे वह जीवन के वास्तविक कार्य-क्षेत्र में लाभ उठा सके। अतएव पाठ्यक्रम में ऐसे विषयों, दैनिक कार्यों तथा व्यवसाय का समावेश हो जो उनको वास्तविक जीवन की परिस्थितियों से अवगत करा दें।

प्रयोगवाद और पाठ्यक्रम

प्रयोगवाद द्वारा भी शिक्षा की क्रिया में बालक को अधिक महत्व दिया जाता है। बालक ही शिक्षा का केन्द्र समझा जाता है। पाठ्यक्रम का निर्धारण किसी और बात पर निर्भर न होकर बालक को जीवन के समृद्धिशाली तथा सम्पूर्ण अनुभव जो उत्तम तथा उपयोगी हों उनको प्रदान करने पर आधारित होना चाहिए। उनका ऐसा विश्वास है कि अनुभव बालक को भावी जीवन के लिए तैयार कर देंगे। प्रयोगवादी अनुभवों को विषयों की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं क्योंकि अनुभव ही बालक का सम्यक् विकास करके उसे उपयुक्त सामाजिक जीवन के लिए तैयार करते हैं।

पाठ्यक्रम में प्रयोगवादी औपचारिकता[1] को बुरा समझते हैं। वे यह नहीं चाहते कि विभिन्न विषयों की शिक्षा इस प्रकार दी जाय कि बालक को एक-एक विषय के सम्बन्ध में अलग-अलग रूप से ज्ञान मिले। पाठ्यक्रम को ऐसा व्यवस्थित नहीं करना चाहिए कि एक विषय दूसरे से कोई सम्बन्ध न रखे। उनमें आपस में सहसम्बन्ध और समन्वय होना आवश्यक है ताकि बालक को सम्यक् तथा सम्पूर्ण अनुभव प्राप्त हो सके।

प्रयोगवादी पाठ्यक्रम में उपयोगिता को महत्व देते है। वे उन्हीं विषयों और क्रियाओं की शिक्षा को उचित समझते है जो बालक के जीवन के लिये उपयोगी हों। थोथा ज्ञान, अरुचिकर क्रियाएँ तथा औपचारिक विषयों को वे शिक्षा प्रदान करने में कोई महत्व नहीं देते।

आधुनिक काल में शिक्षा को एक सक्रिय प्रक्रिया माना जाता है। ड्यूवी महोदय का मत है कि "शिक्षा तथ्यों की स्वीकृति मात्र नहीं है।" वह स्थिर या क्रियाहीन भी नहीं है। बालक के स्वभाव के अनुसार यदि शिक्षा दी जाय तो वह सक्रिय शिक्षा होगी। निष्क्रिय शिक्षा बालक को निष्प्राण बना देती है और उसकी स्वाभाविक सक्रियता को नष्ट कर देती है। अतएव पाठ्यक्रम के संगठन में यह आवश्यक है कि बालक को ऐसे अनुभव प्रदान किए जायँ जो उसे क्रियाशील बनाये रखें। बालक जिन क्रियाओं में रुचि लेता है तथा जो उसकी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार हों उन्हीं को शिक्षा के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए। परन्तु इन क्रियाओं को प्रदान करने में भी समन्वय एवं एकरूपता के सिद्धान्त को महत्व देना चाहिए। इन क्रियाओं का संगठन इस प्रकार होना चाहिए कि वे आपस में गुथ-बंधकर बालक को विभिन्न विषयों का ज्ञान प्रदान करें तथा अनुभवों की सम्पूर्णता स्पष्ट करें।

---

1. Formality, 2. Active process.

पाठ्यक्रम का बालक की प्राकृतिक अभिरुचियों के अनुसार संगठित होना भी आवश्यक है। ड्यूवी महोदय बालक की स्वाभाविक अभिरुचियों को चार प्रकार का बताते हैं "(१) बातचीत तथा विचारों के आदान-प्रदान की रुचि,[1] (२) जिज्ञासा की रुचि,[2] (३) रचनात्मक कार्यों में रुचि[3] तथा (४) कलात्मक अभिव्यक्ति की रुचि[4]।" ड्यूवी महोदय प्रतिपादित करते हैं कि प्रारम्भिक कक्षाओं का पाठ्यक्रम इन्हीं रुचियों के आधार पर होना चाहिए। अतएव वे पाठ्यक्रम में कताई, बुनाई, दुकानदारी, कला, गणना, संगीत, बागवानी, लकड़ी का काम, कपड़े का काम, चित्रकारी, नमूनेकारी, भोजन बनाने आदि कार्यों को प्रारम्भिक शिक्षा के आरम्भ में देना उचित समझते हैं। यह समझा जाता है कि बालक इन्हीं क्रियाओं द्वारा लिखना, पढ़ना, गिनना आदि बाद में सीख लेंगे। जैसे जैसे बालक की रुचियों का विकास होता जायगा वैसे वैसे पाठ्यक्रम विस्तृत रूप लेता जायगा और बालक को कृषिशास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पति विज्ञान, गणित इत्यादि का शिक्षण देना आरम्भ हो जायगा। अतएव विभिन्न स्तर पर जो बालक की अभिरुचियाँ हों उन्हीं के अनुसार शिक्षा देनी चाहिए।

आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोगवाद एवं पाठ्यक्रम

प्रकृतिवाद तथा प्रयोगवाद दोनों ही को "क्रिया का सिद्धान्त"[5] मान्य है और दोनों ही इसी आधार पर पाठ्यक्रम के निर्धारण पर बल देते हैं। इस प्रकार के दृष्टिकोण को यदि हम अपने सामने रखें तो पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में प्रकृतिवाद तथा प्रयोगवाद में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता।

आदर्शवादियों के अनुसार पाठ्यक्रम जाति के अनुभवों पर आधारित होना चाहिए। प्रयोगवादी भी अनुभव तथा क्रिया पर बल देते हैं। नन के अनुसार विद्यालय ऐसा स्थान समझा जाता है जहाँ बालक कुछ क्रियाओं में दक्षता प्राप्त करता है। ड्यूवी महोदय भी पाठ्यक्रम का संगठन 'क्रिया' तथा 'अनुभव' पर आधारित करने पर बल देते हैं। अतएव नन और ड्यूवी महोदय की विचार-धारा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जो अन्तर है वह है क्रियाओं के चुनाव के सम्बन्ध में। ड्यूवी महोदय बालक को स्वयं क्रियाओं को चुनने में स्वतन्त्रता प्रदान करने के पक्षपाती हैं जबकि नन महोदय कहते हैं कि क्रियाएँ जाति के अनुभव पर आधारित होनी चाहिए। परन्तु ड्यूवी महोदय तथा नन महोदय के विचारों की पाठ्यक्रम के सम्बंध में एकता दिखाई पड़ती है ड्यूवी मानव बालक

---

1. Interest in conversation and communication, 2. Inquiry, 3. Interest in construction, 4. Artistic expression. 6. Activity

को आदि-मानव की क्रियाओं की पुनरावृत्ति करते हुए वर्णन करते हैं और नॅन महोदय प्रतिपादित करते है कि "शिक्षा की प्रारम्भिक अवस्था के पाठ्यक्रम में आदि-मानव की क्रियाओं की प्रतिच्छाया अङ्कित होनी चाहिए।" इस प्रकार हम देखते है कि आदर्शवादी विचारधारा और प्रयोगवादी विचारधारा में कोई विशेष अन्तर नहीं है केवल इसके कि आदर्शवादी लक्ष्य को अधिक महत्व देते हैं जबकि प्रायोगवादी साधन को। परन्तु यदि यह साधन भी किसी लक्ष्य की ओर संकेत करें तो इनका अन्तर पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में बिल्कुल मिट जाता है।

पाठ्यक्रम के अन्य आधार

मनोवैज्ञानिक

आधुनिक काल में मनोविज्ञान ने बहुत प्रगति की है। इस प्रगति के कारण बालक की प्रकृति, उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ, उसकी मूल आवश्यकताएँ तथा प्रेरणाओं इत्यादि पर बहुत प्रकाश डाला गया है। इस सब प्रगति ने शिक्षकों के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया है कि शिक्षा का कार्य तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक सीखने वाले के मनोविज्ञान को न समझ लिया जाय। अतएव वर्तमान काल में पाठ्यक्रम का आधार मनोविज्ञान में ही ढूँढा जाता है। बालक की प्रकृति के अनुसार शिक्षा तभी दी जा सकती है जब पाठ्यक्रम का आधार मनोवैज्ञानिक हो। इससे तात्पर्य यह है कि पाठ्यक्रम ऐसी क्रियाओं तथा विषयों को सम्मिलित करे जो बालकों की रुचि के अनुसार हो और उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विकास में सहायता करे।

मनोविज्ञान के आधार पर पाठ्यक्रम संकलन करने से यह भी तात्पर्य है कि पाठ्यक्रम लचीला[1] हो। मनोविज्ञान द्वारा हमें यह पता चलता है कि हर एक बालक दूसरे से भिन्न है अतएव वही पाठ्यक्रम हर बालक के लिए उचित नहीं समझा जा सकता। प्रत्येक बालक की प्रकृति, प्रेरणाओं, रुचियों, तथा योग्यताओं इत्यादि के अनुसार ही उसके लिए पाठ्यक्रम को निर्धारण करना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार बालक की शिक्षा में खेल-कूद का स्थान प्रमुख होना चाहिए। मनोवैज्ञानिकों का यह विश्वास है कि बालक स्वाभाविक रूप से खेल-कूद में लिप्त रहना चाहता है अतएव बालक के लिए वही शिक्षा अच्छी है जो खेल-कूद के द्वारा दी जाय। जो कार्य प्रसन्नता पूर्वक

1. Flexible.

खेल में किया जाता है वह जल्दी सीख लिया जाता है। अतएव बालक के पाठ्यक्रम में औपचारिक विषयों का अध्ययन न होकर खेलों का आयोजन होना चाहिए। इन्हीं खेलों का संगठन ऐसा होना चाहिए कि बालक की रुचि जाग्रित हो जाय और वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाय। पाठ्यक्रम के नियोजन में यह भी ध्यान रखने की बात है कि वह बालक के विकास की अवस्था के अनुसार हो। प्रत्येक बालक विकास के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रुचियाँ, प्रेरणाएँ रखता है अतएव पाठ्यक्रम हर स्तर का ऐसा होना चाहिए जो उस स्तर पर बालक की प्रवृत्तियों, रुचियों इत्यादि को ध्यान में रखकर निर्धारित किया जाय।

पाठ्यक्रम का सामाजिक आधार

पाठ्यक्रम का वैयक्तिक रूप व्यक्तिगत उन्नति से सम्बद्ध है परन्तु आजकल संसार में अकेला व्यक्ति कोई स्थान नहीं रखता। बिना समाज के प्रभाव के व्यक्ति कुछ नहीं सीख सकता। व्यक्ति समाज में उत्पन्न होता है और उसे समाज में ही अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है अतएव समाज में उसका अनुकूलन होना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि वर्त्तमान समय में पाठ्यक्रम में सामाजिक आधार पर बल दिया जाता है। सामाजिक आधार से तात्पर्य है कि पाठ्यक्रम में जो विषय सम्मिलित किए जायँ वे बालकों में सामाजिकता की भावना का विकास करें। पाठ्यक्रम का निर्धारण बालक की सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाय।

ड्यूवी के अनुसार विद्यालय का सारा वातावरण वृहद् समाज के लघु रूप में होना चाहिए। विद्यालय को एक सामाजिक संस्था समझना चाहिए तथा उसमें की जाने वाली अधिकतर क्रियाओं का दृष्टिकोण सामाजिक भावना का विकास होना चाहिए। पाठ्यक्रम के संयोजन में वे विषय जो समाज के लिए उपयोगी हैं उन्हीं को अधिक महत्व मिलना चाहिए।

शिक्षा द्वारा समाज के लिये दो कार्य करने की आशा की जाती है—(१) समाज की परम्पराओं, संस्कृति आदि का एक पीढ़ी से दूसरी को संक्रमित करना, तथा (२) समाज की उन्नति। पाठ्यक्रम का निर्धारण शिक्षा के इन दोनों उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए होना चाहिए। वे विषय जो समाज की संस्कृति के संकलन के लिए आवश्यक है; जैसे—भाषा, इतिहास, साहित्य, विज्ञान इत्यादि, इनको विद्यालय के पाठ्यक्रम में महत्व देना चाहिए। इसके अतिरिक्त वे विषय; जैसे—समाजशास्त्र, नीति-शास्त्र, इत्यादि जो समाज उत्थान की भावना को जाग्रित करते है, उनको भी पाठ्यक्रम मे सम्मिलित करना चाहिए।

पाठ्यक्रम, जैसा ऊपर भी संकेत किया जा चुका है, लचीला होना आवश्यक है। सामाजिक दृष्टिकोण से पाठ्यक्रम जाति की संस्कृति को बालक के समक्ष रखता है और उन अनुभवों को बालक को सिखाने की चेष्टा करता है जिन्हें पिछली पीढ़ियों ने अनुभव किया और वर्तमान काल में मानव जाति उन्हें आदर्शमय और मूल्यवान समझती है। यदि जाति में प्रगति होती है तो हर पीढ़ी में जीवन के आदर्श और मूल्यों में नये अनुभवों के सम्मिलित होने से परिवर्तन आ जाता है। इसलिए पाठ्यक्रम में भी अन्तर आना अवश्यम्भावी है। अतएव हम पाठ्यक्रम को ठोस और अपरिवर्तित रूप में नहीं रख सकते। पॉल मुनरो के अनुसार "**पाठ्यक्रम को बालक के सम्मुख आदर्श रूप में वर्तमान जीवन, वर्तमान सामाजिक क्रियाओं, वर्तमान नैतिक आकांक्षाओं, पूर्वकाल की संस्कृति के मूल्य को वर्तमान काल की रसानुभूति के रूप में रखना चाहिए।**"[1]

पाठ्यक्रम का वैज्ञानिक आधार

वर्तमान काल में विज्ञान की प्रगति इतनी अधिक है कि जीवन का शायद ही कोई पहलू ऐसा बचा हो जिस पर विज्ञान के आविष्कारों का प्रभाव न पड़ा हो। क्या संस्कृति, क्या साहित्य, क्या कला, क्या चित्रकारी सब का रूप विज्ञान के अनुसन्धानों से प्रभावित हुआ है। इसी कारण आजकल बहुत से शिक्षा शास्त्री पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों को अधिक महत्व देने के पक्ष में हैं।

वैज्ञानिक विषयों को अधिक महत्व देने के मुख्य प्रतिपादक हर्बर्ट स्पेन्सर है। इन्होंने यह कहा कि शिक्षा के पाठ्यक्रम में कलात्मक विषयों की अपेक्षा वैज्ञानिक विषयों को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। स्पेन्सर महोदय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य "पूर्ण जीवन के लिये तैयारी"[2] मानते है। वे कहते हैं कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पाँच प्रकार के कार्य करना चाहिए।

(१) आत्म-रक्षा के कार्य।

(२) वे कार्य जो जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करके, परोक्ष रूप से आत्म-रक्षा करते है।[3]

---

1. Paul Monroe : *Brief Course in the History of Education* N. Y., Macmillan, 1922, p. 407.

2. Herbart Spencer—"Preparation for complete living, 3. Activities which directly help in self-preservation, 4. Those activities, which, by securing the necessaries of life, indirectly help in the self-preservation.

(३) वंश-वृद्धि एवं शिशु-पालन से सम्बन्धित कार्य ।[1]

(४) सामाजिक एवं राजनीतिक कार्य ।[2]

(५) अवकाश के समय के कार्य जो भावों तथा रुचियों को पूर्ण करने के कार्य है ।[3]

इन पाँच प्रकार के कार्यों को पाठ्यक्रम द्वारा प्राप्त करने के लिए हर्बर्ट स्पेन्सर विभिन्न विषयों को पाँच भागों में विभाजित करके महत्व के आधार पर उन्हें निम्नलिखित प्रकार से विभाजित करते हैं :—

(१) फिजियालॉजी एवं स्वास्थ्य विज्ञान का ज्ञान ।

(२) भाषा, गणित, भूगोल एवं पदार्थ-विज्ञान ।

(३) गृह-शास्त्र, शरीर-विज्ञान तथा बाल-मनोविज्ञान ।

(४) समाज-शास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा इतिहास ।

(५) साहित्य, संगीत, कविता तथा कलाएँ ।

उपरोक्त विषयों की सूची और पाठ्यक्रम में उनका क्रमबद्ध महत्व देखने से यह पता चलेगा कि विज्ञान के विषयों को सबसे अधिक महत्व दिया गया है । हालाँकि साहित्य इत्यादि को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने को कहा गया है ।

पाठ्यक्रम-निर्माण के प्रमुख सिद्धान्त[4]

हमने पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और वैज्ञानिक विचारधाराओं का ऊपर वर्णन किया है । साथ ही साथ यह भी विचार किया कि पाठ्यक्रम निर्माण में कौन-सी विचारधारा किस सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है । यदि इन सब विचारधाराओं को सम्यक् रूप से देखा जाय तो पाठ्यक्रम निर्माण के बहुत से महत्वपूर्ण सिद्धान्त व्यावहारिक शिक्षा में अत्यन्त उपयोगी दिखाई देंगे । यहाँ हम उन्हीं सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे ।

भारत एक जनतन्त्र राज्य है । शिक्षा द्वारा भारतवासियों का मुख्य ध्येय यही है कि जनतन्त्रीय भावना का विकास हो । अतएव पाठ्यक्रम का भी ऐसा निर्धारण करना आवश्यक है जो जनतन्त्र के आदर्शों को प्रोत्साहित करे । अतएव पाठ्य-क्रम निर्माण के सम्बन्ध में जो प्रमुख सिद्धान्त हम भारत के विद्यालयों के लिए अपनायें वे जनतन्त्रीय भावना के आधार पर होने चाहिए । नीचे जिन

---

1. Those activities which are concerned with family life and the nearing of children, 2. Social and Political activities, 3. Leisure activities related to the gratification of tastes and feelings. 4. Main principles of curriculum construction,

सिद्धान्तों का हम वर्णन कर रहे हैं वे भारत के विद्यालयों की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही प्रतिपादित किए गये हैं।

पाठ्यक्रम दो प्रश्नों के उत्तर से सम्बन्धित रहता है :—

(१) हम क्या पढ़ायें ? शिक्षा की पाठ्यवस्तु क्या हो ?

तथा (२) हम कैसे इसका संगठन करें और शिक्षा किस प्रकार दें ?

इन दो प्रश्नों का उत्तर देते समय हम निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आते हैं :—

(१) पाठ्क्रम में ऐसे तत्वों को सम्मिलित करें जो मानव जाति द्वारा अर्जित ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में बालकों को सामान्य जानकारी प्रदान करें। यह बालक को सम्यक् तथा समृद्ध अनुभवों को प्रदान करने द्वारा ही हो सकता है। इ नुभवों को बालक को कक्षा तथा उसके बाहर कहीं भी प्रदान किया जा स· है। अध्यापक केवल कक्षा में ही कुछ विषय पढ़ा कर इन अनुभवों को प्रदान नहीं कर सकता। उसे पुस्तकालय, प्रयोगशाला, खेल का मैदान और सहगामी क्रियाओं द्वारा इन अनुभवों को बालक को प्रदान करना होगा। अतएव पाठ्यक्रम में क्या सम्मिलित किया जाय, इसके सम्बन्ध में यह पहला सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिए कि उन विषयों, क्रियाओं इत्यादि को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए जो बालक को ऐसे अनुभव प्रदान करें जिससे वह मानव जाति के ज्ञान के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करे और जाति के जीवन में भाग लेने के लिए बौद्धिक रूप से तैयार हो जाय।

(२) पाठ्यक्रम के लिए पाठ्य-वस्तु चुनने में यह भी सिद्धान्त महत्वपूर्ण है कि जो कुछ भी बालक को सिखाने के लिए चुना जाय वह उसके वर्तमान से सम्बन्धित हो। बालक के पाठ्यक्रम में उन वस्तुओं या क्रियाओं का समावेश करना जो अनिश्चित भविष्य से ही सम्बन्ध रखती है, दोषपूर्ण होगा। जो बालक की वर्तमान रुचियाँ हों, जो उसकी आकांक्षाएँ तथा योग्यताएँ उस समय हों उन्हीं के अनुसार उसके लिए पाठ्यवस्तु का चुनाव होना चाहिए।

(३) पाठ्यक्रम के निर्धारण के सम्बन्ध मे ह्वाइटहेड[1] महोदय के अनुसार इसमें कौतूहल, यथार्थता तथा सामान्यीकरण का समावेश होना चाहिए। प्रत्येक बालक किसी वस्तु या विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिन तीन परिस्थितियों से होकर गुजरता है, वे यही है। किसी भी विषय इत्यादि के अध्ययन के सम्बन्ध में उसमें सबसे पहिले कौतूहल जाग्रित होता है। यही उसे उस विषय के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रेरणा देता है। बालक

---

1. A. N. White head.

विषय अथवा वस्तु के सम्बन्ध में सब कुछ जानने की चेष्टा करता है। जब उसका कौतूहल कुछ शान्त हो जाता है तो वह उस वस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न तथ्य इकट्ठे करके कुछ नियमों को निर्धारित करने की चेष्टा करता है। यह परिस्थिति यथार्थता की है। इस स्थिति मे बालक का ज्ञान तथा कौशल बढ़ता है। अब जो नियम उसने निर्धारित किए है उन्हे अन्य परिस्थितियों में प्रयोग करता है और उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करता है। यह परिस्थिति सामान्यीकरण की है और तीसरे स्तर पर होती है। अतएव पाठ्यक्रम मे पाठ्यवस्तु के चुनाव मे ह्वाइटहेड महोदय के अनुसार यह सिद्धान्त ध्यान मे रखना चाहिए कि वे ही तत्व चुने जायँ जो बालकों मे कौतूहल को जाग्रित करें और उनके कौतूहल के द्वारा यथार्थता को प्रोत्साहित करें तथा बालक सामान्यीकरण पर आने की योग्यता प्राप्त करे।

(४) पाठ्यक्रम के संगठन के सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि इसका लचीला होना अत्यन्त आवश्यक है। पाठ्यक्रम का संयोजन व्यक्तिगत भेद के आधार पर होना चाहिए। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से हर बालक दूसरे से भिन्न है अतएव हर बालक की विशिष्ट योग्यताओं, रुचियों इत्यादि के अनुसार पाठ्यक्रम मे हेर-फेर होना आवश्यक है।

(५) पाठ्यक्रम के संगठन में यह बात भी देखनी चाहिए कि वह सुसम्बद्ध हो। विषय, बन्द कोठरियो में अलग-अलग बन्द न हों वरन् उनका आपस में सह सम्बन्ध होना चाहिए। एक विषय की शिक्षा दूसरे विषयों की शिक्षा से इस प्रकार न दी जाय कि इसका सम्बन्ध दूसरे विषयों से बिल्कुल न हो। बेसिक शिक्षा प्रणाली विभिन्न विषयों में समन्वय तथा सह-सम्बन्ध पर बहुत बल देती है और यह सिद्धान्त वर्तमान काल में सब शिक्षा शास्त्रियों को मान्य है।

(६) पाठ्यक्रम का संगठन सामाजिक भावनाओं को प्रोत्साहित करने वाला होना चाहिए। पाठ्यक्रम इस प्रकार से निर्धारित किया जाय कि अपनी विभिन्न क्रियाओं द्वारा बालक समाज मे रहने योग्य बन जाय। रचनात्मक कार्य, सामूहिक खेल-कूद, सामाजिक कार्यक्रम—सब का आयोजन विद्यालय में होना चाहिए।

(७) जीविका उपार्जन के सम्बन्ध मे भी पाठ्यक्रम के निर्धारण करने में ध्यान रखना चाहिए। बालकों के लिये ऐसे अनुभवों तथा विषयों की शिक्षा तथा ऐसे कार्यक्रम का आयोजन होना चाहिए जो उनके जीविका उपार्जन में सहायक हो। उन्हें पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना अच्छा है।

सेकेन्डरी एडूकेशन कमीशन (१९५२–५३) के अनुसार वर्तमान पाठ्यक्रम के दोष तथा पाठ्यक्रम निर्माण के मूल सिद्धान्त :—

सेकेन्डरी एडूकेशन कमीशन ने भारतीय शिक्षा के माध्यमिक स्तर के अभावों तथा त्रुटियों का विवेचन किया है और उनको दूर करने के सम्बन्ध मे सुझाव दिये हैं। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में भी इस कमीशन ने बहुत महत्वपूर्ण निरीक्षण किए और इसके निर्धारण के लिए मूल सिद्धान्तों का सुझाव दिया। वर्तमान पाठ्यक्रम जो भारत के विद्यालयों में अपनाया जा रहा है उसके सम्बन्ध में इस कमीशन ने निम्नलिखित आलोचनाएँ प्रस्तुत की हैं :—

(१) वर्तमान पाठ्यक्रम का दृष्टिकोण संकुचित है।

(२) यह पुस्तकीय तथा सैद्धान्तिक है।

(३) यह समृद्ध एवं महत्वपूर्ण पाठ्यवस्तु से रहित, विषयों से परिपूर्ण है। तात्पर्य यह कि बिना यह ध्यान दिए हुए कि बालक के लिए उनकी विषय-वस्तु उपयोगी और महत्वपूर्ण है या नहीं, बहुत से विषय पाठ्यक्रम में भर दिये गये हैं।

(४) यह सम्पूर्ण व्यक्तित्व को शिक्षित करने के लिए व्यावहारिक, और दूसरी प्रकार की क्रियाओं के लिये अपर्याप्त प्रबंध करता है; जिनका कि पाठ्यक्रम में होना नितान्त आवश्यक है।

(५) यह कैशोर की विभिन्न आवश्यकताओं तथा योग्यताओं को पूर्ण करने की चेष्टा नहीं करता।

(६) इस पर परीक्षाओं का नियन्त्रण बहुत अधिक है। परीक्षा पास करने के लिए कौन-कौन से विषय आवश्यक है और इन विषयों मे क्या पढ़ाया जाय, यही पाठ्यवस्तु निर्धारण में सबसे महत्वपूर्ण है माना गया है।

(७) इसमें तकनीकी तथा व्यावसायिक विषयों का समावेश नही है।[1]

पाठ्यक्रम निर्माण के मूल सिद्धान्त जिन्हें सेकन्डरी कमीशन ने प्रतिपादित किया है, वे हैं—

---

1. (1) The present curriculum is narrowly conceived. (2) It is bookish and theoratical, (3) It is over-crowded, without providing rich and significant contents. (4) It makes inadequate provision for practical and other kinds of activities which should reasonably find room in it, if it is to edueate the whole of the personality (5) It does not cater to the various needs and capacities of the adolescents. (6) It is dominated too much by examination and (7) It does not include technical and vocational subjects.

(१) विद्यालय का सम्पूर्ण जीवन पाठ्यक्रम समझा जाना चाहिए। जो विद्यार्थियों के जीवन का सर्वांगीण विकास करे तथा समायोजित व्यक्तित्व के विकास में सहायता दे। इससे तात्पर्य यह है कि विद्यालय की हर प्रकार की क्रिया को पाठ्यक्रम की संज्ञा देनी चाहिए क्योंकि व्यक्तित्व के विकास में केवल कक्षा शिक्षण ही महत्वपूर्ण नहीं है।

(२) पाठ्यक्रम में पर्याप्त मात्रा में विभिन्नता तथा लचीलापन होना चाहिए।

(३) पाठ्यक्रम, सामाजिक जीवन से महत्वपूर्ण तथा एकरूपित विधि से सम्बन्धित होना चाहिए।

(४) पाठ्यक्रम विद्यार्थी को केवल काम के लिए ही नहीं, वरन् अवकाश के लिए भी प्रशिक्षित करने वाला होना चाहिए।

(५) यह विषयों को अलग-अलग बन्द कोठरियों मे बाँध कर शैक्षिक मूल्यों को बिखरने वाला नहीं होना चाहिए।[1]

इस कमीशन के अनुसार माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम में जो विषय सम्मिलित किये जायँ वे बालक को ज्ञान के क्षेत्र के विस्तृत तथा महत्वपूर्ण अङ्गों की सामान्य रूप से प्रस्तावना दे। यह स्थान विशेषीकरण का नहीं है। जो विषय सम्मिलित किये जाय वे है—(१) भाषा, (२) समाजिक शास्त्र, (३) सामान्य विज्ञान, (४) गणित, (५) कला और सङ्गीत, (६) कारीगरी, तथा (७) शारीरिक शिक्षा।

वह पाठ्यक्रम जो उच्चतर माध्यमिक स्तर पर निर्धारित किया जाय उसमें शिक्षा के लिये विविध पाठ्यक्रम होने चाहिए। परन्तु कुछ मुख्य विषयों का समावेश भी होना आवश्यक है जो सब विद्यार्थियों के लिये आवश्यक हो, वे चाहे किसी भी विविध पाठ्यक्रम को पढ़ते हों। ये मुख्य विषय होने चाहिए –(१) भाषा, (२) सामान्य विज्ञान, (३) सामाजिकशास्त्र, और (४) एक कारीगरी।

विविध पाठ्यक्रम को उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के दूसरे वर्ष से आरम्भ

---

1. (1) The whole life of the school becomes the curriculum which can touch the life of the students at all points and help in the evolution of balanced personality, (2) There should be enough variety and elasticity in the curriculum, (3) The curriculum must be vitally and organically related to community life, (4) The curriculum should be designed to train the students not only for work but also for liesure, (5) It should not satisfy its educational value by being split up into a number of isolated uncoordinated water-tight subjects.

करना चाहिए। इसमें ऊपर दिये हुए चार विषयों के अतिरिक्त तीन विषय निम्नलिखित वर्ग में से होने चाहिए :—

वर्ग—(१) मानवीय।
(२) वैज्ञानिक।
(३) प्राविधिक।
(४) व्यावसायिक।
(५) कृषि।
(६) ललित-कला।
(७) गृह-विज्ञान।

पाठ्यक्रम के विभिन्न प्रकार[1]

पाठ्यक्रम के विभिन्न प्रकार पाठ्यक्रम के संगठन की विभिन्नता पर आधारित होते हैं। यदि पाठ्यक्रम के संगठन मे बालक की स्वाभाविक क्रियाओं आदि को अधिक महत्व दिया जाता है तो पाठ्यक्रम बाल-केन्द्रित हो जाता है। इसी प्रकार जिस पाठ्यक्रम में अनुभव के आधार पर विषयों का संकलन होता है वह अनुभव केन्द्रित पाठ्यक्रम कहलाता है। यहाँ हम इन विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमों का संक्षिप्त में वर्णन करेंगे।

(१) बाल-केन्द्रित पाठ्यक्रम[2]

पाठ्यक्रम का नियोजन जब बालक की प्रकृति के आधार पर किया जाता है और उसके विकास के स्तर पर उसकी आवश्यकताओं तथा रुचियों को ध्यान में रखकर किया जाता है तो यह बाल-केन्द्रित पाठ्यक्रम कहलाता है। ऐसे पाठ्यक्रम में बालक को प्रमुख स्थान और शेष आवश्यक शैक्षिक क्रियाओं के अँगो को गौण स्थान दिया जाता है। वर्तमान नवीन शिक्षण पद्धतियाँ इस प्रकार के पाठ्क्रम पर विशेष बल देती है। इनमें से मुख्य हैं किन्डरगार्टेन तथा मान्टेसरी प्रणाली।

(२) अनुभव पर आधारित पाठ्यक्रम[3]

पाठ्यक्रम का यह प्रकार सीखने वाले के अनुभवों को महत्ता प्रदान करता

1. Various types of curriculum, 2. Child centred curriculum. 3, Experience centred curriculum.

है। पाठ्यक्रम का नियोजन बालक को सम्यक्, पूर्ण तथा अच्छे अनुभवों को प्रदान करने के आधार पर किया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि जो विषय एक-दूसरे से अलग-अलग पढ़ाये जाते है। वे बालक को टूटे-फूटे अनुभव प्रदान करते हैं जिनमें कहीं भी एकरूपता नही आ पाती और इस कारण व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है या यह दोष पूर्ण बन जाता है। व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास ही यदि शिक्षा का उद्देश्य है तो शिक्षा द्वारा व्यक्तित्व में एकरूपता लाने का प्रयास अत्यन्त आवश्यक है। यह केवल तभी लाया जा सकता है जब बालक अपने अनुभवों में एकता की भावना का अनुभव करे।

(३) कार्यों पर आधारित पाठ्यक्रम[1]

जबकि कार्यों द्वारा बालक को अच्छे अनुभव प्रदान करना ही पाठ्यक्रम का ध्येय माना जाय तो इस प्रकार का पाठ्यक्रम और ऊपर वर्णन किये हुए पाठ्यक्रम में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। जो पाठ्यक्रम कार्यों पर आधारित होता है वह बाल-केन्द्रित भी होता है। बालक की प्रेरणाओं, योग्यताओं, रुचियों तथा आवश्यकताओं के आधार पर बालकों को कार्य प्रदान किये जाते हैं जिनसे अनुभव प्राप्त करके बालक के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास होता है।

(४) विषय-केन्द्रित पाठ्यक्रम[2]

इस प्रकार के पाठ्यक्रम में बालक को महत्व न देकर विषयों को महत्त्व दिया जाता है। यह पहिले निर्धारित किया जाता है कि प्रत्येक बालक जो एक विशेष कक्षा मे पढ़ता है उसे अमुक विषय पढ़ना अनिवार्य है। इसके पश्चात् विषय मे क्या-क्या प्रकरण सम्मिलित हों, इसकी विस्तृत व्याख्या की जाती है। अध्यापक का कार्य इन विषयों को पढ़ाना है। जो प्रकरण पाठ्यक्रम मे हैं अध्यापक उन्हें ही पढ़ाता है और जो कुछ और चाहे कितना ही बालकों के अनुभव के लिए महत्वपूर्ण हो छोड़ देता है। इसी प्रकार का पाठ्यक्रम भारतवर्ष में प्रचलित है। इसके दोषों की ओर हमने पीछे संकेत किया है। परन्तु इस प्रकार के पाठ्यक्रम मे यह गुण भी है कि विषय मे क्या पढ़ाना है, यह शिक्षक को स्पष्ट रूप से पता होता है और शिक्षार्थी को भी यह ज्ञात होता है कि उसे कितना पढ़ना है। परीक्षा द्वारा यह भी सरलता से पता चल जाता है कि बालक ने कितना सीखा है और विभिन्न विषयो मे उसकी योग्यता क्या है ?

---

1. Activity centredcurriculum. 2. Subject centred curriculum,

(५) शिल्प कला पर आधारित पाठ्यक्रम[1]

वर्तमान समय में भारतवर्ष में इस प्रकार के पाठ्यक्रम पर बहुत बल दिया जा रहा है। बेसिक शिक्षा द्वारा जिस पाठ्यक्रम को प्रतिपादित किया जाता है वह कारीगरी पर आधारित ही पाठ्यक्रम है। इस प्रकार के पाठ्यक्रम में किसी एक शिल्प को प्रमुख मानकर चारों ओर विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती है। शिक्षा का स्वरूप व्यावहारिक बना दिया जाता है। वह शिल्प ही सब विषयों का केन्द्र होता है। जो शिल्प व कारीगरी बेसिक विद्यालय में पढ़ाये जाते हैं, वे हैं—कृषि, कताई-बुनाई, लकड़ी का काम, चमड़े का कार्य इत्यादि। अन्य विषय जो इन शिल्पों को केन्द्रित करके सिखाये जाते हैं, वे हैं—(१) मातृभाषा, (२) गणित, (३) समाज विज्ञान, (४) सङ्गीत, (५) चित्रकला, (६) साधारण विज्ञान, तथा (७) शरीर विज्ञान।

इस प्रकार का पाठ्यक्रम बालकों को व्यावसायिक शिक्षा देने में भी सफल होता है। जिस शिल्पकला को बालक सीखते हैं वह उनके जीविका उपार्जन मे भी सहायक होता है।

(६) कोर-प्रधान पाठ्यक्रम[2]

कोर पाठ्यक्रम से तात्पर्य है ऐसा पाठ्यक्रम जिसमें कुछ विषय तो अनिवार्य हों और कई विषय ऐसे हों जिनमें से विद्यार्थी कुछ को अपनी रुचियों के अनुसार चुन सकें। इस प्रकार का पाठ्यक्रम अमरीका के स्कूलों में बहुत प्रचलित हो गया है। हर विद्यार्थी जो माध्यमिक स्तर पर होता है, अपनी वैयक्तिक रुचियों और योग्यताओं में एक-दूसरे बहुत भिन्न होता है। इसलिए सब विद्यार्थियों के लिए एक ही प्रकार का पाठ्यक्रम निर्धारण करना ठीक नहीं होता। फिर भी कुछ विषय ऐसे अवश्य होते हैं जिनका पढ़ना प्रत्येक विद्यार्थी को जो एक विशेष स्तर पर हैं, आवश्यक होता है। कोर पाठ्यक्रम द्वारा यह चेष्टा की जाती है कि वे विषय जो प्रत्येक बालक के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखते है उनको सब बालकों को अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाये और इसके साथ ही साथ बालक को बहुत से विषयों में से कुछ ऐसे विषयों को चुनकर पढ़ने की सुविधायें प्रदान की जायें जो उनकी रुचि तथा योग्यतानुसार हों।

कोर पाठ्यक्रम का मुख्य उद्देश्य "**समस्त युवकों को व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित अनुभव प्रदान करना है। बालकों को वास्तविक**

1. Craft centred education, 2. Core-curriculum.

समस्याओं के सुलझाने का अनुभव देना है और इस प्रकार उन्हें भावी समस्याओं का सामना करने के योग्य बनाना है। इसके द्वारा बालकों को वह अनुभव प्रदान करना है जो उन्हें समाज का अच्छा नागरिक बनने में सहायता दे।"[1] इस प्रकार कोर पाठ्यक्रम का लक्ष्य व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों का विकास करना है। इसके द्वारा बालक को ऐसा ज्ञान प्रदान करना है जो उसकी वर्तमान तथा भावी समस्याओं को सुलझाने में सहायक हो तथा बालक को एक अच्छा नागरिक बनाए।

कोर-पाठ्यक्रम क्योंकि समस्या सुलझाने पर बल देता है इसलिये इसमें विषय एक-दूसरे से पृथक करके नहीं पढ़ाये जाते वरन् कई विषय एक साथ ही पढ़ाये जाते है। दूसरी विशेषता इस पाठ्यक्रम की यह है कि किसी भी विषय को पढ़ाने के लिए कोई निश्चित समय-विभाग नही होता। जैसे यह कोई आवश्यक नहीं है कि कोई विषय केवल ४० मिनट के समय मे समाप्त हो जाना चाहिए। इस विषय का शिक्षण ४० मिनट के घन्टे से कही अधिक समय तक चल सकता है। कोर पाठ्यक्रम की तीसरी विशेषता है यह है कि यह बाल-केन्द्रित होता है। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित होता है। और चौथी विशेषता यह है कि कार्यों द्वारा समस्याओ को हल करने का अनुभव प्रदान करता है।

जिन विषयो का कोर पाठ्यक्रम में प्रमुख स्थान होना चाहिए वे हैं—स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षा, कला-कौशल, बागवानी, गणित, इतिहास, भूगोल इत्यादि।

स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षा—इस प्रकार की शिक्षा पाठ्यक्रम में प्रधान स्थान रखती है क्योंकि प्रत्येक बालक के शारीरिक विकास के लिए बिना शिक्षा के किसी भी प्रकार के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार की शिक्षा व्यायाम, तैरना, नाचना और टीम के खेलों की क्रियाओं का विद्यालय में आयोजन करके दी जा सकती है।

कला-कौशल—बालकों को कला-कौशल तथा प्रयोगात्मक क्रियाएँ रुचि-

1. Bulletin 1952, N. 3. Core Curriculum Development Problems and Practices, Washington D. C. 1952: "To provide all youth a common body of experience organized around personal and social problems to give boys and girls successful experiences in solving the problems which are real to them here and now, thus preparing them to meet future problems, to give youth experience which will lead them to become better citizens in a community office of education, federa security agency."

कर लगती हैं, विशेष तौर पर वे जब किशोरावस्था में होते हैं। अतएव उनके पाठ्यक्रम में कला तथा प्रयोगात्मक कार्यों को प्रधानता दिया जाना भी आवश्यक है। उनको इस प्रकार की क्रियायें सिखाई जा सकती है; जैसे—बुनाई, जिल्द बाँधना, लकड़ी का काम, धातु का काम, कुम्हारगीरी इत्यादि।

इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र इत्यादि—ये विषय बालक की सामाजिक भावना के विकास में अत्यन्त आवश्यक हैं। इन सब विषयों का सम्बन्ध मानव जीवन से है और इनके द्वारा समय और स्थान के अनुसार मानव जीवन की व्याख्या की जाती है। अतएव मानवता सम्बन्धी उचित दृष्टिकोण का विकास करने में इनका स्थान महत्वपूर्ण है।

विज्ञान—यह विषय भी एक प्रधान विषय है। वर्तमान युग में किस प्रकार प्राकृतिक शक्तियों पर मानव ने विजय प्राप्त की है। यह हर बालक को सीखना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उसमें परीक्षण तथा अन्वेषण करने की भावना का विकास करना भी आवश्यक है। बालक मे निरीक्षण, समता और तुलना तथा शुद्ध सामान्य सिद्धान्तो के बनाने की आदतों का निर्माण करना भी समाज तथा मानव कल्याण के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। विज्ञान का अध्ययन इन्हीं कारणों से आवश्यक है।

गणित—पाठ्यक्रम में इस विषय को भी प्रधान विषय की भाँति रखा जाना आवश्यक है क्योंकि यह विषय तर्क तथा अमूर्त विचारों के विकास में अत्यन्त सहायक होता है। इसके अतिरिक्त इसकी उपयोगिता दैनिक जीवन में भी बहुत है। बिना गणित के ज्ञान के हम दैनिक जीवन की साधारण से साधारण समस्याओं को हल करने में असफल रहेंगे। वर्तमान युग में गणित का महत्व इस कारण भी अधिक है कि समस्त विज्ञान का विकास इसी विषय पर निर्भर है।

भाषा—भाषा को पाठ्यक्रम में प्रधानता दिए बिना किसी भी प्रकार के विषय की शिक्षा संभव नहीं है। बिना भाषा-ज्ञान के न तो बालक व्यक्तिगत और न सामाजिक समस्याओं का समाधान करने में सफल होगा। भाषा को भलीभाँति पढ़े बिना बालक अपने विचार व्यक्त नहीं कर पायेगा और इस प्रकार उसका विकास रुक जायेगा।

हमने ऊपर देखा कि विविध प्रकार के पाठ्यक्रम कौन-कौन से हैं और उनकी क्या विशेषताएँ हैं। अब हम इन विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम में से जो पाठ्यक्रम बालक के अनुभव पर आधारित हैं तथा जो बाल-केन्द्रित हैं उन्हें ही उपयुक्त समझते हैं।

सारांश

पाठ्यक्रम जीवित तथा सक्रिय होता है इसमें विद्यालय में वास्तविक रूप से होने वाले सब अनुभव सम्मिलित होते हैं। प्राचीन समय में कुछ विषयों की शिक्षा से ही तात्पर्य पाठ्यक्रम था। परन्तु अब पाठ्यक्रम का अर्थ दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर अधिक केन्द्रित है।

पाठ्यक्रम की समस्या एक दार्शनिक समस्या है क्योंकि पाठ्यक्रम का नियोजन शिक्षा के उद्देश्य प्राप्त करने के लिये होता है और शिक्षा के उद्देश्य हमें दर्शन द्वारा ही प्राप्त होते हैं। आदर्शवादी पाठ्यक्रम को मानव के विचारों तथा आदर्शों पर अधारित होने पर बल देते हैं। नैंन महोदय पाठ्यक्रम का ऐसा होना आवश्यक समझते हैं जो व्यक्ति तथा समाज की जीवन रक्षा की क्रियाओं की पूर्ति में सहायक हो और जो मानव सभ्यता के निर्माण में सहायता प्रदान करे। रॉस महोदय पाठ्यक्रम का आधार तीन प्रक्रियाओं—ज्ञान, संवेदना और प्रक्रिया के विकास करने के हेतु प्रतिपादित करते हैं।

प्रकृतिवादी दृष्टिकोण बालक के व्यक्तित्व को महत्ता देता है। प्रकृतिवादियों के अनुसार पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिससे बालक की स्वाभाविक क्रियाओं का विकास हो और वह बालक को व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करे, जिससे बालक जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से अपना व्यवस्थापन कर सके।

यथार्थवाद के अनुसार पाठ्यक्रम में ऐसे विषयों, दैनिक कार्यों तथा व्यवसाय का समावेश हो जो बालकों को वास्तविक जीवन की परिस्थितियों से अवगत करा दे।

प्रयोगवादी पाठ्यक्रम में औपचारिकता को बुरा समझते हैं। वे उपयोगिता को महत्व देते है। पाठ्यक्रम के संगठन में यह आवश्यक है कि बालक को ऐसे अनुभव प्रदान किए जायँ जो उसे क्रियाशील बनाये रखें। पाठ्यक्रम का बालक की प्राकृतिक अभिरुचियों के अनुसार संगठित होना भी आवश्यक है।

प्रकृतिवाद तथा प्रयोगवाद दोनों ही को "क्रिया का सिद्धान्त" मान्य है।

आदर्शवादी विचारधारा और प्रयोगवादी विचारधारा में यह अन्तर प्रतीत होता है कि आदर्शवादी लक्ष्य को अधिक महत्व देते हैं जबकि प्रयोगवादी साधन को। परन्तु यदि यह साधन भी किसी लक्ष्य की ओर संकेत करें तो इनका अन्तर पाठ्यक्रम के सम्बन्ध मे बिल्कुल मिट जता है।

आधुनिक काल में पाठ्यक्रम के मनोवैज्ञानिक आधार पर बहुत बल दिया जाता है। मनोविज्ञान के आधार पर पाठ्यक्रम संकलन करने में हम इन बातों

पर बल दे सकते हैं—(१) पाठ्यक्रम लचीला हो, (२) पाठ्यक्रम में खेल-कूद का स्थान प्रमुख हो, (३) पाठ्यक्रम बालक की रुचि के अनुसार हो, (४) पाठ्यक्रम बालक के विकास की अवस्था के अनुसार हो।

पाठ्यक्रम के **सामाजिक आधार** से तात्पर्य यह है कि पाठ्यक्रम में जो विषय सम्मिलित किए जायँ वे बालकों में सामाजिकता की भावना का विकास करें। पाठ्यक्रम के संयोजन में वे विषय जो समाज के लिए उपयोगी हैं उन्हीं को अधिक महत्व मिलना चाहिए।

वर्तमान समय में बहुत से शिक्षा शास्त्री पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों को अधिक महत्व देने के पक्ष में हैं। पाठ्यक्रम के **वैज्ञानिक** आधार के मुख्य प्रतिपादक हर्बर्ट स्पेन्सर हैं।

पाठ्यक्रम निर्माण के महत्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) पाठ्यक्रम में ऐसे तत्वों को सम्मिलित किया जाय जो मानव जाति द्वारा अर्जित ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में बालकों को सामान्य जानकारी प्रदान करे।

(२) जो कुछ भी बालक को सिखाने के लिए चुना जाय वह उसके वर्तमान से सम्बन्धित हो।

(३) पाठ्यक्रम के निर्धारण में ह्वाइटहेड के अनुसार इसमें कौतूहल, यथार्थता तथा सामान्यीकरण का समावेश होना चाहिए।

(४) पाठ्यक्रम का लचीला होना अत्यन्त आवश्यक है।

(५) पाठ्यक्रम सुसम्बद्ध हो।

(६) पाठ्यक्रम का संगठन सामाजिक भावनाओं को प्रोत्साहित करने के आधार पर होना चाहिए।

(७) जीविका उपार्जन के सम्बन्ध में भी पाठ्यक्रम के निर्धारण करने में ध्यान रखना चाहिए। सेकिन्डरी एडुकेशन कमीशन के अनुसार वर्तमान पाठ्यक्रम के दोष तथा पाठ्यक्रम निर्माण के कुछ मूल सिद्धान्त हमारे समक्ष रखे गये हैं।

विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम निम्नलिखित हैं—

(१) **बाल-केन्द्रित पाठ्यक्रम**—पाठ्यक्रम का नियोजन जब बालक की प्रकृति के अधार पर किया जाता है और उसके विकास के स्तर पर उसकी आवश्यकताओं तथा रुचियों को ध्यान में रख कर किया जाता है तो यह बाल-केन्द्रित पाठ्यक्रम कहलाता है।

(२) **अनुभव पर आधारित पाठ्यक्रम**—पाठ्यक्रम का यह प्रकार शिक्षार्थी के अनुभवों को महत्ता प्रदान करता है।

(३) **कार्यों पर आधारित पाठ्यक्रम**—बालक की प्रेरणाओं, योग्यताओं, रुचियों तथा आवश्यकताओं के आधार पर बालकों को कार्य प्रदान किये जाते है जिनसे अनुभव प्राप्त करके बालक के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास होता है।

(४) **विषय-केन्द्रित पाठ्यक्रम**—इस प्रकार के पाठ्यक्रम में विषयों को महत्व दिया जाता है।

(५) **शिल्पकला व कारीगरी पर आधारित पाठ्यक्रम**—बेसिक शिक्षा में जिस प्रकार के पाठ्यक्रम पर बल दिया जाता है वह शिल्प पर ही आधारित रहता है।

(६) **कोर-पाठ्यक्रम**—कोर-पाठ्यक्रम से तात्पर्य ऐसे पाठ्यक्रम से है जिसमें कुछ विषय ऐसे हों जिनका पढ़ना प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक हो और बहुत से ऐसे विषय हों जिनमें से कुछ को बालक अपनी रुचि के अनुसार चुन कर पढ़े। कोर-पाठ्यक्रम का लक्ष्य व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों का विकास; करना है। इसके द्वारा बालक को ऐसा ज्ञान प्रदान करना है जो उसकी वर्तमान तथा भावी समस्याओं को सुलझाने में सहायक हो तथा बालक को एक अच्छा नागरिक बना दे। इस प्रकार के पाठ्यक्रम की विशेषताएँ है—(१) विषय एक-दूसरे से पृथक् करके नहीं पढ़ाये जाते, (२) किसी भी विषय को पढ़ाने के लिए कोई निश्चित समय विभाग नहीं होता, (३) यह बाल केन्द्रित है, (४) यह कार्यों द्वारा समस्याओं के हल करने का अनुभव प्रदान करता है। जिन विषयों का कोर पाठ्यक्रम में प्रमुख स्थान होना चाहिए वे हैं—स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षा, कला-कौशल, बागवानी, गणित, कला-कौशल, इतिहास भूगोल इत्यादि।

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. पाठ्यक्रम निर्माण के मूल सिद्धान्त क्या हैं? एक प्रारम्भिक विद्यालय के पाठ्यक्रम में कौन से विषय अनिवार्य रूप से सम्मिलित होने चाहिए।

२. पाठ्यक्रम के दार्शनिक आधार क्या हैं?

३. सेकिन्डरी एडूकेशन कमीशन के अनुसार वर्तमान पाठ्यक्रम में क्या दोष हैं? इन दोषों को कैसे दूर किया जा सकता है।

४. कोर-पाठ्यक्रम से क्या तात्पर्य है? इस प्रकार के पाठ्यक्रम की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

५. आप प्रचलित पाठ्यक्रम का पुर्नसंगठन किस आधार पर करेंगे ? कारण सहित अपने मत की पुष्टि कीजिये ।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) क्लपैट्रिक : **फिलास्फी ऑफ एडूकेशन** ।
(२) ड्यूवी : **डेमोक्रेसी एण्ड एडूकेशन**
(३) भाटिया एवं भाटिया : **दि प्रिन्सिपुल्स एण्ड मेथड्स ऑव टीचिंग** ।
(४) बुलेटिन १९५२, नं० ३ : **कोर करीकूल्यम डॅवलॅपमेन्ट प्रोबलम्स एण्ड प्रेक्टिसेज** ।
(५) अग्रवाल, ऐस० के० : शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त ।

—: o :—

अध्याय १०

संवेगात्मक समायोजन के लिए शिक्षा[1]

वर्तमान काल में शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य व्यक्ति का सामान्य संवेगात्मक समायोजन माना जाता है। संवेगात्मक समायोजन की आवश्यकता की ओर फ्रायड[2] और उनके अनुयायियों का सर्व प्रथम ध्यान गया। वर्तमान समय में जब समाज का ढांचा वैज्ञानिक तथा औद्योगिक विकास के कारण बदल रहा है तो यह सत्य है कि संवेगात्मक समस्याएँ समाज पर बहुत बुरा प्रभाव डाल रही हैं।

अब यह विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक व्यवहार का एक विशेष कारण[3] होता है और व्यक्तित्व का कुसोयोजन भी अर्जित होता है,[4] नैसर्गिक नहीं होता। इस नूतन विचारधारा ने संवेगात्मक समस्याओं को समझने में बहुत सहायता प्रदान की हैं। संवेगात्मक समायोजन से सम्बन्धित दो समस्याएँ हैं—(१) सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण तथा, (२) अव्यवस्थित व्यवहार का उपचार। मनुष्य सदव किसी ध्येय या उद्देश्य के लिए कार्य करता है। उस उद्देश्य को एक दी हुई स्थित में प्राप्त कर लेता है तो वह सन्तुष्ट हो जाता है और उसके संवेग उसके व्यक्तित्व के साथ अच्छे प्रकार से

1. Education for Emotional adjustment, 2. Freud, 3· Behaviour is caused, 4. Personality maladjustment are learned.

समायोजित हो जाते हैं। परन्तु यदि वह ऐसा नहीं कर पाता तो वह समस्या को दूसरे ढंग से हल करने की चेष्टा करता है। जैसे यदि वह उच्च चरित्र का है और उसमें लक्ष को प्राप्त करने की उच्च आकांक्षा है। तो जैसे ही समस्या खड़ी होती है वह रुचि को जाग्रत करती है। रुचि भी शक्तिशाली या निर्बल स्थिति के आधार पर ही होगी। माना कि एक ऐसी स्थिति है जो व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है तो वह उसमें गहन रुचि को जाग्रत करेगी। उदाहरण के लिए आप अपनी वार्षिक परीक्षा में बैठे हैं और यद्यपि आप उत्तीर्ण होने की पूर्ण आशा रखते हैं फिर भी आप अनुत्तीर्ण हो जाते है। यदि आप एक ऐसे व्यक्ति हैं जो संवेगों के आधार पर ही अपना निर्णय लेते हैं तो आप अपनी असफलता को एक ऐसी बड़ी दुखदाई घटना समझेंगे कि आप का मन किसी भी कार्य को करने को नहीं चाहेगा और आप कोई बुरा काम उत्तेजना की तीव्रता में कर बैठें तो यह कोई आश्चर्यजनक भी न होगा। विद्यार्थी परीक्षा में असफल होने पर आत्महत्या तक करने को तत्पर हो जाते हैं। ये ऐसे सवेगात्मक व्यक्ति होते हैं जिनकी भावनाएं उनके तर्कों पर नियंत्रण रखती हैं। दूसरी ओर यदि आपका व्यक्तित्व संतुलित है तो आप किसी भी कार्य को करने से पहिले उस पर पूर्ण रूप से विचार करेंगे। एकाएक जब आप अपने अनुतीर्ण होने का समाचार सुनेंगे तो आपको दुख होगा परन्तु आप अपनी कमजोरियों की ओर भी विचार करेंगे। अपने असफल होने का कारण का पता लगाने की चेष्टा करेंगे और अपने आपको भविष्य में अच्छी तैयारी और अच्छी सफलता प्राप्त करने के लिए तैयार करेंगे। इस प्रकार का चिन्तन संवेगों को शान्ति करने में सफल होता है। आप अपनी कमजोरियों और अभावों से अवगत होकर और इस भावना को लेकर कि परीक्षा पास करनी है आप दूरदर्शिता पूर्वक अधिक परिश्रम करेंगे।

अतएव उस दिशा में जबकि आपका व्यक्तित्व स्वस्थ है और परिश्रम सफल है" आपको हर कदम पर रुचि बढ़ेगी और आप अधिक परिश्रम से कार्य करेंगे। कार्य करने में रुचि, आपको उस समय जब आप कार्य कर रहे हैं सन्तोष प्रदान करेगी और जब आप सफल हो जायेंगे तो आपको और अधिक संतोष प्राप्त होगा क्योंकि आपको अपने उद्देश्य के प्राप्त करने पर अत्यन्त तुष्टि मिलेगी। इस प्रकार का सन्तोष विशिष्ट सफलता से प्राप्त होना जाता है जो आत्म विश्वास की स्थायी अनुभूति को बढाता है और व्यक्ति को उस कार्य के करने की प्रेरणा बढ़ती जाती है जिसमें उसे संतोष प्राप्त होता है।

संवेगात्मक समायोजन तथा कुसमायोजन का अर्थ

एक व्यक्ति समायोजित व्यक्तित्व वाला तब कहा जा सकता है जबकि

उसमें आत्म विश्वास हो। अपने सहकारियों के प्रति संवेदना की भावना हो और उन पर यह विश्वास हो कि वे व्यक्ति दयालु तथा ईमानदार है। जैसे जैसे समय बढ़ता जाता है संवेगात्मक दृष्टिकोण में पूर्णता आती जाती है। उसके संवेग ठीक समय पर उठते हैं और वह जो कुछ भी कार्य करता है उसमें अच्छी सफलता प्रदान करते हैं। आत्मविश्वास की कमी का न होना तथा जीवन के प्रति शुद्ध धारणाएँ उसे जीवन की परिस्थितियों में धैर्य तथा बुद्धि पूर्वक कार्य करने में योग प्रदान करती है।

एक व्यक्ति जिसने अपनी असफलताओं को इस प्रकार ग्रहण किया है कि उसमें आत्महीनता की भावना ग्रन्थि बन गई है और जो यह समझता है कि वह सदैव असफल रहेगा वह चाहे जो करे तो उसके सारे कार्यों को उसके संवेग रोक देंगे और वह जीवन में उन्नति नही कर सकेगा।

चिन्तन जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बिना उचित चिन्तन के कार्य करना प्रेरणाओं पर कार्य करना है। चिन्तन के अनुसार कार्य करना अपने सबसे अच्छे निर्णय के अनुसार कार्य करना है। अतएव जब जीवन अच्छे प्रकार से व्यतीत करना है तो चिन्तन को कार्य पर नियंत्रण रखना चाहिए। यहाँ संवेग एक मुख्य कार्य करता है। संवेगों को चिन्तन के अधिपत्य में रहना चाहिए तथा इसकी सहायता करनी चाहिए। उस दशा मे जब संवेग किसी दी हुई स्थिति में चिन्तन का आधिपत्य नहीं मानते तो व्यक्ति का व्यवहार पूर्णतया संवेगों से निर्दशित होता है। और इस प्रकार अनुचित ढंग से होता है। जिस सीमा तक संवेग बौद्धिक कार्यो पर अवरोध लगाते है तो वे उसी हद तक व्यक्तित्व को कुसंयोजित बनाते है।

कुछ सामान्य प्रकार के कुसमायोजन[1]

(१) असुरक्षा की भावना[2]—यह एक ऐसी भावना है जो व्यक्ति में यह धारणा उत्पन्न कर देती है कि व्यक्ति जीवन की कठिनाइयों के समक्ष निर्बल है। व्यक्ति अपने पास कोई ऐसा सशक्त आधार नहीं समझता जो उसकी कठिनाइयों के समय उसे मार्ग प्रदर्शन कर सके। व्यक्ति हर समय अपने को असुरक्षित समझता है और आत्मविश्वास खो बैठता है।

असुरक्षा की भावना का जन्म बाल्यकाल में ही हो जाता है। विशेषकर यह उन बालकों में बहुत अधिक बढ़ जाती है जिन्हें माता-पिता का प्रेमपूर्ण व्यवहार न मिला हो। यह पिता के बुरे व्यवहार के कारण या बालक को

1. Certain common types of maladjustment, 2. Feeling of unsecurity.

दूसरे बालकों द्वारा परेशान किए जाने के कारण विकसित हो जाती है। असुरक्षा की भावना व्यक्तित्व का कुसमायोजन इस कारण करती है कि बालक अपने जीवन की क्रियाओं में साधारण भाग लेने में हिचकिचाता है।

(२) आत्महीनता की भावना-ग्रन्थियाँ[1]

यह भावना-ग्रन्थि उस समय बनती है जब बालक किसी कार्य में बार-बार असफल होता है। बालक यह समझने लगता है कि वह हीन है और जब भी वह कोई कार्य करता है तो यह हीनता की भावना बढ़ती ही जाती है।

(३) दूसरों के ध्यान की अत्यधिक चाहना[2]

जब किसी बालक में यह भावना अत्यधिक बढ़ जाती है कि व्यक्ति उसकी ओर सदैव ध्यान दें तो यह भावना भी उसके व्यक्तित्व के कुसमायोजन का एक कारण बनती है। यह भावना उस समय अधिक बढ़ती है जब बालक को जीवन मे संतोष प्राप्त नही होता। वह अपने को अप्रसन्न तथा असुरिक्षत अनुभव करता है। ध्यान आकर्षण करने के कई कारण होते हैं। उनमें से मुख्य है साधारण प्रसन्नता का होना,[3] बहुत अधिक लाड़ प्यार[4] या अत्यधिक देखभाल।[5]

(४) प्रत्याहरण[6]

बालक दूसरे बालकों से मिलना-झुलना नहीं चाहता। वह अपने को आत्म-केन्द्रित कर लेता है। कक्षा में सकोची एवं शर्मीले बालक इसी प्रकार के होते है। वह जीवन की साधारण क्रियाओं से दूर भागना चाहते हैं। खेल कूद में भाग न लेकर वह अकेले रहना पसन्द करते हैं। ऐसे बालक दिवा-स्वप्न में लीन रहते हैं जिसका फल यह होता है कि वे वास्तविकता से हटकर काल्पनिकता को ही जीवन का आधार मान लेते हैं और कल्पना का साम्राज्य ही उन्हें सबसे अधिक मन भावन लाता है। इस प्रकार के व्यवहार की अधिकता व्यक्ति को असामान्य बना देती है और वह मानसिक रोगों से पीड़ित हो जाता है जिनका उपचार अत्यन्त कठिन होता है।

व्यक्तित्व के कुसमायोजन किस प्रकार सीखे जाते हैं—[7]

(१) **संवेगों की बहुलता**[8] :—जब एक सवेग जो किसी व्यक्ति द्वारा अनुभव किया जाता है उस समय वह बहुत अधिक मात्रा में होता है और यदि

1. Inferiority complex, 2. Attention seeking, 3. Deprivation of ordinary enjoyment, 4. Overprotection, 5. Oversupervision. 6. Withdrawl, 7. How personality maladjustments are learned, 8. Excessive Emotion.

व्यक्ति में संवेग को ग्रहण करने की अधिक शक्ति होती है तो व्यक्ति का संवेगात्मक अनुभव इतना बढ़ जाता है कि संवेग दृढ़ता से सीख लिया जाता है। और जब वह अनुभव गुजर भी जाता है, जिसने संवेग को उभारा है तब भी व्यक्ति की संवेगात्मक दशा बनी रहती है। इस प्रकार यह अत्यधिक संवेग व्यक्तित्व के गुणों का एक स्थायी अग बन जाता है तथा दूसरे अनुभवों पर भी प्रभाव डालने लगता है। इस प्रकार व्यक्तित्व का कुसंयोजन हो जाता है; जैसे एक व्यक्ति बहुत अधिक दुख के संवेग का अनुभव करता है। यह संवेग इतना विस्तृत होता है कि व्यक्ति जीवन के सब दूसरे अनुभवों में उसी संवेग को महत्व देने लगता है तो व्यक्तित्व कुसंयोजित ही कहा जाता है। कोई बडी दुखदायी घटना के पश्चात् यदि व्यक्ति सदैव अपने को दुखी ही समझे चाहे सुख का ही अनुभव क्यों न हो तो यह कुसंयोजित व्यक्तित्व का प्रतीक है। किसी एक संवेग को बहुत दिनो तक यदि एक व्यक्ति अनुभव करता है तो फिर उस संवेग के समाप्त होने पर भी वह दूसरे सवेगों की स्थिति में भी उसी संवेग का अनुभव करता है और कुसंयोजित व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

(२) **संवेगों का संघठन**[1] :—यदि असफलता, भग्न आशाएँ, भय, घृणा, असुरक्षिता के संवेग अनुभव के पश्चात् कुछ मात्रा में व्यक्ति में बचे रहते हैं जिनका स्पष्टीकरण अनुभव के दौरान में नहीं हो पाया है तो दूसरी बार जब कोई ऐसी स्थिति आती है जिसमें इस प्रकार के संवेगों के उभरने का अवसर होता है तो व्यक्ति इन संवेगों के प्रति अधिक कोमल हो जाता है। यदि दूसरी बार भी संवेगों का कुछ बचा हुआ भाग रह जाता है तो पहिले और दूसरे बचे हुए भाग मिल जाते हैं और एक दृढ़ संवेगात्मक मनोवृत्ति को बना देते हैं। यदि यह क्रिया कई बार दोहराई जाती है तो सब का प्रभाव मिल-जुल कर कुसमायोजित व्यक्तित्व का निर्माण करता है। जैसे एक व्यक्ति को क्रोध अधिक आता है परन्तु वह उसे पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर सकता तो क्रोध के जिस अंश को वह व्यक्त करने में असफल रहता है वह व्यक्ति के अन्दर बचा रहता है। दुबारा जब वही उस भाव का अनुभव करता है तो व्यक्ति शीघ्र ही क्रोधित हो उठता है परन्तु फिर भी जब वह पूर्ण रूप से उसे व्यक्त नहीं कर पाता तो पहिले से अधिक अंश बच जाता है। यह अवशेष अंश पहिले से मिलकर इकट्ठा होता जाता है। और इस प्रकार संवेगों का एकत्रित भाग अचेतन मस्तिष्क में बना रहता है। यह क्रिया यदि बहुत दिनों तक होती रहती है तो संवेगों का अवशेष समवेत रूप अचेतन मन में क्रियाशील हो जाता है और व्यक्ति का

---

1. Comulative Emotion.

व्यवहार दूषित बन जाता है। इसे ही हम व्यक्तित्व का कुसमायोजन कहते हैं।

शिक्षा का कार्य

शिक्षा घर से आरम्भ होती है और विद्यालय तथा समाज के जीवन में चलती रहती है। चूँकि घर, विद्यालय या समाज के वातावरण में व्यक्ति की प्रतिक्रिया द्वारा ही कुसंयोजन सीखा जाता है इस कारण व्यक्तित्व के कुसंयोजन को रोकने में शिक्षा ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यदि शिक्षा उचित रूप से दी जाय तो व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास संभव हो सकता है और एक अच्छे कुसंयोजित व्यक्तित्व का निर्माण हो जाता है। इसके अतिरिक्त विद्यालयों का कार्य उन बालकों का उपचार भी करना है जो मामूली कुसंयोजित व्यक्तित्व से पीड़ित होते हैं। शिक्षा का इस प्रकार द्विविधि कार्य है जिसके सम्बन्ध में हम आगे प्रकाश डालेंगे।

(१) सुसंयोजित व्यक्तित्व का निर्माण[1]

प्रत्येक मानव में कुछ न कुछ इच्छाएँ होती है जिनको वह अभिव्यक्ति प्रदान करना चाहता है। जो इच्छाएं बहुत ही शक्तिशाली होती हैं वे इस प्रकार हैं (१) रोचक एवं उत्तेजनात्मक कार्यो के प्रति लालसा, (२) भय तथा चिन्ता से सुरक्षा[3] (३) प्रतिक्रिया की इच्छा[4]; और (४) आत्मगौरव की इच्छा।[5] यदि इन प्रेरणाओं और इच्छाओं को स्वतन्त्र रूप से सन्तुष्ट होने का अवसर प्राप्त नहीं होता तो वे एक अनुभव से दूसरे में एकत्रित होते जाते है और अन्त में व्यक्ति के व्यवहार मे दोष उत्पन्न कर देते है। व्यक्ति अपने साधारण व्यवहार को करने में असमर्थ हो जाता है और असामान्य व्यवहार करने को बाध्य हो जाता है। विद्यालन मे ऐसी स्थिति उपस्थित न हो इसके लिए इन प्रेरणाओं और इच्छाओं को उचित रूप से व्यक्त होने के अवसर प्रदान करने चाहिए। अध्यापक और अभिभावकों को इन प्रेरणाओं की ओर ध्यान देना चाहिए। कुछ समय पहिले इनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था पर अब मनोविज्ञान के विकास ने इनको व्यक्तित्व समायोजन मे बहुत महत्व प्रदान कर दिया है। अब यह जानना प्रत्येक अध्यापक का कर्त्तव्य समझा जाता है कि (१) प्रेरणाएं बालक के व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव डालती है (२) यदि इन प्रेरणाओं को अभिव्यक्ति का अवसर न दिया गया

1. Building the well adjusted personality, 2. The craving for interesting and even exciting activity. 3. The demand for security as against anxieties and fears, 4. The desire for response and 5. the desire for recognition.

तो बालकों में किस प्रकार के कुसंयोजनों का आरम्भ हो जाता है और (३) इन कुसंयोजनों का उपचार कैसे होना चाहिए। इसके लिए जो मुख्य बातें ध्यान में रखनी चाहिए, वे हैं—

(१) विद्यालय में कठोर अनुशासन पर बल नही दिया जाना चाहिए। बालकों की क्रियाओं पर रोकटोक नहीं लगानी चाहिए। बालकों को अपनी स्वाभाविक क्रियाओं को करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उनकी सक्रियता का दमन नहीं होना चाहिए। उन्हें रोचक और उद्देश्यपूर्ण क्रियाएं प्रदान करना चाहिए। यदि इन क्रियाओं में वे सफलता प्राप्त करेंगे तो उनका संवेगात्मक अनुकूलन बहुत ही ठीक ढङ्ग से हो जायगा यदि बालकों को रोचक तथा अर्थपूर्ण क्रियाओं को करने को दिया जायेगा तो अन्य तीन मूल आवश्यकताओं की भी पूर्ति होगी और यदि कोई छोटा-मोटा साधारण कुसंयोजन हो भी गया है तो उसका भी बहुत कुछ उपचार हो जायेगा।

(२) अध्यापक को सुरक्षा की भावना की विद्यार्थियों में प्रोत्साहित करना चाहिए। उसे उन बालकों पर जो संकोची हैं तथा समाज से दूर भागना चाहते है विशेष ध्यान देना चाहिए। बालकों को यह सिखाना भी आवश्यक है कि वे अपनी असफलताओं को बहुत अधिक हृदयंगम न करें। उन्हें अपनी असफलताओं के वास्तविक कारणों को जानकर उनको दूर करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। असफलता, भय इत्यादि से उत्पन्न संवेगों को उचित रूप से कार्य में लगा देने से ही संवेगात्मक व्यवस्थापन सम्भव है।

(३) बालक के अच्छी क्रियाओं मे भाग लेने से उसकी प्रतिक्रिया की इच्छा को भी सन्तुष्ट किया जा सकता है। प्रत्येक बालक के अन्दर यह भावना होती है कि वह प्रतिक्रिया करे। वह दूसरों के साथ उचित व्यवहार को अपनाये परन्तु कुछ बालक आरम्भ में घर के या विद्यालय के दूषित वातावरण के कारण आत्महीनता की भावना ग्रन्थि बना लेते है जो उनको समाज के दूसरे व्यक्तियों के साथ उचित प्रतिक्रिया करने में असफल बना देती है। ऐसी दशा में व्यक्तित्व का कुसंयोजन हो जाता है। ऐसा न हो इसके लिए अध्यापक तथा अभिभावकों को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वातावरण में बालक की स्वतंत्र क्रियाओं पर कोई रोक टोक न हो। उसे परिवार के दूसरे सदस्यों द्वारा प्रेम प्राप्त हो तथा विद्यालय में उसके साथ सहानुभूति पूर्ण, मित्रता का व्यवहार किया जाय।

(४) आत्म-गौरव की इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिये घर और विद्यालय में बालक को उचित क्रिया प्रदान करनी चाहिए तथा अच्छे वातावरण का निर्माण करना चाहिए। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कभी-कभी विद्यालय में कुछ

अधिक प्रभव और योग्य बालक नेतागीरी को आवश्यकता से अधिक अपना कर अपने अन्दर दोषों को जन्म देते हैं। इसके साथ-साथ दूसरों के ध्यानाकर्षण की चाहना तथा मिथ्याभिमान के द्विविध द्वोष घर कर जाते हैं। यह बालक दूसरे बालकों को नेतृत्व का अवसर ही नहीं लेने देते जिससे उनके आत्मगौरव की प्रेरणा को सन्तोष नहीं होता। अतएव अध्यापक को चाहिए कि ऐसी स्थिति को न आने दे। नेतृत्व के पदों को बुद्धिमानी से वितरण करे। दूसरों के ध्यानाकर्षण की लालसा को कम करने के लिए प्रतिद्विन्द्वता को कम से कम करने की चेष्टा करे।

(२) साधारण कुसमायोजन का उपचार[1]

अध्यापक केवल ऐसे ही असामान्य व्यवहार का उपचार कर सकता है जो वहुत ही लघु रूप से असामान्य है। जो व्यवहार बहुत अधिक असामन्य है या जो व्यक्तित्व बड़ी मात्रा में कुसंयोजित है उसका उपचार करने के लिए विशेषज्ञों की सहायता लेनी पड़ेगी। मामूली कुसंयोजन किसी न किसी रूप में प्रत्येक विद्यार्थी में पाया जाता है इस कारण अध्यापक को इसको दूर करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए।

अध्यापक को चाहिए कि सबसे पहिले विद्यार्थियों का निदान करे और यह पता लगाये कि बालक का व्यक्तित्व किन कुसंयोजनों से दूषित है। इस निदान के पश्चात् उसे उनके उपचार के वास्ते प्रयत्न करने चाहिए। मामूली कुसंयोजन को तो ऊपर वर्णन की हुई विधियों को अपना कर दूर किया जा सकता है। परन्तु यदि व्यक्तित्व का कुसंयोजन गम्भीर रूप धारण कर लेता है तो विशेषज्ञ के पास बालक को भेजना चाहिए।

यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि अध्यापक का संवेगात्मक समायोजन विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के समायोजन तथा मामूली कुसंयोजन के उपचार के लिये आवश्यक है। यदि अध्यापक सवेगों का शिकार है और उसका व्यक्तित्व असाधारण है तो वह बालकों में केवल इसके कि असाधारण व्यवहार को प्रोत्साहित करे और कुछ नही कर सकता। ऐसे अध्यापकों के अनेकों उदाहरण है जो स्वयं व्यक्तित्व के कुसमायोजन से पोड़ित होने के कारण बालकों के व्यक्तित्व को इतनी हानि पहुँचाने के कारण हुए कि अनेको प्रयत्नो के पश्चात् भी बालक के व्यक्तित्व में सुधार न हो सका। इस सम्बन्ध मे दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली तो यह कि कुसमायोजित व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों को अध्यापन कार्य के लिए कभी नहीं चुनना चाहिए तथा अध्यापक के लिये ऐसी सुविधाएँ

1. Curing minor maladjustment.

प्रदान करनी चाहिए जिससे कि उसको कार्य करने को स्वतन्त्रता हो और वह असुरक्षा की भावना से पीड़ित न हो।

अन्त में हम कह सकते हैं कि बालक के संवेगात्मक समायोजन के लिये उद्देश्यपूर्ण क्रियाएँ जो उसकी सक्रियाता को प्रोत्साहित करे उसे प्रदान करना चाहिए। बालक के ऊपर से विभिन्न अवरोध हटा कर उसकी मूलप्रवृत्तियों का उचित मार्गन्तरीकरण करके तथा शोधन करके उसके व्यक्तित्व का सर्वङ्गीण विकास करना चाहिए।

सारांश

संवेगात्मक समायोजन से सम्बन्धित दो समस्याएँ हैं। वे हैं (१) सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण तथा (२) अव्यवस्थित व्यवहार का उपचार,

जब संवेगात्मक भावनाएँ चिन्तन अथवा तर्क पर नियन्त्रण रखती है तो व्यक्तित्व का कुसंयोजन हो जाता है और व्यक्ति का व्यवहार अव्यवस्थित हो जाता है। इस कारण व्यक्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति के संवेगों को चिन्तन के अधिपत्य मे रहना चाहिए।

कुछ सामान्य प्रकार के कुसंयोजन है (१) असरक्षा की भावना (२) आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थियाँ (३) दूसरे के ध्यान की अत्याधिक चाहना तथा (४) प्रत्याहरण

व्यक्तित्व के कुसंयोजन दो मुख्य प्रकार से सीखे जाते हैं (१) संवेगो की बहुलता (२) संवेगों का संघठन।

शिक्षा का द्विविधि कार्य है—(१) सुसंयोजित व्यक्तित्व का निर्माण तथा (२) साधारण कुसंयोजन का उपचार।

सुसंयोजित व्यक्तित्व के निर्माण के लिए ये बातें ध्यान मे रखनी चाहिए-(१)कठोर अनुशासन पर बल न देना (२) विद्यार्थियों में सुरक्षा की भावना को प्रोत्साहित करना, (३) बालकों को अच्छी क्रियाओं में भाग लेने को प्रोत्साहित करना, (४) उनमे आत्म-गौरव की भावना का विकास करना।

साधारण कुसंयोजन के उपचार के लिए विद्यार्थियों के रोग का निदान आवश्यक है। निदान के पश्चात् ही उचित उपचार की विधियों को अपनाना चाहिए।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. संवेगात्मक समायोजन से आप क्या समझते हैं । शिक्षा द्वारा एक बालक का कैसे सम्वेगात्मक समायोजन किया जा सकता है ।

२. "व्यवहार का एक विशेष कारण होता है" और व्यक्तित्व का कुसमायोजन सीखा जाता है" इस कथन से आप क्या समझते हैं अपने विचार व्यक्त कीजिए ।

३. शिक्षा के द्विविधि कार्य क्या हैं । दोनों के सम्बन्ध में स्पष्ट विवेचन कीजिए ।

४. एक असामान्य रूप से झिझकने वाले बालक के लिये अध्यापक को क्या-क्या व्यावहारिक उपाय अपनाना चाहिए जिससे उसकी झिझक दूर हो जाए ।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) किलपैट्रिक : **फिलासफी आव एडूकेशन**
(२) माथुर, एस० एस० : **शिक्षा मनोविज्ञान**
(३) फ्राइड : **प्रोब्लम आव एंगजाइटी**
(४) स्किनर : एडूकेशनल साइकॉलाजी

—: o :—

अध्याय ११

व्यावसायिक शिक्षा[1]

वर्तमान काल में जीविका उपार्जन की शिक्षा का महत्व अधिक बढ़ गया है। जो शिक्षा उपयोगी हो उस पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। शिक्षा के प्रति यह दृष्टिकोण कि शिक्षा का ध्येय केवल शिक्षा ही है जिसमें उपयोगिता का कोई स्थान नहीं पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया है। यह विश्वास किया जाता है कि वास्तविक शिक्षा वही है जो व्यक्ति को सम्यक् रूप से अपना जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार करे। ऐसी शिक्षा प्रदान करने से तात्पर्य यही है कि व्यक्ति जीवन की विभिन्न एवं विषम परिस्थितियों से संघर्ष करने की क्षमता ग्रहण कर ले। क्योंकि जीविका उपार्जन एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसीलिये इसकी शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। वर्तमान समाज का ढाँचा इस प्रकार का है कि इसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका उपार्जन करने के लिये संघर्ष करना पड़ता है। जो व्यक्ति अपनी जीविका उपार्जन स्वयं नहीं कर पाते या असामाजिक ढङ्ग से करते हैं वे समाज का रक्त चूसने वाले कीटाणु ही कहे जा सकते हैं। यदि समाज में ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं तो इसका उत्तरदायित्व उस समाज में दी जाने वाली शिक्षा पर ही है।

---

1. Vocational Education,

व्यावसायिक शिक्षा से तात्पर्य[1]

व्यावसायिक शिक्षा से तात्पर्य किसी विशेष व्यवसाय की शिक्षा से नहीं है। यह शिक्षा जीवन की शिक्षा के रूप में ही समझी जा सकती है। कैलर[2] महोदय के अनुसार व्यावसागिक शिक्षा से अभिप्राय इस प्रकार है।

(१) **व्यावसायिक शिक्षा से तात्पर्य है एक सम्यक्, कुशल तथा, आनन्ददायी जीवन**[3]। व्यावसायिक शिक्षा द्वारा व्यक्ति को यथार्थ जीवन से सम्बन्धित शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार की शिक्षा से यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि व्यक्ति को एक कुशल डाक्टर, एक न्याय संगत जज, एक बाल की खाल निकालने वाला वकील या एक चतुर वैज्ञानिक बना दिया जाय। इस प्रकार की शिक्षा द्वारा तो व्यक्ति मे सृजनात्मक, तार्किक या न्यायसंगत शक्ति का विकास किया जाता है। यह शिक्षा जीवन के लिये है, केवल ज्ञान के लिए नहीं। यह शिक्षा व्यक्ति को किसी विशेष प्रकार की शिक्षा नहीं प्रदान करती वरन् उस व्यक्ति को जो कुछ करने को आतुर है, जो क्रियाशील है और जो विकास की ओर अग्रसर हो रहा है उसे अपनी पसन्द के अनुसार क्रियाएँ करने के सुअवसर प्रदान करती है। यह क्रिया करने को बाध्य करने वाली शिक्षा नहीं है। यह तो केवल एक चिनगारी है जो ज्वलनशील वस्तुओं में लगते ही आग को भड़का देती है। यह गुप्त शक्ति को अभिव्यक्त कर देती है और एक जीवित को जीने का अवसर प्रदान करती है।[4]

(२) **व्यावसायिक शिक्षा यह मानकर चलती है कि जीवन का एक गंभीर उद्देश्य है जिसकी अभिव्यक्ति एक अर्थपूर्ण व्यवसाय में होती है।**[5] उद्देश्य की महिमा बहुत अधिक है। इसमें कोई सन्देह नही कि व्यवसाय मे उद्देश्य निहित है। जब हम एक छोटे बालक से पूछते है कि वह बड़ा होकर क्या बनेगा तो हम उससे उस व्यवसाय के सम्बन्ध में पूछते है जो वह आगे चलकर चुनेगा। इस प्रश्न द्वारा वास्तव में हम बालक का जीवन सम्बन्धी उद्देश्य ही पूछते है। वह आरम्भ में अपने उद्देश्य को स्पष्ट नहीं रख पाता परन्तु जैसे जैसे वह वातावरण के सम्पर्क में आता जाता है। उसकी रुचियाँ विकसित होती जाती

1. Meaning of vocational Education, 2. F. J. Keller : Principles of Vacational Education, Boston D. C. Health. 3. Vocational Education means a full, efficient, and happy life, 4. Keller : It does not have to educate activity. It merely touches off a spark. It releases latent energy. It gives the living a chance to live, 5. Vocational education assumes that life has a serious purpose manifesting itself on a meaningful occupation.

है और उसके जीवन उद्देश्य में स्पष्टता आती जाती है तथा जीविका उपार्जन की शिक्षा अर्थपूर्ण हो जाती है।

(३) **व्यावसायिक शिक्षा में व्यक्तिगत विभिन्नता का आयोजन होता है**[1]। प्रकृतितः हर मनुष्य दूसरे से भिन्न होता है। कुछ मनुष्यों में व्यावसायिक कुशलता सामान्य रूप से होती है जबकि कुछ में यह साधारण मात्रा में और कुछ में बिलकुल नहीं के बराबर होती है। यह नहीं माना जा सकता कि प्रत्येक मनुष्य में उच्च योग्यताएँ निहित हैं जिन्हें शिक्षा द्वारा उभारा जाना आवश्यक है। व्यावसायिक शिक्षा तो जो कुछ व्यक्ति की योग्यताएँ हैं और जिक मात्रा में भी वे हैं उनको उभारने की चेष्टा करती है। यह व्यक्तियों की विभिन्नता के आधार पर ही दी जाती है। वास्तविक रूप से व्यावसायिक शिक्षा से यह तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निहित योग्यताओं तथा शक्तियों का पूर्ण विकास करने के अवसर प्राप्त हो जायँ।

(४) **व्यावसायिक शिक्षा जनतंत्रीय भावना को अपनाती है**[2]। जीविका उपार्जन की शिक्षा इस सिद्धान्त को मान्य समझती है और इसके अनुसार ही कार्य करती है कि हर एक व्यक्ति किसी न किसी व्यवसाय को सीखने के योग्य होता है और हर प्रकार का व्यवसाय इस व्यक्ति के करने योग्य होता है जो उसे करता है चाहे वह शारीरिक, बौद्धिक या संवेगात्मक हो। इस प्रकार यह शिक्षा, क्रिया द्वारा श्रम की महत्ता पर बल देती है न कि मात्र व्याख्यान द्वारा[3]।

व्यावसायिक शिक्षा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को प्रगति करने के समान अवसर दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे एक दूसरे के व्यवसाय के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त कर लेते है। वे एक-दूसरे के व्यावसायिक कार्यों के सम्बन्ध में उचित दृष्टिकोण अपना लेते हैं। वे समझ लेते है कि दूसरों का व्यवसाय भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि उनका। वे दूसरों के प्रति सेवा भावना को अपनाते हैं जैसे कि दूसरे उनके प्रति, और ये ही सहयोग की भावनाएँ सच्ची जनतंत्रीय भावनाओं का आधारभूत है।

---

1. Vocational education makes provision for the wide differences among individuals, 2. Vocational education assumes democracy, 3. "Vocational education assumes and works upon the principle that every individual is worthy of preparation for an occupation and that every occupation is is worthy of the individual who pursues it, whether it be manual, intellectual or emotional, thus arriving at the dignity of labour by action rather than by preachment.

(५) **व्यावसायिक शिक्षा शिक्षित व्यक्ति की प्रगति से घनिष्ट रूप से सम्बन्धिक है।**[1] जीविका उपार्जन की शिक्षा शैक्षिक वास्तविकता पर बल देती है। यह शिक्षित व्यक्ति को वास्तयिक अनुभवों से परिचित कराती है। यह शिक्षा एक शिक्षित व्यक्ति को जोवन की यथार्थ परिस्थितियों से अवगत कराती है जिसका फल यह होता है कि व्यक्ति प्रगति की ओर शीघ्रता से अग्रसर होता है।

(६) **व्यावसायिक शिक्षा प्रत्येक व्यवसाय से सम्बन्धित है**[2]। जीविका उपार्जन की शिक्षा से तात्पर्य किसी विशेष व्यवसाय की शिक्षा से नहीं है। यह शिक्षा हर प्रकार के व्यवसाय, पेशा तथा नौकरी से सम्बन्ध रखती है जो समाज सेवा तथा समाज की प्रगति के लिये अपनाये जाते हैं। व्यावसायिक शिक्षा से तात्पर्य ऐसी शिक्षा से है जो समाज में योग्य तथा कुशल कार्यकर्त्ताओं की योग्यता का सम्यक् विकास करे। ये कार्यकर्त्ता किसी भी ऐसे व्यवसाय में लगे हुए हो सकते हैं जो समाज सेवा या समाज प्रगति या ऐसा व्यक्तिगत व्यवसाय जो समाज के लिए हानिकारक न हो।

व्यावसायिक शिक्षा का महत्व[3]

व्यावसायिक शिक्षा के बिना शिक्षा का कोई मूल्य नहीं। यदि युवकों को ऐसी शिक्षा दी जाय जो उन्हें कोई भी व्यवसाय चुनने तथा उसमें प्रगति करने का कोई भी अवसर न दे तो शिक्षा अनुपयोगी ही रहेगी। ऐसी अनुपयोगी शिक्षा का वर्तमान काल में कोई महत्व नही है। अब समाज सेवा के प्रति दृष्टिकोण यह है कि हर एक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार व्यवसाय चुने और अपना व्यक्तिगत योगदान उस व्यवसाय को अत्यन्त उन्नत और समृद्ध बनाने में करे। व्यावसायिक शिक्षा के द्वारा लोक कल्याण भी संभव है और इसी में सम्पूर्ण संसार का मानव हित भी निहित है। लोककल्याण के आधार पर ही हम जीविका उपार्जन के महत्व को समझ सकते हैं।

लोक कल्याण के प्रमुख आधार निम्नलिखित है—

(१) प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वयं के जीवनयापन के लिए ही धन कमाए तथा कुछ इससे अधिक ही अच्छी उसकी आर्थिक स्थित हो। उसको उपयुक्त नौकरी मिलनी चाहिए। जो अपाहिज या मूढ हों उन्हें समाज की सहायता प्राप्त हो यह

---

1. Vocational Education is deeply concerned with the development of the literate, the educated man, 2. Vocational Education is concerned with every vocation. 3. Importance of Vocational Education.

बिना व्यावसायिक शिक्षा के संभव नहीं प्रत्येक व्यक्ति को सम्यक् नौकरी या व्यवसाय के साथ इतना परिश्रम करना चाहिए जिससे वह अधिक से अधिक उपभोग्य सामग्री का उत्पादन करे । इसे वह उसी समय कर सकेगा जब वह उन कलाओं, सिद्धान्तों व्यवसायों इत्यादि को सीख ले जिनमें उसके पूर्वज सिद्ध-हस्त थे । इसके साथ साथ उसे अपने रुझान तथा योग्यतानुसार कलाओं तथा व्यवसायों को सीखने के अवसर प्राप्त हों जिनको सीखकर वह समाज के हित के लिए उपयोगी बने । परन्तु आजकल औद्योगिक विकास इतना अधिक बढ़ गया है कि कलाओं का विषेशीकरण इतना प्रबल है तथा व्यवसायिक सिद्धान्त इतने जटिल हो गये हैं कि कोई भी व्यक्ति बिना विशेष रूप से शिक्षा पाये हुए उन्हें नहीं समझ सकता । अतएव व्यावसायिक शिक्षा के बिना समाज का कल्याण संभव नहीं । आज का युग विज्ञान का युग है । विज्ञान की प्रगति के आधार पर ही सारे संसार का कल्याण संभव है । परन्तु विज्ञान की प्रगति तब तक संभव नहीं हो सकती जब तक कि वैज्ञानिक आविष्कारों, वैज्ञानिक-साहित्य, वैज्ञानिक सिद्धान्त जो जाति की संस्कृति द्वारा अर्जित किए गये हैं उनके सम्बन्ध में विशिष्ट जानकारी न हो । इस ज्ञान को प्रदान करने के लिए किसी अन्य प्रकार की शिक्षा इतनी प्रभावशाली नहीं है जितनी कि व्यावसायिक शिक्षा ।

(३) नये-नये आविष्कार तथा उनका जीवन में प्रयोग नये प्रकार की सेवाओं की मांग उपस्थित करते हैं । यदि हमारे घर में रेडियो, रेफ्रीजेरेटर है या बिजली की इस्त्री है या और कोई ऐसी ही वस्तु है तो उसकी मरम्मत के लिए विशेष प्रकार की सेवाओं की आवश्यकता होती है । इसी प्रकार से हमारे आयकर या बिक्री कर का ठीक हिसाब करने के लिए विशेष प्रकार के प्रशिक्षित व्यक्ति चाहिए । ऐसी सेवाऐं हमें उसी सयय उपलब्ध हो सकती हैं जब विभिन्न व्यक्ति जीविका उपार्जन की शिक्षा द्वारा इन सब सेवाओं के लिए तैयार किए जायं ।

(४) जन-कल्याण भी उसी समय संभव है जब उचित कार्यकर्त्ता उचित स्थानों में जाकर मनोयोग से सेबा करें । उचित सेवक से तात्पर्य है कि सेवक अपना कार्य करने में प्रसन्नता अनुभव करे । अपने कार्य में रुचि लें, पर्याप्त मात्रा में धन उपार्जित करें जो उनके जीवन के स्तर को उच्च बना दे तथा अपनी पूर्ण सामर्थ्य लगाकर उत्पादन करे । व्यावसायिक शिक्षा द्वारा उपयुक्त सेवक समाज को मिल जाते है परन्तु इसके लिए उचित निर्देशन[1] की भी आवश्यकता है ।

---

1. Guidance.

(५) राष्ट्र की सुरक्षा उसी समय सभव है जब राष्ट्र के नागरिकों का जीवन स्तर ऊँचा हो। वे शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्वस्थ हों तथा अपने देश के प्रति उच्च भावनाएँ रखते हों। इसके लिए राष्ट्र में उचित सेवकों का होना आवश्यक है जो बिना व्यावसायिक शिक्षा के संभव नहीं है।

(६) समाज कल्याण से तात्पर्य है कि सभी समाज सेवी प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर तर्क संगत तथा सुन्दर व्यवहार करने वाले नागरिक हों। व्यावसायिक शिक्षा केवल किसी विशेष व्यवसाय की शिक्षा नहीं है परन्तु इसमें सब बिषयों का सामान्य रूप से सीखना सम्मिलित होता है; जैसे इतिहास, कला, साहित्य इत्यादि का। इस प्रकार की शिक्षा ही उचित नागरिकता का निर्माण करती है।

व्यावसायिक शिक्षा का महत्व इसी कारण बहुत अधिक है कि समाज को ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो सब मनुष्यों के लिए एक अच्छे जीवन का निर्माण करने में सहायता करें। अच्छे जीवन का निर्माण सरल नहीं है परन्तु व्यावसायिक शिक्षा इस कार्य में बहुत कुछ सहायता प्रदान करती है।

व्यावसायिक शिक्षा किसके लिये ?

व्यावसायिक शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के लिए होती है। वह प्रत्येक व्यक्ति को अपने हाथों का उपयोग करना सिखाती है। व्यवसायिक शिक्षा यह सिखाती है कि व्यक्तियों को किस प्रकार कार्य करना चाहिए हैं और क्या-क्या कार्य करना चाहिए। यह आम जनता एवं विशेषज्ञो के लिए और भी आवश्यक है। व्यावसायिक शिक्षा सम्पूर्ण व्यवसायों की शिक्षा से सम्बन्धित है। ये व्यवसाय ऐसे स्तर के भी सकते हैं कि उनमें कम से कम कला की आवश्यकता हो अथवा ऐसे जिनमें प्रशिक्षण की आवश्यकता हो।

व्यावसायिक शिक्षा और उदार शिक्षा[1]

जीविका उपार्जन की शिक्षा या उपयोगी शिक्षा तथा सर्वव्यापी शिक्षा में बहुधा भेद किया जाता है। उपयोगी शिक्षा वह शिक्षा समझी जाती है जो व्यक्ति को किसी एक विशेष व्यवसाय के लिए तैयार करती है जबकि उदार शिक्षा से उस शिक्षा का तात्पर्य है जो बहु विषयों की शिक्षा है जिसमें विशिष्ट के स्थान पर सामान्य पर अधिक बल दिया जाता है। यह शिक्षा व्यक्ति को हर व्यवसाय के लिए तैयार करती है न कि किसी एक विशेष व्यवसाय के लिए।

1. Vocational and Liberal Education.

यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो उदार शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा में अन्तर केवल संकीर्ण दृष्टिकोण का ही है। उदार शिक्षा हमारे मस्तिष्क को सहिष्णु बनाती है। इस शिक्षा में स्वतन्त्रता के लिए शिक्षा निहित है। स्वतन्त्रता से यहाँ तात्पर्य है स्वतन्त्र रूप से व्यक्ति को यह सुविधा प्राप्त हो कि वह अपनी वैयक्तिक तथा संवेगात्मक शक्तियों का विकास कर सके। वह अपनी नीच प्रवृत्तियों की गुलामी से स्वतन्त्र हो तथा स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति का उसमें विकास हो। यह कार्य व्यावसायिक शिक्षा भी उचित रूप से कर सकती है। व्यावसायिक शिक्षा कार्य पर बल देकर तथा व्यक्ति की सृजनात्मक प्रवृत्तियो को प्रोत्साहित करके व्यक्ति के मस्तिष्क को उदार और सहिष्णु बनाती है। यह शिक्षा व्यक्ति की मूल प्रेरणाओ को उभारती है और उन्हें वास्तविकता का सामना करने के लिए प्रशिक्षित करती है। इस प्रकार की शिक्षा द्वारा व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता है।

अन्त में हम ह्वाइटहैड[1] के अनुसार कह सकते है कि आरम्भ मे कोई भी व्यावसायिक शिक्षा ऐसी नही हो सकती जो उदार न हो और कोई भी उदार शिक्षा ऐसी नहीं हो सकती जिसमें जीविका उपार्जन के अंश निहित न हो। अच्छी शिक्षा वही है जिसमें उदार दृष्टिकोण तथा व्यावसायिक दोनो प्रकार की शिक्षा का समावेश हो।

व्यावसायिक शिक्षा से कोई निम्नकोटि की शिक्षा का तात्पर्य नहीं है। यह शिक्षा व्यक्ति के केवल एक पक्षीय विकास से ही सम्बन्धित नहीं है परन्तु इसमे सम्पूर्ण जीवन के लिए शिक्षा निहित है। व्यवसाय जीवन का एक अंग नही है, यह तो सम्यक् जीवन का प्रतीक है। अतएव यह कहना बहुत दोषपूर्ण है कि जीविका उपार्जन की शिक्षा उपयोगी होने के कारण निम्न है तथा उदार शिक्षा जीवन की शिक्षा है और इस कारण उच्च है। दोनो प्रकार की शिक्षा आवश्यक है। शिक्षा एक सम्यक् क्रिया है और जीविका उपार्जन की शिक्षा तथा उदार शिक्षा दोनों इसके दो रूप हैं।

सारांश

वर्तमान काल मे व्यावसायिक शिक्षा पर बहुत बल दिया जाता है। कैलर महोदय के अनुसार व्यावसायिक शिक्षा से अभिप्राय इस प्रकार है :—

(१) व्यावसायिक शिक्षा से तात्पर्य है एक सम्यक्, कुशल तथा आनन्ददायी

---

1. White head.

जीवन (२) व्यावसायिक शिक्षा यह मानकर चलती है कि जीवन का एक गम्भीर उद्देश्य है जिसकी अभिव्यक्ति एक अर्थपूर्ण व्यवसाय में होती है, (३) व्यावसायिक शिक्षा में व्यक्तिगत विभिन्नता का आयोजन होता है, (४) व्यावसायिक शिक्षा जनतन्त्रीय भावना को अपनाती है (५) व्यवसायिक शिक्षा शिक्षित व्यक्ति की प्रगति से बहुत घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है तथा (६) व्यावसायिक शिक्षा प्रत्येक व्यवसाय से सम्बन्धित है।

व्यावसायिक शिक्षा के द्वारा लोक कल्याण भी संभव है क्योंकि इसमें सम्पूर्ण संसार का मानव हित निहित है। लोक कल्याण के आधार पर ही व्यावसायिक शिक्षा के महत्व को समझा जा सकता है। लोक कल्याण के प्रमुख आधार हैं:- (१) प्रत्येक व्यक्ति को उपयुक्त नौकरी मिले। वह अपने जीवन-यापन के लिए स्वयं धन कमाये, (२) प्रत्येक व्यक्ति सम्यक् व्यवसाय के साथ-साथ इतना परिश्रम करे जिससे वह अधिक से अधिक सामग्री का उत्पादन करे, (३) समाज को नये-नये प्रकार की वे सेवाएं उपलब्ध हों जिनकी कि नवीन अनुसंधानों के कारण समाज के सदस्यों को आदश्यता हो। (४) उचित कार्यकर्ता उचित स्थानों में जाकर मनोयोग से सेवा करे (५) राष्ट्र में उचित सेवक हों और राष्ट्र के नागरिक शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से स्वस्थ हों तथा देश के प्रति उच्च भावनायें रखें, (६) सभी समाज सेवी प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर तर्क संगत तथा सुन्दर व्यवहार करने वाले नागरिक हों। ये आधार इस बात के प्रतीक है कि जन कल्याण के लिए व्यावसायिक शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि व्यवसायिक शिक्षा को आज अत्यन्त महत्व दिया जाता है।

व्यावसायिक शिक्षा की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को है यह कहना गलत होगा कि इस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता केवल विशेषज्ञों को ही है।

व्यावसायिक शिक्षा और उदार शिक्षा में बहुधा भेद किया जाता है। परन्तु यह अन्तर केवल संकीर्ण दृष्टिकोण से ही देखने पर माना जा सकता है। विस्तृत रूप से देखने पर दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। वास्तव में व्यावसायिक शिक्षा तथा उदार शिक्षा दोनों शिक्षा के दो रूप है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. व्यावसायिक शिक्षा से क्या तात्पर्य है ? इस प्रकार की शिक्षा का आयोजन हमारे विद्यालयों मे होना क्यों आवश्यक समझा जाता है ?

२. उदार शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा मे क्या भेद है ? दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए अपनी राय प्रकट कीजिए तथा अपने मत की पुष्टि से उदाहरण दीजिए।

३. व्यावसायिक शिक्षा "जीवन के लिए शिक्षा का" रूप धारण किए होती है। इस विचार से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

४. जीविका उपार्जन की शिक्षा की आवश्यकता किन मनुष्यों के लिए है और क्यों ?

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) केलर, एफ० जे० : **प्रिन्सिपुल्स आफ वोकेशनल एडूकेशन**

(२) वानर, हेविग्हर्स्ट एण्ड लायब : **हू शैल बी एडूकेटेड**

(३) भाटिया : **थ्योरी आफ एडूकेशन**

(४) स्नेडेन : **वोकेशनल एडूकेशन**

—: ० :—

भाग २

शिक्षा के सामाजिक आधार

अध्याय १२

शिक्षा के सामाजिक आधार[1]

एक व्यक्ति अपने आप बहुत ही कम सीख सकता है । उसके सीखने में दूसरों का बहुत ही महत्वपूर्ण योग होता है । यदि किसी व्यक्ति को बिना किसी पुस्तक या बिना दूसरे व्यक्तियों के साथ के उसे बिल्कुल अकेला छोड़ दिया जाय तो उसकी शिक्षा बिल्कुल हीं नहीं हो पायेगी । अतएव शिक्षा के लिए दूसरों व्यक्तियों का होना और पुस्तकों के रूप से उनके ज्ञान का संचित होना परम आवश्यक है । शिक्षा इस रूप में ही एक सामाजिक क्रिया कही जाती है । वस्तुतः शिक्षा और ज्ञान दोनों ही समाज सापेक्ष वस्तुएं हैं, जो उनके अभाव में अर्जित नहीं की जा सकती ।

मानव समाज में उत्पन्न होता है और समाज में ही रह कर उसे अपना जीवन व्यतीत करता होता है । समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव उसके ऊपर पड़ते हैं और वह भी समाज के ऊपर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालता है । व्यक्ति और समाज दोनों ही एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया करते और प्रभाव डालते हैं । वस्तुतः इन दोनों का आपस में अन्योनाश्रित सम्बन्ध है । फलस्वरूप यह महत्वपूर्ण प्रतिक्रिया ही अध्ययन का एक मुख्य विषय बन जाती है । वर्तमान समय में इस क्रिया-प्रतिक्रिया का अध्ययन शिक्षा दर्शन में एक महत्वपूर्ण

1. Sociological Bases of Education.

अध्ययन समझा जाता है। समाज विज्ञान[1] एक ऐसा विषय है जो इस प्रतिक्रिया का अध्ययन करता है। शिक्षा में सामाजिकता का जो समावेश होता है उसका अध्ययन शिक्षा-समाज-विज्ञान[2] करता है। शिक्षा के सामाजिक को समझने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम शिक्षा-समाज-शास्त्र का अध्ययन करें पर इससे पहिले कि हम शिक्षा-समाज शास्त्र पर प्रकाश डालें हमें समाज विज्ञान का अर्थ समझ लेना चाहिए।

समाज विज्ञान का अर्थ—समाज विज्ञान के विकास का इतिहास सन् १८३७ ई० से फ्रेंच दार्शनिक आगस्ट कोमटे[3] के समय से स्पष्ट रूप से आरम्भ होता है। उन्होंने १८३७ ई० में कई व्याख्यानों में 'सोशियोलाजी' शब्द का प्रयोग किया। समाज विज्ञान से उनका तात्पर्य वैज्ञानिक विधियों का उपयोग मानव तथा समाज के सम्बन्ध के अध्ययन में करना था। कोमटे महोदय ने इस विषय को शुद्ध ज्ञान की संज्ञा दी क्योंकि इसका अध्ययन अत्यन्त विधिपूर्ण तथा विशुद्ध अनुसधानों द्वारा हो सकता है।

समाज शास्त्र के प्रमुख प्रवर्त्तकों में हर्बर्ट स्पेन्सर[4] फ्रेड्रिक लेप्ले[5] का नाम लिया जा सकता है स्पेन्सर महोदय ने १८७६ ई० मे 'प्रिन्सिपुल्स आफ सोशियोलाजी"[6] नामक पुस्तक लिखी जिसने समाज विज्ञान के विकास मे बहुत महत्वपूर्ण योग दिया। फ्रेड्रिक ले प्ले महोदय ने समाज विज्ञान के वैज्ञानिक तथा वस्तुनिष्ठ अध्ययन पर बल दिया। इनके अतिरिक्त डन्कन,[7] मैकइवर,[8] बोगार्डस,[9] मैरिल[10] और एलरिज[11] इत्यादि भी समाज विज्ञान को एक स्वतन्त्र विषय का रूप प्रदान करके और उसका वैज्ञानिक अध्ययन करने मे महत्वपूर्ण योग दिया।

अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि समाज विज्ञान किसे कहते है? इस विज्ञान का उद्देश्य क्या है? वस्तुत: समाज विज्ञान सामाजिक प्रतिक्रिया से सम्बन्ध रखता है। यह समूह का अध्ययन करता है। यह हर एक उस वस्तु का अध्ययन करता है जो मानव व्यवहार पर कुछ न कुछ प्रभाव डालती है। यह सम्पूर्ण सांस्कृतिक दाय—रीति रिवाज, परम्पराओं, लोक कथाओं लोक ज्ञान, लोक व्यवहार, लोक-हित, धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं, जातियों का वर्गीकरण, आर्थिक समस्याओं, भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव, अपराध, मानव का उद्विकास और इसी प्रकार की अनेकों समस्याओं का अध्ययन करता

---

1. Sociology, 2. Educational Sociology, 3. Auguste conts. 4 Herbert Spencer, 5. Fradric LePlay. 6. Principles of sociology, 7. Duncan, 8. Mac Iver, 9. Bogardus, 10. Merrill, 11. Eldredge.

है। संक्षेप हम कह सकते हैं समाज विज्ञान सम्पूर्ण मानव संस्कृति का अध्ययन करता है। यह सांस्कृतिक चेतना भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक, जो ग्राह्य है, व्यावहारिक और अनुकरणीय है तथा भाषा के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जा सकती है उस सभी का अध्ययन करना समाज विज्ञान का कार्य है।

मूर और कोल महोदय के अनुसार **समाज विज्ञान समाज के बहुमुखी व्यवहार का अध्ययन करता है**।[1] इस बहुमुखी व्यवहार का अर्थ व्यक्ति के उस व्यवहार से है जो समाज के अन्य विभिन्न व्यक्तियों के प्रति होता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज विज्ञान सामाजिक प्रतिक्रिया का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। सामाजिक प्रतिक्रिया का अध्ययन प्रत्येक उस प्रतिक्रिया से सम्बन्धित है जो व्यक्ति और समाज के मध्य में होता है। तात्पर्य यह है कि समाज में हर प्रकार के मानव सम्बन्धो[2] का अध्ययन ही समाज विज्ञान के अध्ययन का विषय है।

इसमें कोई सदेह नहीं कि मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसका जन्म एक परिवार में होता है, जो उसके प्राथमिक समाज का रूप ले लेता है। इसके पश्चात् जैसे जैसे वह बडा होता जाता है दूसरे व्यक्ति उसके सम्पर्क में आते-जाते हैं और उसके समाज का दायरा विस्तृत होता जाता है। कुछ व्यक्तियों से वह स्वयं मिलना चाहता है, कुछ उससे सम्पर्क बढ़ाना चाहते हैं। भविष्य निर्माण के लिए दूसरो के सम्पर्क में आना उसके लिए अच्छा समझा जाता है जैसे स्कूल में जाना, सामूहिक उत्सवों में सम्मिलित होना इत्यादि। ये सामाजिक सम्पर्क एवं सम्मेलन व्यक्ति के ऊपर प्रभाव डालते हैं और ये सामाजिक प्रभाव ही उसके व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते है। ये प्रभाव किस प्रकार से कार्य करते हैं और व्यक्तित्व की प्रतिक्रियाओं में परिवर्तन ला देते हैं, समाज विज्ञान इन सबकी व्याख्या करने की चेष्टा करता है। समाज विज्ञान सामाजिक संस्थाओं जैसे परिवार, राष्ट्र, धर्म, राज्य इत्यादि की प्रकृति की व्याख्या करता है। वे सामाजिक परिवर्तन जो सामूहिक जीवन में होते रहते है उनका अध्ययन भी समाज विज्ञान करता है। यह सामाजिक जीवन में प्रतियोगिता, द्वन्द्व, सहयोग, सामाजिक स्थिति, सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक परिवर्तन का भी विश्लेषण करता है। अतएव हम मोटे रूप से समाज विज्ञान की परिभाषा दे सकते हैं कि "समाज विज्ञान वह विज्ञान है जो व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण सम्बन्धों वैयक्तिक, पारस्परिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक

1. Moor and Cole : Sociology studies plural behaviour,
2. Human relations.

की व्याख्या करता एवं उनकी आपसी सम्पर्क-जनित प्रतिक्रियाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करता है।

शिक्षा-समाज-विज्ञान[1]

शिक्षा-समाज-विज्ञान, समाज-विज्ञान का एक प्रभावशाली अंग है। यह समाज-विज्ञान के उद्देश्यो को शैक्षिक क्रिया द्वारा, जो व्यक्ति तथा समाज के मध्य में होती है, प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस विषय का विकास भी आधुनिक काल में बड़ी शीघ्रता से हुआ है। इसके विकास के सम्बन्ध में कुछ मुख्य शिक्षा शास्त्रियों के नाम उल्लेखनीय है-जॉर्ज पायन,[2]जॉन ड्यूवी[3] डेविड स्नेडेन[4], सी० सी० पीटर्स[5], फ्रेडरिक ई बोन्टन[6], लायड एलेन कुक[7], विलार्ड वॉलर[8], जॉर्ज काउन्ट्स्[9], एलीसन डेविस[10], हिल्डा टाबा[11], हैविघर्स्ट[12], डोलॉर्ड[13], स्लॉवसन[14], हेलेन जेनिंग्स[15], रॉसफिने[16], अमेरिका के डर्खेम[17], फ्रान्स के मेक्स वेबर[18], जर्मनी के, तथा सर फ्रेड क्लार्क[19], ओटोवे[20], कार्ल मानहेम[21] इङ्गलेंड के है। शिक्षा समाज विज्ञान की इस महान प्रगति का सर्वाधिक श्रेय जान ड्यूवी तथा पेयन महादय को है।

पेयन महोदय न १९२८ ई० मे "दि प्रिन्सिपुल्स आफ एडूकेशनल सोशॉलॉजी"[22] नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक मे उन्होंन सामूहिक जीवन पर शिक्षा का प्रभाव तथा शिक्षा पर सामूहिक जीवन के प्रभाव के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला। उन्होंन सामाजिक प्रतिक्रिया के ज्ञान को शिक्षा द्वारा अध्ययन करना सामाजिक प्रगति का एक आवश्यक अग माना। उन्होंने प्रतिपादित किया कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य—व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास, तभी सफलता पूर्वक प्राप्त किया जा सकता है, जब मानव के ऊपर सामाजिक शक्तियो के प्रभाव का गहन अध्ययन किया जाय। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास, सामाजिक वातावरण के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया पर ही आधारित है।

जॉन ड्यूवी महोदय ने भी सामाजिक प्रवृत्तियो का शिक्षा मे बहुत महत्व-

---

1. Educational sociology, 2. George Payne, 3. John Dewey 4. David Snedden, 5. C. C. Peters. 6. Fredrich E. Bolton 7. Llyod Allen Cook, 8. Willard Waller, 9. George Counts, 10. Allison Davis, 11. Hilda Taba, 12. Hovighurst, 13. Dollard, 14. Slovson, 15. Helen Jennigs, 16. Ross Finney, 17. Durkhem, 18. Max Weber, 19. Sir Fred Clarke, 20. Ottoway, 21. Karl Mannheim, 22. Principles of Educational Sociology.

पूर्ण स्थान माना। उन्होंने अपनी पुस्तको 'दि स्कूल एण्ड सोसायटी'[1] तथा 'डिमोक्रसी एण्ड एडूकेशन'[2] द्वारा शिक्षा में व्यक्ति की सामाजिकता के महत्व पर प्रकाश डाला। उन्होने कहा कि "व्यक्ति द्वारा जाति की सामाजिक चेतना मे भाग लेने से शिक्षा का पूर्ण विकास होता है।" तात्पर्य यह है कि शिक्षा की क्रिया एक सामाजिक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया पाठशाला द्वारा अपने गन्तव्य को पहुँचती है। अतः पाठशाला एक समाजिक संस्था है जो समाज को शुद्ध तथा प्रगतिशील बनाती हे तथा व्यक्ति को सामाजिकता से परिचित कराती है।

भारत में शिक्षा का सगठन आरम्भ से ही सामाजिकता की भावना से पूर्ण रहा है। सामाजिक भावना का प्रभाव शिक्षा पर पड़ा और शिक्षा न समाज की उन्नति के ध्येय को सामने रखा। शिक्षा के उद्देश्यो में व्यक्तिगत तथा सामाजिक उत्थान एक परम उद्देश्य माना गया है। कर्त्तव्य को महान् महत्ता प्रदान करके भारत के ऋषियों ने समाज सेवा की भावना को भारत वासियों की नस नस मे भर दिया था। परन्तु ब्रिटिश कालीन भारत में भारतीय समाज की पूर्ण अवहेलना की गई। यहाँ के नागरिको पर एक ऐसी शिक्षा प्रणाली थोपी गई जिसका आधार पाश्चात्य सामाजिक जीवन था फलस्वरूप शिक्षा प्रणाली दोषों से परपूर्ण हो गई। स्वतंत्रता के पश्चात् अब इस बात की चेष्टाएँ की जारही है कि शिक्षा प्रणाली मे सुधार हो और यह सामाजिक सुधार की भावना से युक्त हो तथा इसकी जड़े भारतीय समाज के सुन्दर आदर्श, नियम, परम्पराओं इत्यादि पर ही रखी हो। अतएव वर्तमान काल मे समाज विज्ञान का प्रभाव भारतीय शिक्षा पर शीघ्रता से बढ़ रहा है। इसी कारण एक भावी शिक्षक के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह शिक्षा-समाज-विज्ञान से पूर्णरूपेण अवगत हो।

शिक्षा-समाज-विज्ञान का अर्थ

अब तक हमने शिक्षा-समाज-विज्ञान पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार किया परन्तु इसके प्रथम कि हम उसके बारे में अधिक विवेचन करें, हमे इसके अर्थ को समझ लेना चाहिए। समाज-विज्ञान की तरह शिक्षा-समाज-विज्ञान का मूल मन्त्र भी सामाजिक प्रतिक्रिया का अध्ययन करना है। ब्राउन[3] महोदय के अनुसार **शिक्षा-समाज-विज्ञान व्यक्ति तथा उसके सांस्कृतिक वातावरण में जिसमें दूसरे व्यक्ति सामाजिक और समूह व्यवहार के नमूने होते हैं, व्यक्ति**

1. The School and society, 2. Democracy and Education, 3. All Education proceeds by the participation of the individual in the social consciousness of the race. 4. Brown.

की प्रतिक्रिया का अध्ययन करता है। ओटोवे महोदय का कथन है कि शिक्षा-समाज-विज्ञान का प्रारम्भ इस दृष्टिकोण को अपना कर होता है कि शिक्षा एक क्रिया है जो समाज में होती है, और उसके उद्देश्य, और विधियाँ उस समाज की प्रकृति पर निर्भर होती हैं; जिसमें कि वह क्रिया होती है[1]..... समाज-शिक्षा-विज्ञान समाज के विभिन्न अंगों की व्यक्ति के साथ होने वाली प्रतिक्रिया का अध्ययन कर शिक्षा मे उनके महत्व पर प्रकाश डालता है। यह विज्ञान समाज की उन्नति को शिक्षा के माध्यम द्वारा प्राप्त करने पर बल देता है। शिक्षा विद्यालय एवं शिक्षण की समस्याएँ विशेष रूप से समाज की समस्याओं के रूप में ही देखी जाती है। उदाहरण के लिए किस प्रकार की शिक्षा बालको को दी जाय? उस शिक्षा का पाठ्यक्रम क्या हो? कौन-कौन सी पुस्तकें पढ़ाई जायें? इसके अतिरिक्त बालक कक्षा से क्यों भाग जाता है? अथवा क्यों बाल अपराधी बन जाता है? इन सब प्रश्नों का उत्तर समाज की प्रकृति तथा उसके स्वरूप के अध्ययन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। शिक्षा-समाज-विज्ञान इन समस्याओं का उपयुक्त हल ढूँढ कर उनके उपयोग करने की विधि को भी प्रस्तुत करता है। यह विज्ञान जन-समूह एवं उन सस्थाओं आदि पर विचार एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है तथा उन सामाजिक प्रक्रियाओ पर प्रकाश डालता है जो शिक्षण की क्रिया मे महत्वपूर्ण हैं। सूक्ष्म रूप मे हम कह सकते है कि यह विज्ञान सम्पूर्ण शैक्षिक प्रक्रिया का विश्लेषण तथा उपयोग करता है जो व्यक्तित्व के विकास में योग प्रदान कर व्यक्ति को एक श्रेष्ठ सामाजिक प्राणी बनाता है।

शिक्षा-समाज-विज्ञान के अध्ययन का विस्तार

शिक्षा-समाज-विज्ञान जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके है। शिक्षा पर सामाजिक प्रतिक्रिया पर प्रभाव और सामाजिक प्रतिक्रिया पर शिक्षा के प्रभाव का अध्ययन करता है। जो विशिष्ट समस्याएँ इसके अध्ययन का महत्वपूर्ण अङ्ग है, वे इस प्रकार है :—

(१) अध्यापक का समाज में क्या महत्व है? तथा किस प्रकार इसे अधिक व्यापक बनाया जा सकता है।

(२) शिक्षक और विद्यार्थी के सम्बन्ध कैसे होने चाहिए? सामाजिक भावनाओं का इन पर क्या प्रभाव पड़ता है?

---

1. Ottoway : That education is an activity which goes on in a society, and its aims and methods depend on the nature of the society, on which it takes place.

(३) सामाजिक तत्व को छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित करना। पाठशाला, खेल-साथी इत्यादि और उनके परस्पर सम्बन्ध तथा पारस्परिक प्रभाव का अध्ययन करना।

(४) स्थानीय समाज की आवश्यकताओं और प्रेरणाओं का अध्ययन करना।

(५) स्थानीय सामाजिक संस्थाओं और विद्यालयों मे सम्पर्क स्थापित करना।

(६) सामाजिक जीवन का व्यक्ति तथा विद्यालय पर प्रभाव का अध्ययन करना।

(७) आदर्श सामूहिक जीवन के द्वारा तथा विद्यालय मे उत्तम शिक्षा के द्वारा जनतन्त्रीय भावना को प्रोत्साहित करना।

(८) पाठ्यक्रम में ऐसे वाँछनीय परिवर्तन करना जो समाज तथा व्यक्ति दोनों की प्रगति में सहायक हों।

(९) अन्वेषण तथा आलोचनात्मक चिन्तन को प्रोत्साहित करना तथा अन्वेषण द्वारा प्राप्त निष्कर्षों का समाज तथा व्यक्ति की प्रगति के लिए उपयोग करना।

(१०) सामाजिक प्रक्रिया में प्रेस, रेडियो और सिनेमा के महत्व का मूल्याङ्कन एवं अध्ययन करना।

(११) शिक्षा द्वारा सामाजिक प्रगति तथा सामाजिक नियंत्रण कैसे संभव है ? उन उपायों को ढूँढ़ निकालना।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शिक्षा-समाज-विज्ञान के विषय विस्तार में सब प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन आता है जो सामाजिक दृष्टि से एक विद्यार्थी के व्यक्तित्व पर किसी भी प्रकार से प्रभाव डालते हैं।

शिक्षा-समाज-विज्ञान का अन्य विषयों से सम्बन्ध

शिक्षा-समाज-विज्ञान समाजविज्ञान का ही एक अङ्ग है। परन्तु इसका सम्बन्ध दूसरे विषयों से भी है। इन विषयों से यह स्वयं प्रभावित होता है और उनके उद्देश्यों को भी प्रभावित करता है।

(१) **इतिहास**—शिक्षा-समाज-विज्ञान का इतिहास से घना संबंध है इतिहास उन सामाजिक शक्तियों का अध्ययन पुरातन काल से अर्वाचीन काल तक करता है जो सामाजिक परिवर्तन में बहुत बड़ा योग देती रहीं हैं। इतिहास का यह ज्ञान समाज-शिक्षा, विज्ञान को सामाजिक शक्तियों, उनकी प्रकृति एवं स्वरूप तथा उनकी कार्य प्रणालियों के सम्बन्ध में सूझ प्रदान करता है। इस प्रकार

से शैक्षिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में ज्ञान तथा शैक्षिक समस्याएँ जो सामाजिक परिवर्तनों से गुथी हुई हैं, उनके हल करने के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त होता है।

(२) **विज्ञान**—शिक्षा-समाज-विज्ञान रसायन शास्त्र तथा भौतिक शास्त्र से उसी सीमा तक सम्बन्धित है, जहाँ तक उनका ज्ञान व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होता है। परन्तु जीव-शास्त्र से इस विज्ञान का सम्बन्ध अधिक घना है। जीवशास्त्र के अध्ययन द्वारा मानव के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान शिक्षा-समाज-विज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यह निसंदेह है कि शिक्षा-समाज-विज्ञान जीवशास्त्र के बहुत से तत्वों से प्रभावित होता है। किन्तु कुछ ऐसे तथ्य जिन्हे जीव-शास्त्र प्रतिपादित करता है शिक्षा समाज-विज्ञान उन्हें प्रकृति रूप में अस्वीकार करके उसका उचित एवं समाजीकृत रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है। जैसे—व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में जीवशास्त्र वंशानुक्रम को ही सबसे अधिक महत्त्व देता है। परन्तु शिक्षा-समाज विज्ञान व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में सामाजिक प्रक्रिया पर अधिक बल देता है। फल यह होता है कि हम वंशानुक्रम को उचित स्थान देकर अच्छे सामाजिक वातावरण द्वारा हम व्यक्ति के व्यवहार मे सुधार कर सकते है क्योंकि व्यक्तित्व के निर्माण में वंशानुक्रम और सामाजिक वातावरण दोनों का महत्वपूर्ण योग रहता है।

(३) **मनोविज्ञान**—मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान का गहन सम्बन्ध है। मनोविज्ञान मानव जीवन तथा व्यवहार का अध्ययन करता है। वंशानुक्रम तथा वातावरण का जो प्राणी के जीवन पर प्रभाव पड़ता है मनोविज्ञान उसका विवेचन तथा विश्लेषण करता है। यह मूलप्रवृत्तियों, सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों, वंशानुक्रम के नियम, संवेग, इत्यादि के सम्बन्ध में अध्ययन करता है। इसके अतिरिक्त अर्धचेतन, अचेतन मन तथा इसका व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पडता है, इसके सम्बन्ध में जानने का प्रयत्न करता है। इस सम्पूर्ण जानकारी के द्वारा सीखने की क्रिया को सगम एवं स्वस्थ बनाना ही शिक्षा मनोविज्ञान का विषय हो जाता है। शिक्षा मनोविज्ञान इस बात की व्याख्या करता है कि शिक्षा तथा शिक्षण किन-किन दशाओं मे उत्तम रूप से प्रदान किया जा सकता है।

शिक्षा-समाज-विज्ञान द्वारा सीखने की क्रिया मे सामाजिक तत्वो के स्थान एवं ग्रहण का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार दोनों ही विषयो का महत्व शिक्षा एवं शिक्षण मे बहुत अधिक है। दोनो ही विषय बालक के व्यक्तित्व के विकास पर प्रकाश डालते है। मनोविज्ञान का दृष्टिकोण व्यक्ति के चेतन तथा अचेतन मन के विकास पर बल देकर व्यक्तित्व को समझना होता है जबकि

सामाजविज्ञान सामाजिक दृष्टिकोण से व्यक्तित्व के विकास पर प्रकाश डालता है। वास्तव में यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो मनोविज्ञान तथा शिक्षा-समाज-विज्ञान के दृष्टिकोण में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ेगा क्योंकि दोनों ही विषयों के अध्ययन का विषय मानव है। आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान, सामाजिक वातावरण जो परिवार, विद्यालय और समाज में पाया जाता है, उसका अध्ययन करता है। सामाजिक वातावरण का मानव के व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है? अचेतन मन और व्यक्ति की मूल प्रेरणाएँ एवं संवेग उसे कहाँ तक प्रभावित करते हैं? इसका अध्ययन भी उसी के अंतर्गत आता है। यह आदत, सीखना, झुकाव, रुझान, चरित्र, प्रेरणाओं इत्यादि पर भी प्रकाश डालता है। शिक्षा-समाज-विज्ञान को इस ज्ञान से बहुत सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त मनोविश्लेषणवादियों[1] ने अचेतन मन पर प्रकाश डालकर यह सिद्ध कर दिया है कि व्यक्तित्व के निर्माण में अचेतन मन कितना महत्वपूर्ण योग है। समाज की प्रकृति और उसके स्वरूप का समझना तथा समाज पर नियन्त्रण रखना तब तक सभव नही जब तक कि समाज को बनाने वाले व्यक्तियों के मन की गहराइयों का अध्ययन न कर लिया जाय। अचेतन का अध्ययन करना शिक्षा-समाज-विज्ञान का विषय नहीं है परन्तु मनोविज्ञान का एक मुख्य अङ्ग है। अतः शिक्षा-समाज-विज्ञान अचेतन मन एवं तत्सम्बन्धी कार्यों के ज्ञान की उपलब्धि के मनोविज्ञान से सहायता लेता है। इस कारण ये एक-दूसरे के अत्यधिक निकट है।

समाज मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक विधियों से समाज की प्रकृति और समाज एवं व्यक्ति की प्रतिक्रिया का अध्ययन करता है। यही विषय शिक्षा-समाज-विज्ञान के अध्ययन का महत्वपूर्ण अङ्ग है। अतएव इसमें कोई संदेह नही कि इन दोनो विषयों का अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है।

शिक्षा-समाज-विज्ञान की सीमाएँ

शिक्षा-समाज-विज्ञान ने शिक्षा की महान् प्रगति में अत्यन्त सहायता पहुँचायी है, इसमें कोई संदेह नही। विज्ञान की इस शाखा ने हमें इस बात से अवगत करा दिया है कि शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है और यह तब तक उचित रूप से नहीं दी जा सकती जब तक कि यह सामाजिक वातावरण और उसका मानव व्यक्तित्व पर प्रभाव का अध्ययन न करे। परन्तु समाजिक दृष्टिकोण को ही यदि हम शिक्षा में सबसे प्रमुख मानलें तो शिक्षा की प्रगति बहुत अधिक नहीं हो सकती। हमें शिक्षा के उद्देश्य, विधियाँ, पाठ्यक्रम, अनुशासन की

1. Psycho-analysis.

समस्या इत्यादि का निर्धारण शिक्षा-दर्शन के ज्ञान के आधार पर ही करना होगा क्योंकि यही हमें इन समस्याओं के समाधान के लिए उचित दृष्टिकोण प्रदान करता है। शिक्षा-समाज-विज्ञान ही शिक्षा के सामाजिक स्वरूप एवं समाज और शिक्षा के सम्बन्ध को अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को बतलाता है। किन्तु यह बताने में असफल है कि समाज कैसा होना चाहिए? इसके उद्देश्य क्या होने चाहिए। इसके कौने से आदर्श और मूल्य होने चाहिए। जीवन के आदर्श या उद्देश्य क्या होने चाहिए। इन सबका उत्त- केवल दर्शन शास्त्र ही दे सकता है। अतएव हम कह सकते हैं कि शिक्षा-समाज-विज्ञान सीमित है। यह शिक्षा के सब से महत्वशाली अङ्गों को निर्धारित नहीं करता। अतः इसे शिक्षा दर्शन की परम आवश्यकता है ताकि शिक्षा का रूप सुन्दर ढंग से निर्धारित हो सके।

सारांश

शिक्षा और ज्ञान दोनों ही समाज सापेक्ष वस्तुएँ हैं, जो समाज अभाव में अर्जित नहीं की जा सकतीं। व्यक्ति और समाज दोनों ही एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया करते और प्रभाव डालते हैं। समाज-विज्ञान ऐक ऐसा विषय है जो इस प्रतिक्रिया का अध्ययन करता है। समाज-विज्ञान के सबसे प्रथम प्रवर्त्तक थे आगस्ट कोम्टे। इस विज्ञान के अन्य प्रमुख प्रवर्त्तकों में आते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर, फ्रेड्रिक ले प्ले, डन्कन, मैकइवर, बौगारउस, मैरिल और ऐलरिज इत्यादि। समाज-विज्ञान के अध्ययन के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह सम्पूर्ण मानव संस्कृति का अध्ययन करता है। समाज में हर प्रकार के मानव सम्बन्धों का अध्ययन ही समाज विज्ञान के अध्ययन का विषय है। हम मोटे रूप से समाज-विज्ञान की परिभाषा यह दे सकते हैं कि समाज विज्ञान वह विज्ञान है जो व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण सम्बन्धों वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक राष्टीय एवं सांस्कृतिक की व्याख्या करता एवं उनकी आपसी सम्पर्क जनित प्रतिक्रियाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करता है।

शिक्षा-समाज-विज्ञान, समाज विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। पेयन महोदय तथा ड्यूवी महोदय ने इस विज्ञान सम्बन्धी विचारधारा में स्पष्टता ला दी। इन विचारकों ने शिक्षा की क्रिया को एक सामाजिक प्रक्रिया का रूप दिया है।

शिक्षा-समाज विज्ञान का अर्थ—ब्राउन महोदय के अनुसार शिक्षा-समाज-विज्ञान व्यक्ति तथा उसके सांस्कृतिक वातावरण में जिसमें दूसरे व्यक्ति सामा-

जिक और समूह व्यवहार के नमूने होते हैं, व्यक्ति की प्रतिक्रिया का अध्ययन करता है। शिक्षा-समाज-विज्ञान के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि यह विज्ञान जन-समूह एवं उन संस्थाओं आदि पर विचार एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है जो शिक्षा के लिए उत्तरदायी हैं तथा उन सामाजिक प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालता है जो शिक्षण की क्रिया में महत्वपूर्ण योग देते हैं।

शिक्षा-समाज-विज्ञान के अध्ययन का विस्तार—शिक्षा-समाज-विज्ञान के अध्ययन की सीमा बहुत विस्तृत है। इसमें—(१) अध्यापक का समाज में महत्व, (२) शिक्षक-विद्यार्थी सम्बन्ध, (३) सामाजिक तत्व की छोटी इकाइयाँ और उनका परस्पर सम्बन्ध, (४) समाज की आवश्यकताएँ और प्रेरणाएँ, (५) स्थानीय सामाजिक संस्थाओं और विद्यालयों में सम्पर्क, (६) सामाजिक जीवन का व्यक्ति तथा विद्यालय पर प्रभाव, (७) जनतन्त्रीय भावना का प्रोत्साहन, (८) पाठ्यक्रम में वांछनीय परिवर्तन, (९) अन्वेषण तथा आलोचनात्मक चिन्तन को प्रोत्साहित करना, (१०) सामाजिक प्रक्रिया में प्रेस, रेडियो, सिनेमा इत्यादि का मूल्याङ्कन करना, तथा (११) सामाजिक प्रगति तथा सामाजिक नियन्त्रण के कारणों को ढूंढ़ निकालना, इत्यादि समस्याओं का अध्ययन सम्मिलित होता है।

शिक्षा-समाज-विज्ञान का सम्बन्ध दूसरे विषयों से भी है। मुख्य विषय जिनसे यह स्वयं प्रभावित होता है और उनके उद्देश्यों को भी प्रभावित करता है वे हैं – इतिहास, विज्ञान, तथा मनोविज्ञान।

इतिहास उन सामाजिक शक्तियों का अध्ययन पुरातन काल से अर्वाचीन काल तक करता है जो सामाजिक परिवर्तन में बहुत बड़ा योग देती है।

शिक्षा-समाज-विज्ञान रसायन-शास्त्र तथा भौतिक-शास्त्र से उस सीमा तक सम्बन्धित है जहाँ तक उनका ज्ञान व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होता है परन्तु जीवशास्त्र से इसका सम्बन्ध बहुत घना है।

मनोविज्ञान तथा शिक्षा-समाज-विज्ञान एक-दूसरे की सहायता लेकर व्यक्ति की शिक्षा के प्रति हमें उचित दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। ये दोनों एक-दूसरे से अत्यधिक निकट हैं।

शिक्षा-समाज-विज्ञान हमारे जीवन तथा शिक्षा सम्बन्धी सब प्रश्नों का उत्तर प्रदान नहीं कर सकता। हमें जीवन के उद्देश्य, आदर्श, मूल्य इत्यादि को समझने के लिए दर्शन शास्त्र की सहायता लेनी पड़ती है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. शिक्षा के सामाजिक आधार से आप क्या समझते हैं ? क्या सामाजिक आधार शिक्षा के प्रति हमें उचित दृष्टिकोण प्रदान कर सकते हैं ?

२. शिक्षा-समाज-विज्ञान के महत्व पर प्रकाश डालिए। इसके विषय-विस्तार के सम्बन्ध में भी वर्णन कीजिए।

३. शिक्षा-समाज-विज्ञान और मनोविज्ञान का आपस में क्या सम्बन्ध है ? समाज मनोविज्ञान किस प्रकार से शिक्षा-समाज-विज्ञान पर प्रभाव डालता है।

४. शिक्षा के प्रति उचित दृष्टिकोण को अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-समाज-विज्ञान के साथ-साथ शिक्षा-दर्शन का भी अध्ययन किया जाय।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) बारटलेट इत्यादि : **दि स्टडी आफ सोसायटी**
(२) बियर : **दि सोशल फन्कशन्स आफ एडूकेशन**
(३) ब्राउन : **एडूकेशनल सोशियालॉजी**
(४) क्लार्क : **एडूकेशन एण्ड सोशल चेंज**
(५) कुक एण्ड कुक : **ए सोशियालॉजिकल अपरोच टु एडूकेशन**
(६) ड्यूवी : **स्कूल एण्ड सोसायटी**
(७) स्टोवे : **एडूकेशन एण्ड सोसाइटी**

—:o:—

अध्याय १३

सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा[1]

हमने पिछले अध्याय में शिक्षा-समाज-विज्ञान क्या है ? इसका विस्तार-पूर्वक विवेचन किया तथा इसकी सीमाओं इत्यादि पर भी प्रकाश डाला। हमने शैक्षिक प्रक्रिया पर इसके प्रभाव के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ चर्चा की है। प्रस्तुत अध्याय में हमारा ध्येय शिक्षा समाज-विज्ञान किस प्रकार शिक्षा के विभिन्न अङ्गों को प्रभावित करता है, उस पर प्रकाश डालना है।

पिछले विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि समाज का संगठन शिक्षा को सदैव प्रभावित करता है। चाहे वह प्राचीन काल का स्पार्टा हो अथवा आधुनिक काल का जर्मनी। चाहे अमेरिका हो, चाहे भारत, रूस या जापान। इसके अतिरिक्त आर्थिक तत्व भी शिक्षा को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। यदि देश धनी है तो शिक्षा के लिए धन का व्यय पर्याप्त मात्रा में होता है। परन्तु यदि गरीब है तो शिक्षा को अनावश्यक समझ कर अथवा धनाभाव के कारण उसे छोड़ दिया जाता है। देश की सरकार विचार करती है कि पहिले देशवासियों के खाने पहिनने का आयोजन करें फिर शिक्षा की ओर ध्यान दें। परन्तु यह दृष्टिकोण इतना अशुद्ध है कि निर्धन की निर्धनता को और बढ़ा देता है। शिक्षा के अभाव में देश के नागरिक ऊंचे उठने की शक्ति को खो

1. Education from the sociological point of view.

बैठते हैं। न तो उनकी रोटी की समस्या हल होती है और न उनके अज्ञान के कपाट खुलते है। यही कारण है कि आज हम संसार में ऐसे अनेक देशों को पाते है जिनमें अशिक्षा और जीविका उपार्जन का प्रश्न एक बहुत ही गम्भीर समस्या बने हुए है। भारतवर्ष में भी आर्थिक कठिनाई के कारण देश के भावी नागरिकों को उत्तम शिक्षा प्रदान करने का समुचित प्रबन्ध नहीं हो सका है। भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त किए हुए चौदह वर्ष व्यतीत होगये परन्तु देश के समस्त बालकों के लिए निःशुल्क प्रारंभिक शिक्षा का आयोजन अब तक नहीं हो सका है। यहाँ के अध्यापकों को वेतन बहुत ही कम मिलता है, जिसका फल यह है कि अच्छे अध्यापकों का नितान्त अभाव है। इन सब तथ्यों से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि सामाजिक तथा आर्थिक तत्व शिक्षा पर अनेकों प्रकार से प्रभाव डालते हैं। अब हम यह देखेंगे कि शिक्षा के विभिन्न अङ्गों पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है।

सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा का अर्थ[1]

समाज विज्ञान के दृष्टिकोण से शिक्षा एक क्रिया है जो जीवन भर चलती रहती है। शिक्षा से तात्पर्य केवल विद्यालय शिक्षण से नही है। शिक्षा की क्रिया का प्रारम्भ मानव के जन्म लेने के समय से ही हो जाता है और उसके मृत्यु पर्यन्त चलता रहता है।

ब्राँउन महोदय के अनुसार "**शिक्षा एक चेतनाभूत नियन्त्रित प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन लाये जाते हैं और व्यक्ति के द्वारा समूह में।**"[2] यहाँ चेतना भूत नियंत्रित प्रक्रिया से तात्पर्य है बाह्य नियंत्रण। तात्पर्य यह है कि शिक्षा की प्रक्रिया में व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन आन्तरिक न होकर बाहरी शक्तियों द्वारा होते है, जो वातावरण में निहित होती हैं। जब बालक कोई कार्य करना सीखता है; जैसे अपने वस्त्र पहिनना, अपने हाथ से भोजन करना तो इस प्रकार के सीखने में वातावरण तथा बालक के सगे सम्बन्धियों का हाथ होता है और इसी कारण इस सीखने को हम शिक्षा की प्रक्रिया के रूप में समझते है। परन्तु हर प्रकार के व्यवहार सम्बन्धी परिवर्तन शिक्षा के कारण नही होते; जैसे शिशु के मुँह से ध्वनि का निकलना जो एक स्वतः होने वाली प्रक्रिया है और शरीर की बनावट के कारण

---

1. Meaning of Education from sociological point of view.
2. Brown : Educational Sociology, 'Education is the consciously controlled process whereby changes in behaviour are produced in the person and through the person within the group."

हर शिशु के मुँह से निकलती है। परन्तु इसी ध्वनि को जब माता-पिता या समाज एक भाषा के रूप में संगठित कर देते हैं तो यह शिक्षा की प्रक्रिया हो जाती है।

शिक्षा की प्रक्रिया भी विशेष रूप से एक सामाजिक प्रतिक्रिया ही है। इसके अनुसार विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप बालक के व्यवहार में परिवर्तन लाया जाता है। बालक की मूल शक्तियों को सामाजिक वातावरण द्वारा प्रेरणा मिलती है और वह सीखने लगता है तथा उसके व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। यही शिक्षा है।

सामाजिक प्रतिक्रिया के बहुत से रूप होते है। जो कुशलतापूर्वक एवं अधिक प्रभावशाली ढङ्ग से सामाजिक प्रतिक्रिया की सम्पूर्ण प्रक्रिया में भाग लेना संभव बनाती है, चाहे सामाजिक, आर्थिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी या किसी दूसरे उचित सामाजिक मूल्य सम्बन्धी हो तो वही शिक्षा है।[1] इस प्रकार शिक्षा एक प्रक्रिया है जो सामाजिक प्रतिक्रिया द्वारा तथा सामाजिक प्रेरणा द्वारा स्वयं होती है। यह प्रक्रिया समाज की प्रगति में सहायक होती है और उचित सामाजिक संस्थाओं को प्रोत्साहित करती है। अन्त में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा, शिक्षा-समाज-विज्ञान के दृष्टिकोण से सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करना है। वास्तव में सामाजिक प्रतिक्रिया का व्यक्ति पर जो प्रभाव पड़ता है उसी को शिक्षा कहते हैं।

सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा के उद्देश्य[2]

यद्यपि शिक्षा के उद्देश्य शिक्षा-दर्शन द्वारा प्रतिपादित किए जाते है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि शिक्षा-समाज-विज्ञान शिक्षा के ध्येय अथवा उद्देश्यों की ओर से उदासीन है। मानव का विकास व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से होना आवश्यक है। शिक्षा-समाज-विज्ञान सामाजिक उद्देश्य को बहुत महत्व प्रदान करता है। इस सम्बंध मे हम 'शिक्षा के उद्देश्य' नामक अध्याय में बहुत कुछ चर्चा कर चुके है। यहाँ हम पुनः यह दोहरा देना समीचीन समझते है कि शिक्षा का ध्येय न केवल व्यक्तित्व का विकास है और न केवल ज्ञान का अर्जन, वरन् व्यक्ति में ऐसे गुणों का प्रादुर्भाव करना है कि वह सामाजिक उत्तरदायित्व को समझ ले और समाज मे अपना व्यवस्थापन करके उसकी प्रगति की चेष्टा करे। एक जनतन्त्र में शिक्षा-समाज-विज्ञान इस

1. That which makes for more effective participation in the total process of social interaction whether in terms of social economic, health, or any other socially desirable value is education. 2. Educational sociology and aims of education,

बात पर बल देता है कि शिक्षा द्वारा व्यक्तियों को जनतन्त्रीय जीवन यापन के लिए तैयार करना चाहिए। अतएव श्रेष्ठ नागरिकता की शिक्षा देना ही शिक्षा का ध्येय होना चाहिए। इसके अतिरिक्त व्यक्ति को जीविका उपार्जन हेतु तैयार करना भी शिक्षा का ध्येय होना चाहिए। अवकाश का उपयोग एक औद्योगिक समाज में उचित रूप में होना आवश्यक है अतएव शिक्षा का ध्येय अवकाश का उचित उपयोग भी होना चाहिए।

शिक्षा के कार्य[1]

शिक्षा के कार्य क्या-क्या है? यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर शिक्षा-समाज-विज्ञान बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से देता है। पॉयन महोदय का कथन है कि शिक्षा-समाज-विज्ञान के दृष्टिकोण से शिक्षा के तीन प्रमुख कार्य है—(१) परम्पराओं का समायोजन,[2] (२) नये सामाजिक ढाँचे का विकास,[3] और (३) सृजनात्मक तथा रचनात्मक कार्य।[4] यहाँ हम इन तीनों प्रमुख कार्यों की विवेचना करेंगे।

(१) **परम्पराओं का समायोजन**—शिक्षा का जैविक[5] प्रारूप वंशानुक्रम है और इसका सामाजिक रूप है सामाजिक क्रिया। सामाजिक क्रिया से तात्पर्य उन क्रियाओं से है जिनके द्वारा लोक जीवन को भी प्रभावित करने वाली परम्पराएँ, सामाजिक संगठन और संस्थाओं के साथ हर नई पीढ़ी को हस्तान्तरित हो जाती है। समाज के बहुत सारे साधन शिक्षा के इस ध्येय मे सहायता पहुँचाते है कि परम्पराओं का समायोजन किस प्रकार हो। परम्पराओं का समायोजन परिवार से ही आरम्भ हो जाता है और विद्यालय तथा चर्च के साधनों द्वारा तथा समाज तथा राज्य के प्राविधिक साधनों के द्वारा बराबर होता रहता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों को मात्र संस्कृति का ग्रहण कराना हो तो इस संकुचित एवं सीमित दायरे के फलस्वरूप शिक्षा अधिनायकता को जन्म देती है। क्योंकि इस रूप में शिक्षा के सब साधन, सांस्कृतिक परम्पराओं और रीति रिवाज का ग्रहण ही अपना मुख्य ध्येय समझते हैं और व्यक्तिगत भावनाओं एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता का दमन करते हैं। इसका संकेत हमने शिक्षा में सांस्कृतिक उद्देश्यों के दोषों का वर्णन करते समय अध्याय—७ में भी किया था। एक पुरानी संस्कृति का कट्टर

---

1. Functions of Education, 2. Assimilation of traditions, 3. Development of new social patterns, 4. Creative and constructive role, 5. Biological counterpart.

पुजारी वर्तमान को भूल जाता है और समय के प्रवाह; विचारों, मतों और विश्वासों और युग की माँग को हेय समझता है। इस प्रकार वह एक ऐसी विचारधारा को प्रतिपादित करना अपना ध्येय समझता है जो प्रत्येक व्यक्ति को एक ही प्रकार से व्यवहार करने, विचार करने और यहाँ तक कि एक ही प्रकार की कल्पना करने को बाध्य करे। ऐसी विचारधारा के कारण ही राज्य एक ऐसी अपौरुषेय इकाई बन जाता है जिसके निर्देश के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से कार्य करना पड़ता है।

यदि संस्कृति का ग्रहण आग्रह के साथ चेतन रूप में न किया जाय तो समाज मे अव्यवस्था तथा उपद्रव की दशा हो जाती है। सारे समाज की परम्पराएँ नष्ट हो जाती है और समाज स्वयं नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। ऐसी दशा अत्यन्त शोचनीय होती है जब जीवन मूल्य, सत्य, न्याय, आदर्श सब छिन्न-भिन्न हो जाते है और मनुष्य एक जंगली मानव का रूप धारण कर लेता है जो सभ्यता से कोसों दूर हो जाता है।

इन सबसे हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि परम्पराओं को संक्रमित करना शिक्षा का एक आवश्यक कार्य है परन्तु संस्कृति का संक्रमण किसके द्वारा हो तथा किस प्रकार हो, इसका निर्णय समाज की भलाई की दृष्टि से बहुत महत्ता रखता है। यदि एक राष्ट्र, देश या समाज की संस्कृति दूसरी संस्कृतियों से विलग है तो शिक्षा का कार्य सरल हो जायेगा क्योंकि तब परम्पराओं पर किन्ही और परम्पराओं का प्रभाव नहीं पड़ेगा और उनका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी मे बहुत कुछ उसी रूप मे संक्रमण होता रहेगा। परन्तु आज के संसार में आवागमन के नये-नये साधनों द्वारा एक देश अथवा एक राष्ट्र दूसरे के बहुत निकट आ गया है अतः संस्कृति की पूर्ण विलगता सम्भव नहीं। एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता और इस प्रकार नई विचार धारा का जन्म हो जाता है जो संस्कृति मे अनेकों परिवर्तन उत्पन्न कर देती है। अतएव शिक्षा का कार्य अत्यन्त गौण हो जाता है। विशेष कर जनतंत्र में जहाँ विचारों की स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता, शिक्षा का कार्य संस्कृति के संक्रमण में अत्यन्त जटिल हो जाता है। समाज के स्थायित्व तथा सुरक्षा के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि शिक्षा के साधनों पर कड़ी नजर रखी जाय जिसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के भेष में सम्पूर्ण संस्कृति का विलय न हो जाय।

(२) **नये सामाजिक ढाँचे का विकास**[1]—केवल संस्कृति का संक्रमण ही

1. Development of new social patterns.

शिक्षा का कार्य नहीं है। नये सामाजिक ढाँचों का विकास भी शिक्षा का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। शिक्षा का यह कार्य आज हमारे देश में विशेष रूप से आवश्यक है। स्वतन्त्रता के पश्चात् देश के सामाजिक जीवन में अनेकों परिवर्तन आ गये है। सामाजिक जीवन में स्वतन्त्र नागरिक के निर्माण की गन्ध घुट मिल रही है। यह नये प्रकार का सामाजिक जीवन दोषों से बचा रहे तथा उचित सामाजिक प्रारूपों को अपनाये, यही देश की शिक्षा का परम कार्य है। यदि देश का सामाजिक जीवन पुरानी रूढ़ियों को ही पीटता रहे और इसमें नये जीवन का संचार न हो सका तो देश का पतन हो जायगा। इसके अतिरिक्त देश उस समय भी पतन के गर्त में चला जाता है जब नया जीवन दूषित हो। अतएव शिक्षा को इन दोनों घातक अतिवादों से सावधान रहकर अपना कार्य करना चाहिए।

(३) **रचनात्मक तथा सृजनात्मक कार्य**[1]—शिक्षा का कार्य यह भी है कि वह रचनात्मक तथा सृजनात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करे। इस कार्य में शिक्षा द्वारा व्यक्ति में विचार स्वातन्त्र्य, सम्यक् दर्शन और सत्य के ग्रहण के प्रति आग्रह उत्पन्न करना चाहिए। संसार गतिशील है। इसमें परिवर्तन होते ही रहते है। जो व्यक्ति इन परिवर्तनों पर स्वतन्त्र रूप से विचार करते और प्रगतिशील तत्वों को ग्रहण करते हैं वेअनुकूलन प्राप्त कर लेते हैं परन्तु जो संकीर्ण विचारों वाले होते है और पुरानी लकीर के फकीर बने रहना ही गर्व की बात समझते है उनका अनुकूलन सम्भव नहीं होता।

यह भी कहा जा सकता है कि शिक्षा के ये तीनों कार्य एक-दूसरे से अलग है। परम्पराओं का समायोजन, सृजनात्मक तथा रचनात्मक कार्य या नवीन सामाजिक साँचे का निर्माण एक दूसरे से अलग प्रतीत होते हैं। यदि परम्पराओं के समायोजन को अधिक महत्व दिया जाय तो सृजनात्मक कार्यों में अवश्य ढील आ जायेगी। इसी प्रकार यदि सृजनात्मक कार्यों पर बल दिया जाय तो परम्पराओ का समायोजन उचित रूप से नहीं होगा। परन्तु यदि शिक्षा को ठीक से संगठित किया जाय तो इन तीनों कार्यों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। वस्तुतः शिक्षा का महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह इन प्रमुख कार्यों में एकरूपता स्थापित करे।

शिक्षा-समाज-विज्ञान तथा पाठ्यक्रम[2]—पाठ्यक्रम का निर्धारण शिक्षा के सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के दृष्टिकोण से ठीक समझा जाता है। पाठ्यक्रम

---

1. Constructive and creative role.
2. Educational sociology and curriculum.

पर ही बहुत कुछ सामाजिक प्रगति निर्भर रहती है। यही कारण है कि शिक्षा-समाज-विज्ञान शास्त्री पाठ्यक्रम का उचित निर्धारण आवश्यक समझते है। इनके विचार मे पाठ्यक्रम का चुनाव दो बातों को ध्यान में रखकर करना चाहिए। प्रथम (१) पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो शिक्षा के सामाजिक ध्येय को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करे, (२) पाठ्यक्रम का संगठन ऐसा हो और शिक्षण विधियों से इसका सम्बन्ध इस प्रकार से हो कि वह समाज पर नियंत्रण रखने का एक प्रभावशाली साधन बन जाय। पाठ्यक्रम के चुनाव में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि समय समय पर जो परिवर्तन होते रहते हैं पाठ्यक्रम उनका समावेश करे। अतएव पाठ्यक्रम समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति को ध्यान में रखकर बनाया जाय, गतिशील समाज में लचीले तथा प्रगतिशील पाठ्यक्रम की आवश्यकता है। पाठ्यक्रम वैयक्तिक तथा सामाजिक प्रगति, दोनों को ध्यान में रखकर निर्धारित करना चाहिए। यहाँ संक्षेप में हम पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में जो समाज-विज्ञान नियम प्रतिपादित करता है उनका वर्णन करेंगे।

(१) पाठ्यक्रम द्वारा सांस्कृतिक मूल्यों का प्रकाशन होना चाहिए तथा इसके द्वारा समाज के उच्च आदर्श नई पीढ़ी को प्रदान किये जाने चाहिए।

(२) पाठ्यक्रम का चुनाव समाज की समस्याओ तथा आवश्यकताओं पर निर्भर होना चाहिए। परन्तु इसे विद्यार्थियो की वास्तविक समस्याओ या रुचियों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

(३) विद्यार्थियों के लिए ऐसी शैक्षिक क्रियाओं का प्रयोजन होना चाहिए जो उन्हें सामाजिक जीवन में सफलतापूर्वक भाग लेने योग्य बना दें।

(४) पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो समाज के प्रत्येक जीविका उपार्जन के साधन को आदर की दृष्टि से देखने की भावना बालकों में उत्पन्न करे।

(५) पाठ्यक्रम द्वारा बालकों में समस्या को समझने तथा उसके हल करने की शक्ति का विकास होना चाहिए। उन्हें नागरिकता के उत्तरदायित्व तथा मानवता के कल्याण के समझने की भावना जाग्रत करने के लिये पाठ्यक्रम का चुनाव होना चाहिए।

(६) आज के संसार मे विश्वकल्याण के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। यह कहा जाता है कि यदि शिक्षा, समाज उत्थान के लिए दी जाय तो समाज को संकीर्ण दायरे में न बाँधकर विश्व समाज के रूप में समझना चाहिए। अतएव पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो विश्व समाज के जीवन के लिए बालक को तैयार करे।

(७) पाठ्यक्रम को परिवर्तनशील तथा प्रगतिशील होना चाहिए। समाज में परिवर्तन होने से पाठ्यक्रम मे भी परिवर्तन आजाना चाहिए।

शिक्षा-समाज-विज्ञान तथा शिक्षण पद्धतियाँ[1]

शिक्षा-समाज-विज्ञान के दृष्टिकोण से वे शिक्षण विधियाँ अच्छी है जो विद्यार्थियों को इस प्रकार का ज्ञान दें जो उनको विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में व्यवस्थापन करने में सहायता प्रदान करें। जो शिक्षण विधियाँ सामाजिक व्यवहार और सामाजिक मूल्यों को महत्व देगी वे सामूहिक योजनाओं, सामूहिक प्रतिक्रियाओं इत्यादि को समझने तथा निर्माण करने में बालक को दक्ष बना देगी। वे ही शिक्षण विधियाँ अच्छी है जो बालको में जनतंत्रीय विचार धाराओ का विकास करती है। ऐसी शिक्षण विधियो के उदाहरण है—प्रोजेक्ट प्रणाली, सामूहिक वाद-विवाद, सेमीनार इत्यादि।

पॉयन[2] महोदय के अनुसार किसी भी शिक्षा पद्धति का महत्व सामाजिकता के दृष्टिकोण से तीन सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिए। वे सिद्धान्त हैं—

(१) कोई भी शिक्षण पद्धति उस सीमा तक प्रभावशाली है जिस सीमा तक ज्ञान तथा कला जो कक्षा में सीखे जाते है वह व्यक्ति का व्यवस्थापन सामाजिक स्थितियों में सहायता प्रदान करे[3]।

(२) शिक्षण पद्धति प्राथमिक रूप से कक्षा से बाहर के सामाजिक व्यवहार पर बल दे[4]।

(३) शिक्षण पद्धति उन सामाजिक शक्तियों का जो सामाजिक जीवन में सक्रिय हैं उपयोग करे ताकि व्यक्ति के सामाजिक व्यवस्थापन की योग्यता का विकास हो।[5]

सामाजिक आधार के अनुसार शिक्षा से तात्पर्य ऐसी शिक्षा से है जो ऐसे व्यक्तित्व का विकास करे जिसमे संवेगात्मक व्यवस्थापन हो और जो सामाजिकता की भावना से पूर्ण हो। शिक्षा का पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियाँ एवं शिक्षा

---

1. Educational Sociology and Methods of teaching. 2. Payne, 3. "The method of teaching is effective only in so far as the skills and knowledges acquired in the class room are actually made use of by the individual in his adjustment to social situations, 4. The method of teaching must place primary emphasis on social behaviour outside the classroom. 5. The method of teaching must seek to utilize the social forces operative in the social life in order to develop capacity for social adjustment.

के कार्य इसी उद्देश्य को प्राप्त करने के हेतु निर्मित किए जाने चाहिए। व्यक्ति में जो विधियाँ इस प्रकार के भावों का विकास करती है कि व्यक्ति अकेला ही कुछ नहीं, समाज में ही उसका महत्व है और समाज की प्रगति ही उसका जीवन लक्ष्य है वे ही अच्छी विधियाँ समझी जाती है।

सारांश

समाज को आर्थिक तथा सामाजिक अवस्था उसके सदस्यों की शिक्षा पर बहुत गहन प्रभाव डालती है। यदि देश निर्धन है या वहाँ का सामाजिक वातावरण दूषित है तो उस देश की शिक्षा प्रणाली दोषों से परिपूर्ण होगी।

शिक्षा, शिक्षा-समाज-विज्ञान के दृष्टिकोण से सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है वास्तव में सामाजिक प्रतिक्रिया का व्यक्ति पर जो प्रभाव पडता है उसी हम शिक्षा कहते हैं।

समाजिकता के आधार पर शिक्षा का उद्देश्य श्रेष्ठ नागरिकता की शिक्षा के रूप में वर्णन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा के ध्येय व्यक्ति को जीविका उपार्जन हेतु तैयार करना, अवकाश का उचित उपयोग सिखाना इत्यादि भी कहे जा सकते हैं।

शिक्षा-समाज-विज्ञान के दृष्टिकोण से शिक्षा के तीन प्रमुख कार्य हैं।

(१) **परम्पराओं का समायोजन**—परम्पराओं का समायोजन परिवार में ही आरम्भ हो जाता है और विद्यालय, चर्च समाज तथा राज्य के प्राविधिक साधनों द्वारा बराबर होता रहता है।

(२) **नये सामाजिक ढाँचों का विकास** :—वर्तमान काल मे हमारे देश को नये सामाजिक ढाँचों के विकास करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

(३) **रचनात्मक तथा सृजनात्मक कार्य** :—शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह इन अपने तीन प्रमुख कार्यों में एक रूपता स्थापित करे।

शिक्षा समाज-शास्त्री पाठ्यक्रम के चुनाव में दो बातो को ध्यान मे रखने पर बल देते हैं।

(१) पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो शिक्षा के सामाजिक ध्येय को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करे।

(२) पाठ्यक्रम का संगठन ऐसा हो और शिक्षण विधियो मे इसका सम्बन्ध इस प्रकार से हो कि यह समाज पर नियंत्रण रखने का एक प्रभावशाली साधन बन जाय।

पाठ्यक्रम का निर्धारण समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति को ध्यान में रख कर करना आवश्यक है। गतिशील समाज मे लचीले तथा प्रगतिशील पाठ्यक्रम की आवश्यकता है।

शिक्षा-समाज-विज्ञान के दृष्टिकोण से वे शिक्षण विधियाँ अच्छी है जो विद्यार्थियो को इस प्रकार का ज्ञान दें जो उनको विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में व्यवस्थापन करने मे सहायता प्रदान करे।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. सामाजिक आधार के अनुसार शिक्षा का क्या अर्थ है? इसके कार्य के सम्बन्ध में प्रकाश डालिए।
२. सामाजिकता की भावना के विकास के लिए किस प्रकार की शिक्षण पद्धतियाँ उत्तम हैं? कुछ मुख्य शिक्षण पद्धतियो का वर्णन कीजिए।
३. भारतवर्ष में नवीन सामाजिक ढाँचों का विकास करना शिक्षा का एक मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिए आप इस दृष्टिकोण से कहाँ तक सहमत है?
४. समाज की आवश्यकताओं के अनुसार पाठ्यक्रम का निर्धारण किस प्रकार से होना चाहिए?
५. शिक्षा के ऊपर आर्थिक तथा सामाजिक तत्व किस प्रकार प्रभाव डालते है? स्पष्ट रूप से वर्णन कीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) ब्राउन : **एडूकेशनल सोशियोलॉजी**
(२) कुक एण्ड कुक : **ए सोशियोलॉजिकल अपरोच टू एडूकेशन**
(३) पायन : **प्रिन्सिपुल्स आफ एडूकेशनल सोशियालाजी**
(४) औरोवे : **एडूकेशन एण्ड सोसायटी**
(५) रोबिन्स : **एडूकेशनल सोशियालॉजी**

—: o :—

अध्याय १४

समाज-शिक्षा के सिद्धान्त[1]

समाज की प्रगति के लिए शिक्षा आवश्यक है। शिक्षा द्वारा ही समाज का जीवन स्तर उच्च किया जा सकता है। शिक्षा ही एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति तथा समाज दोनों को उत्तम जीवन के लिए तैयार किया जा सकता है। यदि किसी देश के नागरिक अशिक्षित हैं, उन्हें विद्यालयों में जाने की सुविधायें प्राप्त नहीं हैं वे लिखना, पढ़ना, या साधारण गणित का जरा भी ज्ञान नहीं रखते तो निश्चय ही देश अन्धकार के गर्त में गिर जायगा। वहाँ अन्धविश्वास का बोलबाला होगा और नागरिकों में सोचने समझने को शक्ति नहीं होगी। ऐसे देश पर अधिक शक्तिशाली देश अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए अपना आधिपत्य कर लेंगे और देश के नागरिकों का जीवन पशु सदृश हो जायगा। इस प्रकार के देशों का उदाहरण एशिया और अफ्रीका के अनेक देश हैं। हमारा भारतवर्ष भी निरक्षरता के कारण बहुत दिनों तक विदेशियों का दास बना रहा। परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् यहाँ एक नई लहर दौड़ गई है। हर ओर साक्षरता बढ़ाने के प्रयत्न किये जाने लगे और समाज कल्याण के लिए शिक्षा का महत्व समझा जाने लगा। समाज शिक्षा को शिक्षा के प्रत्येक कार्यक्रम में एक उच्च स्थान दिया जा रहा है। साक्षरता

1, Principles of social education.

बढ़ाने के लिए प्रौढ शिक्षा का आयोजन किया जारहा और देश के नागरिकों के बौद्धिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक उत्थान की ओर ध्यान दिया जारहा है। जो शिक्षा इस प्रकार के उत्थान के लिये दी जारही है उसे समाज शिक्षा के नाम से अभिहित किया जाता है। यहाँ हम समाज शिक्षा के अर्थ को और अच्छी तरह समझने की चेष्टा करेंगे।

समाज-शिक्षा का अर्थ[1]

मौलाना अबुल कलाम आजाद ने दिसम्बर, सन् १९४९ में मैसूर में "युनेस्को सेमीनार ऑन रुरल ऐडल्ट एडूकेशन" मे भाषण देते हुए समाज-शास्त्र के अर्थ को स्पष्ट किया था। उन्होंने कहा कि "समाज शिक्षा से हमारा तात्पर्य है पूर्ण मानव की शिक्षा।" यह उसको साक्षारता प्रदान करेगी जिससे कि विश्व का ज्ञान उसे उपलब्ध हो सके। यह उसको बतायेगी कि वह अपने आप का पर्यावरण से अनुकूलन किस प्रकार करे और जिन प्रकृतिक दशाओं में वह निवास करता है, उनका सर्वोत्तम प्रयोग किस प्रकार करे। इसका अभिप्राय उसे उत्तम कला-कौशल तथा उत्पादन की विधियों की शिक्षा देना है, जिनसे कि वह अधिक उत्तम आर्थिक स्थिति को प्राप्त कर सके। इसका उद्देश्य उसे व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये स्वास्थ्य विज्ञान के प्राथमिक सिद्धान्तों की शिक्षा देना भी है, जिससे कि हमारा गृहस्थ जीवन स्वस्थ तथा समृद्ध हो सके। इस शिक्षा को उसे नागरिकता का पाठ समझकर पढ़ाना चाहिए जिससे कि उसे संसार की बातों का कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाय और वह अपनी सरकार को उन निर्णयों के निर्माण मे सहायता दे सके जो शन्ति तथा प्रगति में योग प्रदान करें।[2]

---

1. Meaning of social education.

1. Abul Kalam Azad, "UNESCO Seminar on Rural Adult Education", Mysore, Dec. 49, Inaugral adress: "By social education we mean an education for the complete man. It will give him literacy so that knowledge of the world may become accessible to him. It will teach him how to harmonise himself with his environment and make the best use of the physical conditions in which he subsists. It is intended to teach him improved crafts and modes of production that he can achieve economic betterment. It also aims at teaching him the radiments of hygiene both for the individual and the community so that our domestic life may be healthy and prosperous. The last, but not the least, this

इस परिभाषा के अनुसार समाज शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत माना गया है। समाज शिक्षा द्वारा यह आशा की जाती है कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत रूप में तथा समाज के एक अङ्ग के रूप में अपनी गिरी हुई दशा में सुधार लाकर अधिक सम्पन्न और प्रसन्न जीवन व्यतीत करने के हेतु तैयार हो जाता है।

हुमायूँ कबीर महोदय ने भी समाज शिक्षा की परिभाषा कुछ इसी प्रकार के विचारों को सामने रख कर दी है। उनके अनुसार "समाज-शिक्षा को अध्ययन के एक प्रकार के पाठ्य-क्रम के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसका उद्देश्य व्यक्तियों में नागरिकता की चेतना का उदय और उनमें सामाजिक समैक्य की उन्नति करता है। समाज-शिक्षा निरक्षर वयस्कों में साक्षरता का प्रसार करके ही संतुष्ट नहीं होती है, अपितु जन-साधारण में शिक्षित मस्तिष्क के निर्माण को अपना लक्ष्य बनाती है। स्वाभाविक उपलक्ष्य के रूप में समाज-शिक्षा व्यक्तियों में व्यक्तिगत तथा समाज के सदस्यों के रूप में नागरिकता के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की तीव्र भावना का समावेश करने का प्रयास करती है।"[1]

मौलाना आजाद और हुमायूँ कबीर महोदय की परिभाषाओं के आधार पर हम समाज-शिक्षा से क्या तात्पर्य है इसको इस प्रकार व्यक्त कर सकते है। "**समाज शिक्षा एक नियंत्रित अनुभव है जो व्यक्तियों की सामूहिक कार्यों में भाग लेने की क्षमता में वृद्धि करता है।**" समाज शिक्षा द्वारा उचित नागरिकता की भावनाओं का प्रतिपादन होता है। व्यक्तियो के कर्त्तव्यों तथा अधि-

---

education should give him training in citizenship so that he obtains some insight into the affairs of the world and can help his Government to take decisions which will make for peace and progress.

1. Humayun Kabir, *Education in New India* : "Social education may be defined as a course of study directed towards the production of consciousness of citizenship among the people and the promotion of social solidarity among them. It is not content with the introduction of literacy among the grown-up illiterates but aims at the production of an educated mind among the masses. As a natural corollary, it seeks to inclucate in them a lively sense of rights and duties of citizenship both as individuals and members of the community.

कारों का स्पष्टीकरण होता है और उनकी व्यावसायिक कुशलता में प्रगति होती और व्यक्तियों में अपनी आय में वृद्धि करने की क्षमता बढ़ जाती है।

समाज-शिक्षा के उद्देश्य

स्वतन्त्रता के पश्चात् यह अनुभव किया जाने लगा कि भारत में लोकतन्त्र उसी समय स्थिरता प्राप्त कर सकता है जब यहाँ के नागरिक शिक्षित हो जायें। इसके लिए वयस्कों की शिक्षा पर अत्यन्त बल दिया जाने लगा है। सन् १९४९ में श्री मोहनलाल सक्सेना की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया गया और उसे वयस्क-शिक्षा के प्रसार पर परामर्श देने का आदेश दिया गया। इस समिति ने वयस्क शिक्षा के उद्देश्यों को अति संकुचित पाया। इसने सरकार को यह परामर्श दिया कि वयस्क शिक्षा को समाज शिक्षा की संज्ञा दे दी जाये इस समिति के अनुसार समाज शिक्षा के निम्नाङ्कित उद्देश्य निर्धारित किये गये—

१. नागरिकों को उनके अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक करना और उनमें समाज सेवा की भावना का विकास करना।
२. उनमें जनतन्त्र के प्रति प्रेम उत्पन्न करना तथा उन्हें जनतंत्रीय सरकार की शासन-विधि की शिक्षा देना।
३. उनको देश तथा विश्व के समक्ष उपस्थित समस्याओं से अवगत कराना।
४ उनमें इतिहास, भूगोल तथा सांस्कृतिक शिक्षा के द्वारा भारतीय संस्कृति के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न करना।
५. उनको गायन, नृत्य, कविता तथा नाटक के द्वारा सांस्कृतिक परिचय तथा आनन्द के अवसर प्रदान करना।
६. उनको सामूहिक वाद-विवाद तथा पठन-पाठन के माध्यम से विशिष्ट नैतिक मूल्यों से अवगत कराना।
७. उनको लिखने-पढ़ने तथा साधारण गणित का उपयुक्त ज्ञान प्रदान करना एवं ज्ञान के प्रसार के प्रति प्रोत्साहन देना।
८. उनको दस्तकारी का आवश्यक प्रशिक्षण देकर उन्हें अपने अवकाश का अपनी आर्थिक प्रगति के लिये उपयोग करने की शिक्षा देना।
९. उनमे पुस्तकालयों, विवाद-गोष्ठियों, शिक्षा-समितियों तथा जनता महाविद्यालयों द्वारा शिक्षा के क्रम को बनाये रखना।
१०. उनमें सहयोग की भावना का विकास करना।

समाज-शिक्षा के लक्ष्य[1]

सरकार द्वारा समाज-शिक्षा के लक्ष्यों को दो स्पष्ट वर्गों में विभाजन किया गया है—(अ) व्यक्तिगत तथा (ब) समाजगत।[2]

व्यक्तिगत लक्ष्य

वयस्क-शिक्षा का प्रारम्भ १९ वीं शताब्दी के मध्य में हुआ। यह वह समय था जब वैज्ञानिक आविष्कारों तथा अनुसंधानों के कारण जीवन की जटिलताओं में अभिवृद्धि होने लगी थी। इन जटिलताओं ने निरक्षर वयस्कों के समक्ष, विशेष रूप के उनके जो नगरों में निवास करते थे, एक ऐसी विषम परिस्थिति उपस्थित कर दी थी जिसका सामना करने के लिये उन्होंने अपने को असमर्थ पाया। ऐसे अवसर पर सरकार ने वयस्क-शिक्षा की योजना का कार्यक्रम निर्मित करके उनको संकट से उबारने के लिये एक नई दिशा में सक्रिय कदम उठाया। समय की गति के साथ-साथ वयस्क-शिक्षा की धारणा अधिकाधिक व्यापक होती चली गई और आज समाज-शिक्षा के रूप में यह वयस्कों के मानसिक विकास तथा आर्थिक क्षमता में वृद्धि करके एवं उनको उत्तम सांस्कृतिक जीवन व्यतीत करने की सुविधा प्रदान करके उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने की चेष्टा करती है। अतः व्यक्ति के दृष्टिकोण से समाज-शिक्षा अधोलिखित लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करती है :

१. वयस्कों का मानसिक विकास

जो वयस्क अपनी पारिवारिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण किसी प्रकार की औपचारिक शिक्षा नहीं ग्रहण कर सके है, उनके लिये शिक्षा की व्यवस्था करके उनका मानसिक विकास करना।

२. वयस्कों की व्यावसायिक क्षमता का विकास

वयस्कों की व्यावसायिक क्षमता का विकास करने के लिये, नागरिक क्षेत्रों में व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा तथा ग्रामीण क्षेत्रों मे कृषि एव कुटीर उद्योग-धन्धों की व्यवस्था करना।

३. वयस्कों का शारीरिक विकास

वयस्कों का शारीरिक विकास करने के लिये स्वास्थ्य के आधारभूत

1. Purpose of Social Education.
2. *Teachers' Handbok of Social Education, p. p. 21.*

सिद्धान्तों, बाल-स्वास्थ्य, अस्वस्थता से बचने के उपायों, विशिष्ट क्षेत्रों में फैलने वाले प्रमुख रोगों को रोकने और पोषक आहार की समस्याओं को हल करने के लिये प्रशिक्षण का समुचित प्रबन्ध करना।

४. वयस्कों की सामाजिक कुशलता (Social skill) का विकास

वयस्कों की सामाजिक कुशलता का विकास करने के लिये उन्हें अपने साथियों के मध्य निवास करने, जीवन में प्रगति करने, पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने और आधुनिक जटिल संसार में अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की शिक्षा प्रदान करना।

५. वयस्कों का सांस्कृतिक विकास

वयस्कों का सांस्कृतिक विकास करने के लिये तथा उन्हें अपने देश के प्राचीन तथा प्रचलित सांस्कृतिक कार्यों से अवगत कराने के लिये मनोरंजन, नृत्य तथा लोक-नृत्य, गीत तथा लोक-गीत, व्याख्यान भाषाओं आदि की उपयुक्त व्यवस्था करना।

६. वयस्कों का आत्म-विकास (Self-development)

वयस्कों का आत्म-विकास करने के लिये उनकी परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुकूल किसी विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति, जीवन-सिद्धान्तों के निर्माण अथवा किसी कला के अनुसरण के लिये सुविधा प्रदान करना।

समाजगत लक्ष्य

हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि आज वयस्क-शिक्षा की प्राचीन धारणा में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया है और उसको समाज-शिक्षा की संज्ञा दे दी गई है। यद्यपि समाज-शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य व्यक्ति की सर्वांगीण उन्नति करना है, परन्तु इसके साथ ही उसे समाज का बुद्धिमान तथा लाभप्रद सदस्य भी बनाना है जिससे कि न केवल उसका, अपितु उसके सहयोग से समाज का भी उत्थान हो सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये समाज-शिक्षा—"व्यक्तियों के समक्ष विभिन्न समूहों की आवश्यकताओं तथा समस्याओं को प्रस्तुत करती है। यह उनको विचार करने की विधियों तथा समूहों में सामान्य समस्याओं के समाधान की शिक्षा देती है। यह उनको इस बात को समझने की शिक्षा देती है कि ये समूह महान् परिवार; अर्थात् भारत और उससे भी महान् परिवार विश्व का निर्माण करने के लिये किस प्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं और

उनके समक्ष भारत के भाग्य-निर्माण तथा विश्व-सेवा के लिये अनवरत प्रयास एवं कार्य करने का आदर्श उपस्थित करती है।"[1]

समाज-शिक्षा की इस व्याख्या के आधार पर समाज-शिक्षा के चार लक्ष्य हैं—

१. सामाजिक एकता का विकास[2]

आधुनिक समाज की एक प्रमुख विशेषता है व्यक्तियों के हितों का पारस्परिक संघर्ष। समाज को इस संघर्ष से सुरक्षित रखने के लिये सामान्य बन्धनों के निर्माण की आवश्यकता होती है। यह न केवल वर्गों के पारस्परिक द्वेषों को दूर करने के लिये, अपितु व्यक्तियों तथा व्यक्ति समूहों के मध्य निरन्तर बढ़ती हुई पृथक्ता का, जो हमारे नागरिक तथा हमारे ग्रामीण समाज का भी एक विशेष लक्षण है, अन्त करने के लिये भी आवश्यक है। किसी विद्वान् ने इस पृथक्ता को 'एकान्तता' कहकर इसकी व्याख्या की है। इस प्रकार की 'एकान्तता' विभिन्न भाषा-भाषी समूहों, धार्मिक समूहों, ग्रामीण तथा नागरिक समूहों, शिक्षितों तथा अशिक्षितों, प्रतिष्ठित तथा सामान्य व्यक्तियों, पूँजीपतियों तथा श्रमिकों, देशवासियों तथा विदेशियों, युवकों तथा वृद्धों, धनी तथा निर्धन व्यक्तियों के मध्य विद्यमान है। "समाज-शिक्षा का लक्ष्य है इस एकान्तता को यथासम्भव कम करना और एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करना जिसमें देश के समस्त राष्ट्रीय तत्व भाग ले सकें।"[3]

१. राष्ट्रीय साधनों की सुरक्षा तथा उन्नति[4]

समाज-शिक्षा व्यक्तियों को यह पाठ सिखाती है कि वे भारत को प्रकृति

---

1. "It places before the people the needs and problems of various groups. It teaches them the way of thinking and solving the common problems in groups. It teaches them to see how these groups are knit together to form the great family, that is, India and the greater family, that is, world, and holds before them the ideal of sustained effort and work as their offering to the destiny of India and the service of the world." *Teachers' Handbook of Social Education*, p. 21-22.

2. Promoting Social Cohession.

3. "It is the purpose of Social Education to reduce these solitudes as far as possible and to create a common culture in which all national elements can participate." *Teachers' Handbook of Education*, p. 22.

4. Conservation and Improvement of National Resources.

द्वारा दिये गए उपहारों तथा यहाँ के निवासियों को ऐसे साधन समझें जिनकी सहायता से इस देश के समस्त प्राणियों के लिए जीवन के एक उचित स्तर का निर्माण करना सम्भव है। ये साधन दो प्रकार के होते हैं—भौतिक तथा मानवीय।

पिछड़े हुए राष्ट्रों के सामने एक सबसे कठिन कार्य है, अपने प्राकृतिक साधनों की सुरक्षा तथा उन्नति। उदाहरणार्थ, भारत में हमारे समक्ष हमारी भूमि तथा वनों के क्षय की समस्याएँ हैं। यह आवश्यक है कि हमारे देश का प्रत्येक नागरिक इन समस्याओं से अवगत हो और वह न केवल उनकी सुरक्षा अपितु उनकी उन्नति में भी अपना योग प्रदान करे।

प्राकृतिक साधनों से अधिक महत्वपूर्ण मानवीय साधन हैं। हमारे विद्यालयों तथा शिक्षा की उच्च संस्थाओं का कर्त्तव्य है कि वे इन मानवीय साधनों की उन्नति करें। हमारे देश की अधिकांश जनता को विद्यालयो में शिक्षा ग्रहण करने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ है और इसलिए वे साहित्यिक तथा अन्य आवश्यक योग्यताओं का विकास नहीं कर सके है। यही कारण है कि समाज-शिक्षा ने हमारे देश के निवासियों को साक्षरता तथा उत्पादक योग्यताओं के समान आधारभूत कुशलताओं की शिक्षा प्रदान करने का भार अपने ऊपर लिया है।

लेनिन का मत था कि निरक्षर जनता के आधार पर समाजवाद का निर्माण केवल इसलिए नहीं किया जा सकता है क्योंकि एक निरक्षर मनुष्य राजनीति के क्षेत्र से बाहर होता है। यही बात किसी भी वास्तविक जनतंत्रीय समाज के सम्बन्ध में कही जा सकती है। एक अशिक्षित व्यक्ति में दृष्टिकोण तथा मस्तिष्क की वह विशालता नहीं होती है, जो स्वस्थ राजनीतिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक है।

अन्त में, हमारी एक प्रमुख आवश्यकता है व्यक्ति की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करना, और इस कार्य को तब तक सम्पन्न नहीं किया जा सकता जब तक जनता अशिक्षित है। साक्षरता तथा शिक्षा के अभाव में उत्पादन में एक निश्चित सीमा तक ही वृद्धि की जा सकती है, उसके आगे नहीं।

३. सहकारी समुदायों तथा संस्थाओं का संगठन[1]

विभिन्न समूहों की 'एकान्तता' को कम करना और राष्ट्रीय साधनों की सुरक्षा तथा उन्नति करना समाज शिक्षा का प्रारम्भिक कार्य हैं। "समाज-शिक्षा द्वारा मनुष्यों को ऐसी कुशलताओं की शिक्षा देनी है जो ऐसे समूहों के निर्माण

1. Building Co-operative Groups and Institutions.

के लिए आवश्यक है, जो इन साधनों का सभी के हित के लिये प्रयोग करने के लिये योग्य तथा इच्छुक हों।"[1] इन कुशलताओं के अन्तर्गत तीन बातों का समावेश है :

(अ)समूहों के समक्ष उपस्थित समस्याओ का सामूहिक अध्ययन, (ब) उनका समाधान करने के लिये सामूहिक तथा सहकारी कार्य, और (स) इन कार्यों के परिणामों का सामूहिक मूल्यांकन। अतः समाज-शिक्षा का लक्ष्य है–उन विधियों का निर्माण करना जिनसे उपरोक्त समूहों का निर्माण इस प्रकार किया जाय कि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता तथा सम्मान से वंचित न हो सकें, जिससे नेता लोग बिना बल का प्रयोग किए समूहों का नेतृत्व कर सकें, जिससे अधिकतम व्यक्तिगत सुख का सामाजिक प्रगति से सामंजस्य स्थापित किया जा सके, जिससे उन आधारभूत संस्थाओं की स्थापना की जा सके जो व्यक्ति के कल्याण का सबके कल्याण के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए आवश्यक हैं और जिससे प्रत्येक व्यक्ति इन संस्थाओं के विकास तथा स्थायित्व में योग दे सके।

४. सामाजिक आदर्श का समावेश[2]

"समाज-शिक्षा का एक प्रधान कर्त्तव्य है— लोगों को अपने व्यक्तिगत कल्याण को अपने समूह, अपने समाज और अपने देश के कल्याण के लिए अर्पित करने के लिए और इस कार्य को प्रसन्नता पूर्वक करने के लिए उद्यत करना।"[3] इस दृष्टिकोण को एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : "यदि इङ्गलैण्ड जीवित है तो अन्त किसका है, यदि इंगलैण्ड का अन्त होता है, तो जीवित कौन है?"[4] समाज के जीवन मे महानतम व्यक्ति का योग भी सीमित होता है। फिर भी उसके जीवन का महत्व इस बात से आँका जाता है कि उसने मानव-जाति की प्रगति में क्या योग प्रदान किया है। समाज-शिक्षा का लक्ष्य है—निम्नतम भारतीय मे इस भावना

---

1. "Social Education has to lead on to teach men the skills which are necessary for building up groups qualified and willing to use these resources for the good of all." *Teachers' Handbook of Social Education*, p. 23.

2. Inculcating Social Ideology.

3. "One of the most important functions of Social Education is to prepare the people to subordinate their private welfare to the welfare of their group, community and their country and to do this joyfully." *Teachers' Handbook of Social Education*, p. 25.

4. "Who dies if England lives, who lives if England dies."

का समावेश कर देना कि वह मानव-जाति की प्रगति में योग प्रदान करने के कार्य को अपना आदर्श समझे।

समाज-शिक्षा की आवश्यकता

समाज-शिक्षा के उपरोक्त उद्देश्यों तथा लक्ष्यों का निर्धारण किसी आकस्मिक घटना के परिणामस्वरूप न होकर, व्यक्ति, समाज तथा देश की कतिपय आवश्यकताओं पर गम्भीर विचार करने के उपरान्त किया गया है। इन्हीं आवश्यकताओं के फलस्वरूप समाज-शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव किया गया। हम इनका संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

१. अशिक्षित वयस्कों के लिये शिक्षा की आवश्यकता

हमारे देश में अभी तक अनिवार्य शिक्षा का पूर्णरूप से प्रसार नहीं हो पाया है। फलस्वरूप अनेकों बच्चे शिक्षा के लाभ से वंचित रह जाते हैं। वयस्क होने पर भी उन्हें लिखने, पढ़ने तथा सामान्य गणित का कोई ज्ञान नहीं होता है, जिससे उनका मानसिक विकास सदैव के लिये अवरुद्ध हो जाता है। उनका स्थान समाज में निम्नतर होता है और शिक्षित व्यक्तियों द्वारा उनका अनेक प्रकार से शोषण किया जाता है। भारतीय संविधान ने देश के सभी नागरिकों को समानता तथा स्वतन्त्रता के समान अधिकार प्रदान किये हैं, परन्तु अशिक्षित वयस्क उनका उपयोग नहीं कर पाते हैं। अशिक्षित वयस्कों की इन सभी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर समाज-शिक्षा की व्यवस्था की गई है, जिसका प्रमुख उद्देश्य निरक्षर वयस्कों को साक्षर बनाना है।

२. अर्द्ध शिक्षित वयस्कों के लिये शिक्षा की आवश्यकता

भारत में अनेकों वयस्क ऐसे भी है, जिन्हें बाल्यकाल में आर्थिक कठिनाई तथा अन्य किसी कारणवश अपनी शिक्षा को स्थगित करना पड़ा था। अतः यह आवश्यक समझा गया कि इन अर्द्ध-शिक्षित वयस्कों को शिक्षित करके उनके मानसिक दृष्टिकोण को विस्तृत किया जाय जिससे कि वे देश के उत्तम नागरिक बन सकें और साथ ही अपने व्यवसाय में अधिक सफल हो सकें।

३. पूर्ण शिक्षा की आवश्यकता

विद्यालयों तथा उच्च शिक्षा-संस्थाओं में जो शिक्षा प्रदान की जाती है, उसको पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह व्यक्तियों को जीवन के समस्त क्षेत्रों में सफलतापूर्वक कार्य करने की योग्यता प्रदान नहीं करती है। हमारे शिक्षालयों की शिक्षा के प्रमुख दोष ये हैं कि यह स्वास्थ्य, पारिवारिक जीवन

तथा अवकाश के सदुपयोग के सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रशिक्षण नहीं देती जीवन में प्रवेश करने पर व्यक्ति अनुभव करता है कि उसे इस प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता है। समाज-शिक्षा व्यक्तियों की इस आवश्यकता को पूर्ण करती है।

४. मनोरंजन की आवश्यकता

आधुनिक युग में अन्य देशवासियो के समान भारतीयों की आवश्यकताओं में भी वृद्धि हो गई है। वे इन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए प्रातःकाल से लेकर सायँकाल तक किसी न किसी विधि से धन का अर्जन करने मे व्यस्त रहते हैं। दिन भर के कठिन परिश्रम के उपरान्त व्यक्तियों में किसी न किसी मनोरंजन द्वारा स्वयं को आनन्दित करने की इच्छा का उदय होना स्वाभाविक है। जहाँ तक नगरों का प्रश्न है, वहाँ मनोरंजन के साधनों का अभाव नहीं खटकता है, परन्तु ग्रामों मे उनका सर्वथा अभाव है। समाज-शिक्षा ने ग्राम-वासियों के लिए विविध प्रकार के मनोरजनों की व्यवस्था करने का भार अपने ऊपर लिया है।

५. राजनीतिक आवश्यकता

"आज का समय हमारे देश के लिये पुर्ननियोजन, पुर्ननिर्माण, उत्थान एवं विकास का समय है। हमने अपने देश में धर्म-निरपेक्ष कल्याण-कारी लोकतन्त्र की स्थापना की है। हमें उसे सुदृढ़ एवं शक्तिशाली बनाना है, किन्तु यह सब तब तक सम्भव नहीं हो सकता, जब तक कि उसकी आधारशिला ही सुदृढ़ एवं शक्तिशाली न हो। और यह आधार-शिला है—इस देश की वह समस्त जनता जिसके ऊपर कि आज राज्य-सरकारों का सुयोग्य निर्वाचन निर्भर है तथा समूचे राष्ट्र के मंगलमय स्वरूप का निर्धारण अवलम्बित है। इस उद्देश्य के लिए आवश्यक है उस दिशा की ओर अग्रसर करने वाली जन-जन की उपयुक्त शिक्षा एवं उपयुक्त साहित्य। अतएव जिस प्रकार हम अपने बालक-बालिकाओं तथा युवक-युवतियों की शिक्षा-दीक्षा, उनके निमित्त साहित्य की आवश्यकता एवं साहित्य के व्यवस्थित निर्माण पर बल देते हैं, उसी प्रकार हमे अपने प्रौढ़ भाई-बहिनों की शिक्षा-दीक्षा एवं उनके लिये उपयुक्त एवं व्यवस्थित विधि से साहित्य के सृजन की चिन्ता भी करनी होगी।"[1] वस्तुतः इस चिन्ता का भार समाज-शिक्षा ने पूर्ण रूप से अपने ऊपर ले लिया है।

---

१. माननीय शिक्षा-मन्त्री कमलापति त्रिपाठी, "नवसाक्षरोपयोगी साहित्य निर्माण-गोष्ठी की आख्या" के "प्राक्कथन" से, शिक्षा-विभाग उत्तर प्रदेश, १९५८।

६. सामाजिक आवश्यकता

"तुलनात्मक दृष्टि से समाज सबसे अधिक स्थायी समूह है, जो कि सामान्य स्वार्थ, सामान्य भू-भाग, सामान्य प्रकार का रहन-सहन और सामान्य पारस्परिक सहयोग या अपनत्व की भावना रखता है।"[२] समाज की इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि सहयोग समाज का एक आवश्यक तत्व है। समाज का सम्पूर्ण ढाँचा सहयोग की नींव पर ही खड़ा है। इस सहयोग से ही समाज की रक्षा हो सकती है और उसका निर्माण हो सकता है। समाज में जितनी भी संस्थाएँ, समितियाँ और संगठन होते है, उन सभी का अस्तित्व सहयोग पर निर्भर होता है। सहयोग प्राप्त करके ही वे समाज को प्रगतिशील बनाने में सफल हो सकते है। भारतीय समाज में आजकल सहयोग की भावना का अभाव है। विभिन्न समूहों, संस्थाओं और वर्गों मे महान् संघर्ष है, जातीय तथा धार्मिक द्वेष हैं। फलस्वरूप हमारा समाज जड़ तक हिल गया है। ऐसे समाज को एकता के सूत्र में आबद्ध करने की आवश्यकता का अनुभव करके ही समाज-शिक्षा के कार्य-क्रम को क्रियान्वित किया जा रहा है।

७. आर्थिक आवश्यकता

भारत की अधिकांश जनता निर्धन है। नगर-निवासियों की अपेक्षा ग्राम-वासियों की दशा अधिक दयनीय है। उन्हें तन ढकने के लिए पर्याप्त वस्त्र और पेट भरने के लिए पर्याप्त भोजन भी नहीं नसीब होता है। हमारे देश के मस्तक पर निर्धनता की जो कलंक-कालिमा लगी हुई है, उसको बिना धोए हम प्रगति-शील कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। इसी विचार से उत्प्रेरित होकर भारत सरकार ने करोड़ों निर्धन देशवासियों की आर्थिक उन्नति की ओर ध्यान दिया है और इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर समाज-शिक्षा द्वारा उनको विविध प्रकार के कार्यों में प्रशिक्षित करके उनके आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया है।

८. देश की आवश्यकता

यदि एक देश के व्यक्ति शिक्षित नहीं हैं, तो उस देश की क्रियात्मक शक्ति का पूर्ण रूप से उपयोग किया जाना सम्भव नहीं है। शक्ति-संचय तथा शक्ति के पूर्ण उपयोग के लिए शिक्षा की महान् आवश्यकता है। एक अशिक्षित

---

2. "Society is the largest relatively permanent group who share common interests, common territory, a common mode of life and a common *espirit. de-corps* or belongingness." —J. Gillin : *The Ways of Men*, p. 340.

व्यक्ति को इस बात का ध्यान नहीं होता है कि उसमें कौन-सी शक्तियाँ निहित हैं, और वह उनका उपयोग किस प्रकार कर सकता है। भारत के सम्बन्ध में यह बात अक्षरशः सत्य है। इस विशाल देश की जन-शक्ति का उचित उपयोग नहीं हो रहा है। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर समाज-शिक्षा का आयोजन किया गया है।

समाज-शिक्षा द्वारा हमारे देशवासियों तथा देश का जो कल्याण होगा उसको हुमायूँ कबीर के इन शब्दों मे अंकित किया जा सकता है : "शिक्षित श्रमिक अधिक उत्पादन में योग देंगे और इस प्रकार उद्योग तथा व्यवसाय दोनों की अधिक उन्नति होगी। यह उन्नति केवल व्यवसाय तक ही सीमित नहीं रहेगी, वरन् अधिक शिक्षा के फलस्वरूप राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि होगी और आवश्यक समाज सेवाओं का विस्तार होगा। केवल शिक्षा ही हमारे देशवासियों के जीवन के स्तर मे उन्नति करने के लिए वास्तविक आधार का निर्माण कर सकती है। शिक्षा ही मस्तिष्क तथा चरित्र के प्रशिक्षण की, जिससे व्यक्ति अपने अवकाश का निर्माणकारी प्रयोग कर सकेंगे, आवश्यक शर्त है। इस प्रकार केवल समाज-शिक्षा ही वह आधार है, जिस पर स्वतन्त्र भारत कल्याणकारी राज्य का निर्माण कर सकता है, जो वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक सुरक्षा की माँगों को स्वीकार करेगा।"[1]

भारतवर्ष में समाज-शिक्षा कार्यक्रम

भारत मे सरकार ने प्रौढ़ शिक्षा के स्थान पर समाज शिक्षा की धारणा को अपना लिया है। यहाँ की सरकार समाज-शिक्षा प्रदान करने में पंचमुखी

1. "Educated workers would make for increased production and thus make for increased prosperity for both industry and trade. The benefits would not, however, be confined to business alone. Increased education would lead to an addition in the national wealth and create the basis for an expansion of necessary social services. Education alone can create the material basis for an improvement in the standard of life of our people. It is also the necessary condition for the training of mind and character which will permit the people to make a creative use of their liesure. Social education is thus the foundation on which alone free India can build up a Welfare State which will recognize the claims of both individual freedom and social security."—Humayun Kabir : *op. cit.*, p. 96.

कार्यक्रम[1] पर बल देती है। यह पंचमुखी कार्यक्रम निम्नाङ्कित है :—

(१) साक्षरता का प्रसार।

(२) स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य विज्ञान के नियमों की शिक्षा।

(३) वयस्कों की आर्थिक उन्नति के लिए उद्योग-धन्धों की शिक्षा।

(४) वयस्कों में अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति पर्याप्त जागरूकता के साथ-साथ नागरिकता की भावना का विकास।

(५) व्यक्ति एवं समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल मनोरंजन से स्वस्थ साधनों की व्यवस्था।

इस पंचमुखी कार्यक्रम के द्वारा सरकार का ध्येय यह है कि भारतीय जनतंत्र के लिए उचित नागरिकों का निर्माण हो तथा भारतीय मानवता विकसित होकर अपनी पूर्णता पर पहुँच जाय। अतएव यह कार्यक्रम अत्यन्त विस्तृत तथा व्यापक है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि समाज-शिक्षा की किसी भी राष्ट्र को अत्यंत आवश्यकता है। यदि देश में प्रगति करनी है, राष्ट्र के नागरिकों का जीवन स्तर उच्च बनाना है, अन्तर्राष्ट्रीय मानवता के हेतु व्यक्तियों को तैयार करना है तो ये ध्येय बिना समाज-शिक्षा का उचित आयोजन किए प्राप्त नहीं किये जा सकते।

सारांश

स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे देश में समाज-शिक्षा की नितान्त आवश्यकता समझी गयी। यह समझा गया कि जब तक समाज-शिक्षा का उचित आयोजन न होगा और देश के नागरिकों का सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक उत्थान न होगा देश की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह पायेगी।

समाज-शिक्षा के अर्थ को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं "समाज शिक्षा एक नियंत्रित अनुभव है जो व्यक्तियों की सामूहिक कार्यों में भाग लेने की क्षमता में वृद्धि करता है", समाज शिक्षा द्वारा उचित नागरिकता की भावनाओं का प्रतिपादन होता है। व्यक्तियों के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का स्पष्टीकरण होता है और उनकी व्यावसायिक कुशलता में प्रगति होती है।

समाज शिक्षा के उद्देश्य हैं:—(१) अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की भावना का विकास, (२) जनतन्त्र के प्रति प्रेम, (३) देश तथा विश्व की समस्याओं का ज्ञान, (४) संस्कृति के प्रति गौरव, (५) भारतीय संस्कृति से परिचय, (६)

---

1. Five point programme.

नैतिक मूल्यों से परिचय, (७) ज्ञान का प्रसार, (८) आर्थिक उन्नति, (९) शिक्षा की निरन्तरता, और (१०) सहयोग की भावना।

समाज-शिक्षा के लक्ष्य—व्यक्तिगत लक्ष्यः—(१) वयस्कों का मानसिक विकास, (२) वयस्कों की व्यावसायिक क्षमता का विकास, (३) वयस्कों का शारीरिक विकास; (४) वयस्कों की सामाजिक कुशलता का विकास, (५) वयस्कों का सांस्कृतिक विकास, और (६) वयस्कों का आत्म-विकास। समाजगत लक्ष्य हैं—(१) सामाजिक एकता का विकास, (२) राष्ट्रीय साधनों की सुरक्षा तथा उन्नति, (३) सहकारी समुदायों तथा संस्थाओं का संगठन, और (४) सामाजिक आदर्श का समावेश।

समाज-शिक्षा की आवश्यकता के कारण हैं—(१) वैयक्तिक आवश्यकता, (२) अर्द्धशिक्षित वयस्कों की आवश्यकता, (३) पूर्ण शिक्षा की आवश्यकता, (४) मनोरंजन की आवश्यकता, (५) राजनीतिक आवश्यकता, (६) सामाजिक आवश्यकता, (७) आर्थिक आवश्यकता, और (८) देश की आवश्यकता।

भारत—सरकार ने समाज-शिक्षा का पंचमुखी कार्यक्रम निर्धारित किया है। यह पंचमुखी कार्यक्रम है, (१) साक्षरता का प्रसार, (२) स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य विज्ञान के नियमों की शिक्षा, (३) वयस्कों की आर्थिक उन्नति के लिए उद्योग-धन्धों की शिक्षा, (४) वयस्कों में अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति पर्याप्त जागरूकता के साथ-साथ नागरिकता की भावना का विकास, और (५) व्यक्ति एवं समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल मनोरंजन के स्वस्थ साधनों की व्यवस्था।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. एक जनतन्त्रीय राज्य में समाज-शिक्षा के क्या उद्देश्य होने चाहिए? भारत की विशेष समस्याओं को ध्यान में रखते हुए स्पष्टीकरण कीजिए।

२. समाज-शिक्षा की परिभाषा दीजिए। समाज-शिक्षा के प्रतिपादन के लिए किस प्रकार के कार्यक्रम की आवश्यकता होगी।

३. भारतवर्ष में समाज-शिक्षा की आवश्यकताओं पर प्रकाश डालिए।

४. "प्रौढ़ शिक्षा" के स्थान पर "समाज शिक्षा" का प्रयोग अब क्यों किया जाने लगा है? स्पष्टीकरण कीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) सैयदन, के० जी० : प्राब्लम्स आफ एडूकेशनल रिकन्सट्रकशन
(२) मुकर्जी, एस० एन० : एडूकेशन इन इण्डिया, टुडे एण्ड टुमौरो
(३) हुमायुँ कबीर : एडूकेशन इन न्यु इण्डिया
(४) टीचर्स हैन्डबुक आँफ सोशल एडूकेशन
(५) सीताराम जायसवाल : प्रौढ़-शिक्षा प्रसार
(६) नवसाक्षरोपयोगी साहित्य निर्माण गोष्ठी की आख्या, शिक्षा-विभाग, उत्तर प्रदेश ।
(७) जौहरी, बी० पी० तथा पाठक, पी० डी० : भारतीय शिक्षा की समस्याएँ ।

— :०: —

अध्याय १५

शिक्षा के साधन[1]

समाज ने सैकड़ों वर्षों की लम्बी अवधि में समय-समय पर बहुत से विभिन्न विशिष्ट शिक्षा के साधनों को अपनाया है। इन साधनों और शिक्षण संस्थाओं का कार्य तीन प्रकार का है :—

(१) परम्पराओं का एकीभूत करना[2], (२) नये प्रकार के सामाजिक ढाँचों का विकास करना[3], तथा (३) शिक्षा का सृजनात्मक या रचनात्मक कार्य[4]।

इन साधनों और संस्थाओं को हम दो रूप में विभाजित कर सकते हैं :— (१) सविधिक[5], और (२) अविधिक[6]।

सविधिक साधन—वे साधन हैं जो समाज द्वारा विशिष्ट रूप से शिक्षण संस्थाओं के रूप में रखे जाते हैं।[7] इस प्रकार के साधनों के उदाहरण हैं :— विद्यालय, पुस्तकालय और मनोरंजन के केन्द्र इत्यादि।

अविधिक साधन—वे सब साधन हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान को प्रदान करते हैं तथा संस्कारों में रूपान्तर लाते हैं।[8] जैसे परिवार, धर्म और समाज

1. Agencies of Education, 2. Assimilation of traditions, 3. Development of new social patterns, 4. Creative or conservative role of education, 5. Formal, 6. Informal, 7. The formal agencies are those agencies which are set up more or less deliberately by society as educational agencies, 8. The informal agencies of education include all those agencies that tend to impart knowledge and modify disposition in an incidental way.

इत्यादि।

अविधिक साधन जीवन की सत्यता के अधिक निकट होने के कारण अधिक प्रभावशाली होते हैं परन्तु वे असंगठित होते हैं और उनका प्रभाव केवल उस समय की क्रियाओं पर ही निर्भर रहता है।

सविधिक साधनों में विद्यालय सबसे महत्वपूर्ण साधन है। विद्यालय के अतिरिक्त, चर्च, पुस्तकालय, संगठित क्रीड़ा केन्द्र इत्यादि भी सविधिक साधन की कोटि में आते हैं।

शिक्षा के साधनों का विभाजन एक और प्रकार से भी किया जाता है। यह विभाजन क्रियाशील[1], और निष्क्रिय[2] साधनों के रूप में माना जा सकता है। ये साधन क्रियाशील इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि ये शिक्षा में भाग लेने वाले व्यक्तियों की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया द्वारा शिक्षा प्रदान करते है। ये साधन सामाजिक क्रिया पर नियन्त्रण रखते हैं तथा उसका पथ-प्रदर्शन एक सक्रिय साधन के रूप में करते हैं। परिवार, विद्यालय, चर्च, समाज-कल्याण केन्द्र, पुस्तकालय, इत्यादि इस प्रकार के साधनों के उदाहरण हैं।

सामाजिक दृष्टि से विचार करने पर निष्क्रिय साधन वे कहलाते हैं जो एक ओर की प्रक्रिया से ही सम्बन्धित हैं। परन्तु ये साधन भी पूर्णतः निष्क्रिय नहीं हैं। उनके ऊपर जनमत का प्रभाव पड़ता है। वे हैं :—प्रेस, रेडियो, सिनेमा और टेलीवीजन। इन सब साधनों को हम एक मार्गीय कह सकते हैं। सक्रिय साधनों में अध्यापक तथा बालक दोनों एक-दूसरे के साथ प्रतिक्रिया करते हैं। यह द्विविधि मार्गीय हैं। परन्तु निष्क्रिय साधनों में केवल व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है, स्वयं इन साधनों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रेस, टेलीवीजन, रेडियो इत्यादि द्वारा जो कुछ भी प्रतिपादित किया जाता हैं वह सुनने वालों के व्यवहार आदि पर प्रभाव तो डालते हैं परन्तु सुनने या देखने वाले उनको प्रभावित नहीं कर सकते। हालाँकि यह ठीक है कि जनता के मत का या जनता के विचारों का इन पर प्रभाव पड़ता है। प्रेस के एडिटर पर या रेडियो के कलाकार पर व्यक्तिगत प्रभाव तो नहीं पड़ता परन्तु उनके मत का यदि और व्यक्ति भी उनसे सहमत हो जायँ और एक आवाज उठाकर कुछ कहें तो इसका प्रभाव अवश्य पड़ता है।

यहाँ अब हम इस अध्याय में सविधिक साधन 'पाठशाला' के सम्बन्ध में विचार करेंगे और अगले अध्याय में अविधिक साधनों पर प्रकाश डालेंगे।

---

1. Active, 2. Passive.

विद्यालय[1]

विद्यालय का संगठन समाज अपने सदस्यों की शिक्षा का आयोजन करने के लिए करता है। पहिले जब समाज साधारण था और ज्ञान में वृद्धि बहुत कम थी तब शिक्षा, परिवार तथा धार्मिक संस्थाओं द्वारा ही दी जाती थी परंतु जैसे-जैसे समाज जटिल होता गया और उसका ज्ञान भण्डार बढ़ता गया वैसे ही विद्यालय जैसे सविधिक साधन की आवश्यकता प्रतीत हुई। लिखित लिपि के विकास तथा संख्याक्रम के निर्माण के साथ विद्यालयों का संगठन, चीन, मिस्र, भारत, यूनान, रोम तथा बेबीलोन में हो गया। परन्तु फिर भी प्राचीन काल में शिक्षा के मुख्य साधन जनसाधारण लिए अविधिक ही थे। शिक्षा परिवार, धार्मिक संस्थाओं या इसी प्रकार के दूसरे साधनों द्वारा दी जाती थी। विद्यालय द्वारा शिक्षा केवल समाज के गण्यमान व्यक्तियों की संतानों को तथा धार्मिक नेताओं की सन्तान को ही दी जाती थी। आजकल यह दृष्टिकोण उपयुक्त नहीं माना जाता। अब तो विद्यालय द्वारा सबके लिए शिक्षा आवश्यक समझी जाती है।

आजकल विद्यालय शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन है। ज्ञान की अत्यधिक वृद्धि तथा संस्कृति का सुसंगठन इतना अधिक बढ़ गया है कि विद्यालय के बिना उचित शिक्षा का प्रदान करना न केवल कठिन है अपितु असंभव है। आज के समाज में औद्योगिक उन्नति हो रही है, विज्ञान की उत्कृष्टता है। इतिहास तथा दूसरे सामाजिक विज्ञान भी अत्यन्त समृद्ध हैं। इसका फल यही है कि विद्यालय का महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है।

सामाजिक शिक्षा शास्त्रियों के दृष्टिकोण से विद्यालय संस्कृति को एकत्रित करने तथा उसे दूसरे में संक्रमित करने के लिए एक महान् साधन है। जब सांस्कृतिक वंशानुक्रम इतना अधिक इकट्ठा हो गया कि यह प्राथमिक साधनों द्वारा संक्रमित नहीं हो सकता तब विद्यालयों की स्थापना चीन, मिश्र, बेबीलोन भारत इत्यादि देशों में की गई।

विद्यालय के कार्य[2]

विद्यालय एक सामाजिक संस्था होने के कारण इसके बहुत से उत्तरदायित्व हैं। विद्यालय को सामाजिक विकास में सहायता प्रदान करनी चाहिए। समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व और न्याय इत्यादि के आदर्श को उपयोगी मानकर

---

1. School. 2. Functions of the school.

विद्यालय को शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। विद्यालय का यह पावन कर्त्तव्य है कि वह सामाजिक उत्थान के लिए चेष्टा करे। एक जनतन्त्रीय व्यवस्था में पाठशाला का यह उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ जाता है। जनतन्त्र में विद्यालयों को सामाजिक आदर्शों की नवीन परिभाषा तथा नवीन अर्थ प्रदान करने का कार्य करना चाहिए। जनतन्त्र की प्रकृति स्थिर नहीं वरन् गत्यात्मक है। अतएव समाज में समय के साथ नवीन दृष्टिकोण का विकास करना भी आवश्यक है। यह कार्य विद्यालय द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है।

विद्यालय न केवल समाज के उत्थान तक ही सम्बन्धित है परन्तु इसमें व्यक्तिगत विकास का भी उचित स्थान होना चाहिए। व्यक्तियों को विद्यालय द्वारा एक प्रसन्न, पूर्ण और धनी जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाना चाहिए। प्रत्येक बालक की योग्यताओं को पहचान कर उन्हें पूर्ण रूप से विकसित करना चाहिए। बालक की कार्य कुशलता को बढ़ाना चाहिए तभी उसको व्यावसायिक शिक्षा भी विद्यालयों में प्रदान करनी चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विद्यालय तथा समाज दोनों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है, विद्यालय समाज पर प्रभाव डालता है और समाज विद्यालय पर। अब हम कुछ विस्तृत रूप से एक-दूसरे की निर्भरता पर विचार करेंगे।

विद्यालय तथा समाज का पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध[२]

विद्यालय वास्तव में एक सामाजिक संस्था है, जो विशेष सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। यही कारण है कि इसके उद्देश्य समाज द्वारा प्राप्त होते हैं। विद्यालय को समाज का एक संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करना चाहिए। विद्यालय समाज वास्तविक समाज का लघु रूप होना चाहिए जो आदर्श हो। तात्पर्य यह कि स्कूल में ऐसे समाज को निर्मित करना चाहिए जो वास्तविक समाज का प्रतिरूप हो और जो समाज की सब अच्छाइयों को ही अपनाये तथा बुराइयों को दूर रखे।

विद्यालय में व्यक्ति को समाजोपयोगी बनाने की शिक्षा देनी चाहिए। शिक्षा पर ही सम्पूर्ण समाज के हित का उत्तरदायित्व है। और इसीलिए तमाम सामाजिक संस्थाओं का सहयोग स्कूल को प्राप्त करना चाहिए। विद्यालय के विद्यार्थियों को पुरातत्व संग्रालय, कला-केन्द्र, ऐतिहासिक इमारतों, संसद भवन इत्यादि की सैर को बहुधा ले जाना चाहिए।

विद्यालय तथा सामाजिक परिवर्तन[२]

विद्यालय का कर्त्तव्य यह भी है कि वह समाज को प्रगति की ओर ले

---

1. Intimate relation between school and society, 2. School and Social change.

जाय। परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो यह चाहते हैं कि समाज जैसा है वैसा ही रहना चाहिए। इस समय यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है कि विद्यालय सामाजिक परिवर्तन में सहयोग दे या सामाजिक झगड़ों से अपने आप को दूर ही रखे।

(१) विद्यालय का सनातनी कार्य[1]

विद्यालय को वर्तमान सामाजिक संस्कृति को सुरक्षित एवं संजोकर रखना चाहिए। सभी दार्शनिक इस बात से सहमत है कि विद्यालय का मुख्य कार्य संस्कृति संरक्षण को प्रोत्साहित करना है।

(२) विद्यालय का प्रगतिशील कार्य[2]

मुख्य कठिनाई उस समय आती है जब विद्यालय प्राचीन आदर्श को न मान कर प्रगतिशील तत्वों को अपनाने की शिक्षा देता है। इस दशा में विद्यालय का कर्त्तव्य संजोयक का न होकर निर्माणक का हो जाता है। उस परिस्थिति में विद्यालय हमें सामाजिक व्यवस्था के एक अन्य सिद्धान्त की ओर ले जाता है। वह यह है कि यह विद्यालय का कर्त्तव्य है कि सामाजिक प्रगति के लिये कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए तथा कुछ उत्तरदायित्व ले। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का स्पष्ट मत है कि (अ) समाज की वर्तमान स्थिति की विद्यालय स्वतंत्र रूप से आलोचना करे परन्तु सामाजिक प्रगति विद्यालय द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से हो। तात्पर्य यह कि विद्यालय स्वयं सामाजिक प्रगति के लिए क्रियाशील न हो जाय परन्तु आलोचनात्मक शिक्षा के फलस्वरूप यह प्रगति प्रोत्साहित हो। (ब) विद्यालय प्रगतिशील समाज का निश्चित आधार बनाये और फिर पूर्ण शक्ति द्वारा इसको प्राप्त करने की चेष्टा करे।

जिन विचारकों का यह मत है कि विद्यालय को सामाजिक प्रगति का अगुआ होना चाहिए, वे प्रगतिशील शिक्षा के प्रबल समर्थक हैं।

परन्तु विद्यालय के लिए समाज की प्रगति प्राप्त करना बहुत कठिन है क्योंकि सबसे पहिले तो प्रगति के वास्ते समाज तथा विद्यालय को एक निश्चित योजना बनानी पड़ेगी। प्रगतिशील शिक्षा इस प्रकार की योजना रखने में असफल रहती है। दूसरे, अध्यापकों को सामाजिक प्रगति का अगुआ होना पड़ेगा। परन्तु इसके लिए उन्हें अपने प्राचीन विचारों की सुरक्षा को छोड़ना पड़ेगा और उन पर बहुत दोषारोपण किया जाएगा। तीसरे, विद्यालय केवल स्वयं इस सामाजिक प्रगति के महान् कार्य में सफल न हो सकेगा। उसे परिवार

---

1. Conservative function of the school, 2. Progressive function of the school.

चर्च, इत्यादि की सहायता की आवश्यकता होगी। चौथे, यह अत्यन्त कठिन है कि हर एक अध्यापक इतना प्रशिक्षित हो कि वह समाज का नेता बन जाने योग्य हो। पाँचवें, यदि समाज विद्यालय द्वारा आयोजित प्रगतिशील कार्यक्रम को ठुकरा दे तो बालकों में गम्भीर समायोजन की समस्यायें खड़ी होगी। बालक विद्यालय द्वारा तैयार तो किए जायेंगे एक नवीन संगठित समाज में रहने को; परन्तु उन्हें रहना पडेगा पुराने समाज में, जिसकी परम्परायें, रीति-रिवाज वे ठीक नहीं समझेंगे, फल यह होगा कि उनका समाज में समायोजन होना अति कठिन हो जायेगा। छटे, यह कि एक जनतंत्र राज्य में प्रौढ़ लोगों को यह अधिकार होता है कि वे यह निर्धारित करें कि समाज की किस प्रकार की व्यवस्था को विद्यालयों को प्रोत्साहित करना चाहिए। परन्तु विद्यालय इसके विपरीत शिक्षा देकर पीछे से छुरा भोंकने वाली बात करता है। सातवें, सामाजिक परिवर्तन का वास्तविक स्रोत विद्यालय नहीं है परंतु और अधिक शक्तिशाली शक्तियाँ हैं; जैसे—आर्थिक स्थिति, राजनीतिक आन्दोलन, धार्मिक दृष्टिकोण।

शिक्षा-शास्त्रियों ने जो उपरोक्त आलोचना की है, वह पूर्णत: विद्यालय के सामाजिक प्रगति के कार्य के विरुद्ध नहीं है। वे कहते हैं कि एक बार जब यह जनमत द्वारा निश्चित हो चुका हो। विद्यालय का कार्य है समाजिक व्यवस्था को पूर्ण तथा परिवर्तनों को संगठित करना इस दृष्टिकोण के अनुसार विद्यालय सामाजिक परिवर्तन का अनुगामी है, न कि पथ-प्रदर्शक।

कुछ शिक्षा शास्त्री इस सिद्धान्त में भी विश्वास रखते हैं कि विद्यालय को विवादास्पद सामाजिक विषयों में कोई भाग नहीं लेना चाहिए। उसे सामाजिक झगड़ों आदि से दूर ही रहना चाहिए। परन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि विद्यालय एक सामाजिक संस्था है और जब समाज में परिवर्तन हो रहे हैं तो यह दूर खड़ी तटस्थ नहीं रह सकती।

अतएव हम कह सकते हैं कि विद्यालय और समाज का घनिष्ट सम्बन्ध है। विद्यालय समाज की प्रगति के लिये उत्तरदायी है और समाज विद्यालय की। समाज की प्रगति विद्यालय द्वारा होने में क्या कठिनाइयाँ हैं? इस पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं.परन्तु यह सत्य है कि बिना विद्यालय की सहायता के यह सम्भव नहीं कि समाज में सम्यक् प्रगति हो। और विद्यालय भी उसी समय श्रेष्ठ माना जाता है जब वह सामाजिक जीवन का केन्द्र बने।

भारतवर्ष के विद्यालय तथा उनमें दोष

सामन्यत: भारतवर्ष के विद्यालयों का स्वरूप अंग्रेज शासकों द्वारा निर्धारित किया गया है। ये विद्यालय भारतवर्ष की संस्कृति पर आधारित न होकर

शिक्षा के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण पर आधारित होते हैं। परन्तु विदेशी शिक्षा के गुणों के स्थान पर इनकी व्यवस्था में पाश्चात्य शिक्षा के दोषों का ही प्राधान्य रहा। फलस्वरूप आज के साधारण विद्यालय का संगठन दोषों से परिपूर्ण है। स्वतन्त्रता के पश्चात् विद्यालयों के संगठन में जनतन्त्रीय विचारधारा को लाने की चेष्टा की गई और उनके दोषों को दूर करने का प्रयास भी किया गया है परन्तु यह कहना कठिन है कि कहाँ तक इस प्रयास में सफलता मिली है।

भारतवर्ष का साधारण विद्यालय युवकों में उचित आदतों का निर्माण करने में, उनकी प्रकृति में जो कुछ भी मूल्यवान है उसका उचित प्रकार से उपयोग करने में तथा उनकी सृजनात्मक प्रवृत्तियों को रचनात्मक मार्गों में लगाने में असफल है। हमारे विद्यालयों में केवल पाठ्य विषयों की शिक्षा ही दी जाती है; जैसे—इतिहास, भूगोल, विज्ञान इत्यादि। विद्यार्थियों के मस्तिष्क को ज्ञान से भरने की चेष्टा की जाती है। स्मृति पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। वे उपाधि प्राप्त करने के साधन समझे जाते हैं और वहाँ केवल परीक्षा पास कराने के अलावा शिक्षा का अन्य कोई ध्येय नहीं माना जाता। इन विद्यालयों में बालकों की स्वतन्त्रता, प्रसन्नता, कार्य के प्रति प्रेम की भावना को गौण बना दिया गया है। परन्तु यह दशा पाश्चात्य देशों में नहीं है। वहाँ विद्यालय समाज तथा बालक दोनों के कल्याण के लिये प्रयत्नशील रहते हैं।

जब तक हम अपनी शिक्षा प्रणाली के दोषों पर गम्भीरता से विचार न करेंगे और विद्यालयों के उचित संगठन पर ध्यान नहीं दिया जायगा तब तक शिक्षा प्रणाली के दोषों का निराकरण होना सम्भव नहीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, शिक्षा का कर्त्तव्य व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों प्रकार की प्रगति है परन्तु हमारे विद्यालय एक ही प्रकार को प्रगति को लाने में असफल हैं।

हमारे विद्यालयों का संगठन इस प्रकार का है कि उनमें व्यक्तिगत विकास का होना सम्भव नहीं। व्यक्तिगत विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले निम्नलिखत कारण हैं :-(१) प्रत्येक छात्र के लिए चाहे वह किसी भी बुद्धि-लब्धि का हो, एक सी शिक्षण-विधियों का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक भारतीय विद्यालयों में शिक्षण विधियों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। शिक्षा देने की विधि एक ही रूप में सब प्रकार के बालकों के साथ तथा सब विषयों के साथ अपनायी जाती है।

(२) पाठ्यक्रम का स्थायित्व—हमारे विद्यालयों में पाठ्यक्रम एक स्थायी रूप में रहता है। पाठ्यक्रम निर्धारण राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा होता है और विद्यालयों का कार्य इसी पाठ्यक्रम योजना के अन्तर्गत पढ़ाना होता है। फल

यह होता है कि अध्यापकों को यह स्वतन्त्रता नहीं होती कि पाठ्यक्रम में किसी भी प्रकार का संशोधन कर सकें। पाठ्यक्रम स्थानीय दशाओं से दूर, जीवन के अनुभव से परे, बालक के बौद्धिक विकास को ध्यान में दिए बिना निर्धारित किया जाता है जिसमें कोई भी संशोधन संभव नहीं है।

(३) **व्यक्तिगत भेद की अवहेलना**—मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि हर एक व्यक्ति दूसरे से विभिन्नता लिए होता है। प्रत्येक बालक की निजी रुचियाँ होती है, निजी झुकाव, रुझान एवं प्रेरणायें होती हैं। अतएव उसकी शिक्षा इन्हीं के अनुकूल होनी चाहिये। परन्तु हमारे विद्यालयों में इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। एक ही प्रकार से, एक ही पाठ्यक्रम को एक ही दृष्टिकोण-परीक्षा पास कराने जो सम्मुख रख कर शिक्षा दी जाती है। फल यह होता है कि शिक्षा उसके व्यक्तिगत भेद की विशेषताओं पर आधारित न होने के कारण उसके व्यक्तित्व का विकास नहीं करती वरन् दमन कर देती है और वह समाज में समायोजन के योग्य नहीं रहता।

(४) **अरोचक पुस्तकीय ज्ञान तथा खेल द्वारा शिक्षा का अभाव**—हमारे विद्यालय अरोचक पुस्तकीय ज्ञान पर बल देते हैं। वे खेल द्वारा शिक्षा के सिद्धान्त की अवहेलना करते हैं; उनमें शिक्षा पुस्तक पढ़ने से ही आरम्भ होती है और पुस्तक पढ़ने में ही उसका अन्त होता है।

(५) **सृजनात्मक तथा रचनात्मक क्रियाओं का अभाव**—हमारे विद्यालय बालकों की सृजनात्मक तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने मे भी असफल हैं। उनमें कोई भी ऐसी क्रियायें नहीं होती जो बालकों में सृजनात्मक प्रवृत्तियों को उचित प्रदर्शन का अवसर दें। फल यह होता है कि उनका अवरोध हो जाता है और वे विकास होने के पहले ही समाप्त हो जाती है।

(६) **कौतूहल की प्रवृत्ति की अवहेलना**:—हमारे विद्यालयो मे बालकों की कौतूहल प्रवृत्ति की अवहेलना की जाती है। उनके प्रश्नों का उचित उत्तर नहीं दिया जाता। उनमे कौतूहल को जागृत नहीं किया जाता। इसके विपरीत यदि कक्षा में कोई बालक बार-बार प्रश्न पूछता है तो उसे डाँट दिया जाता है। इस प्रकार उनकी ज्ञान की जिज्ञासा को दबा दिया है।

हमारे विद्यालय सामाजिक प्रगति के उत्तरदायित्व को निभाने में भी असफल हैं इसके मुख्य दो कारण है :

(१) आधुनिक विद्यालय समाज केन्द्रित नहीं हैं। वे समाज का लघु रूप नहीं अपनाते। उनमें सामाजिक जीवन की झलक नहीं मिलती। उनमें अधिकतर कृत्रिमता तथा बनावट है। जिन विद्यालयों ने सामाजिक जीवन के प्रतीक यूनि-

यन, सोसायटी इत्यादि को अपनाया है उनमें भी बहुत से दोष प्रवेश कर गये हैं। केवल गुणों का ग्रहण बहुत कम किया गया है।

(२) सामाजिक प्रगति के लिए हमारे विद्यालयों ने अब तक कोई ठोस कदम नहीं उठाया है। शिक्षा के क्षेत्र में विचार अब तक अस्तव्यस्त है। विद्यालयों को इस बात का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं है कि सामाजिक प्रगति में उनका क्या उत्तरदायित्व है और उसका किस प्रकार निर्वाह करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते है कि हमारे विद्यालय बहुत से दोषों से परिपूर्ण हैं और वे अपने उत्तरदायित्व का उचित ढङ्ग से निर्वाह नहीं कर रहे है।

भारतवर्ष के विद्यालयों के लिए पुनर्संङ्गठन के सुझाव

उपरोक्त दोषों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि भारत में नवीन विद्यालयों की स्थापना हो और जो प्रचलित विद्यालय हैं उनका भी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से नव निर्माण हो। पिछले अनेकों वर्षों में बहुत से ऐसे प्रयोग किये गये हैं जो अच्छे विद्यालय के संगठन में सहायक हों, पर अभी तक भारत सरकार किसी ठोस निश्चय पर नहीं पहुँची है।

नवीन विद्यालयों में व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार की प्रगति के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए। व्यक्तिगत दृष्टिकोण को सामने रखते रए नॅन महोदय कहते हैं कि विद्यालय को प्राथमिक विचार से एक ऐसे सीखने का स्थान नहीं समझना चाहिए जहाँ कुछ ज्ञान सीखा जाता है परन्तु एक ऐसा स्थान समझना चाहिए जहाँ युवक कुछ विशिष्ट प्रकार की उन क्रियाओं में अनुशासित किये जाते हैं, जो इस विस्तृत संसार मे सबसे महान् एवं सबसे अधिक स्थायी महत्त्व की है।[1]

ड्यूवी महोदय के लिए विद्यालय "एक विशिष्ट वातावरण है जहाँ जीवन के कुछ गुण तथा कुछ विशिष्ट प्रकार की क्रियाओं और व्यवसाय की शिक्षा को इस उद्देश्य से दिया जाता है कि बालकों को वांछित विकास प्राप्त हो सके।"[2] वह विद्यालय के वातावरण के सम्बन्ध में तीन मुख्य विशेषताओं

1. Nunn says, "The school must be thought of primarily not as a place of learning where certain knowledge is learnt but as a place where young are disciplined in certain forms of activities—namely, those that are of the greatest and most permanent significance in the wider world."

1. For Dewey school is a "special environment where a certain quality of life and certain types of activities and occupations are provided with the object of securing childs' development along desirable lives.

की ओर संकेत करते हैं। वे हैं—

(१) यह एक सरल वातावरण प्रस्तुत करता है।

(२) विद्यालय का वातावरण उस सबको दूर करके जो सामाजिक जीवन में दोष लाते हैं उसे ही प्रतिविम्बित करता है जो मूल्यवान तथा शैक्षिक है ताकि बालकों को केवल एक अच्छे और स्वच्छ समाज के ही दर्शन हों।

(३) सामाजिक वातावरण के विभिन्न संयोजक तत्त्वों और खण्डों मे संतुलन लाना, धनी और विभिन्न प्रकार के स्पर्श व्यक्तियों तथा समूहों में सहयोग लाना तथा युवकों और बालकों की रुचियों और बफादारियों में समन्वय स्थापित करना जो बहुधा विभिन्न दिशाओं में कई ओर कशमकश का अनुभव करते हैं, इसका कार्य भी विद्यालय का है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम एक नवीन स्कूल की विशेषताओं को इस प्रकार कह सकते हैं।

(१) यह केवल बौद्धिक शिक्षा का ही नहीं वरन् एक क्रियाशील जीवन का केन्द्र है।

(२) यह विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को अपने बालकों के लिये आयोजित करता है। और जीवन की पूर्णता तथा प्रसन्नता को ज्ञान उपार्जन से अधिक महत्व देता है।

(३) बालक को जीवन की वास्तविकता से सीधा परिचय देता है। और जीवन की सबसे मूल्यवान विशेषताओं से परिचित कराता है जो इतनी साधारण हो कि बालक उनमें रुचि ले सके।

(४) अपनी क्रियाओं का उचित सगठन तथा मूल्यांकन करने के द्वारा यह बालकों के दृष्टिकोण में एकरूपता तथा उनके व्यक्तित्व में समन्वय स्थापित करता है।

(५) बालक की मूलप्रवृत्तियों का उचित उपयोग करके शिक्षा प्रदान करता है। शिक्षा उपयोगिता को महत्व प्रदान करके भी दी जाती है। यह प्रयोगात्मक खेल द्वारा शिक्षा की विधि को महत्व देता है।

(६) इन स्कूलों में शिल्पकला और हस्तकौशल को महत्व दिया जाता है। छोटी कक्षाओं मे शिक्षा व्यावसायिक कार्यों के चारों ओर केन्द्रित होती है जो बालकों की रुचि के अनुसार होती है। ये विद्यालय सामाजिकता की भावना को प्रोत्साहित करते हैं। इनमें नवीन पद्धतियों; जैसे-बेसिक शिक्षा या प्रोजेक्ट प्रणाली को अपनाया जाता है।

(७) सबसे विशेष गुण नये विद्यालयों का यह होगा कि उनमें बालक की स्वतन्त्रता को बहुत महत्व दिया जायगा। बालक के लिए ऐसी दिशाओं का

निर्माण होगा कि जिससे उसके विकास में कोई रोक-टोक न हो। उसके व्यक्तित्व पर कोई अवरोध न हो।

अन्त में हम कह सकते हैं कि हमारे विद्यालय शिक्षा के सविधिक साधन का कार्य उसी समय उचित रूप से कर पायेंगे जब उनमें से दोषों को दूर किया जाय और उपरोक्त वर्णन की हुई विशेषताओं को लाया जाय।

सारांश

साधनों और संस्थाओं को हम दो रूप में विभाजित कर सकते हैं :— (१) सविधिक और, (२) अविधिक।

सविधिक साधन—वे साधन है जो समाज द्वारा विशिष्ट रूप से शिक्षण संस्थाओं के रूप में रखे जाते हैं। जैसे स्कूल, संगठित खेल।

अविधिक साधन—वे सब साधन है जो अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान को प्रदान करते है तथा संस्कारों में रूपान्तर लाते हैं। जैसे परिवार, समाज।

साधनों का विभाजन एक और प्रकार से किया जाता है। वह है **क्रियाशील तथा निष्क्रिय साधनों के रूप में**। सक्रिय साधन द्विविधि हैं जब कि निष्क्रिय साधन एक मार्गीय है।

विद्यालय—का संगठन समाज अपने मदस्यों की शिक्षा का आयोजन करने के लिए करता है।

विद्यालय के मुख्य कार्य हैं-(१) सामाजिक उत्थान,(२) व्यक्तिगत विकास।

विद्यालय तथा समाज में घनिष्ट सम्बन्ध है। विद्यालय समाज वास्तविक समाज का लघु रूप होना चाहिए। विद्यालय को समाज को प्रगति की ओर ले जाना चाहिए। अतएव सामाजिक दृष्टिकोण से विद्यालय के कार्य हैं : (१) सामाजिक संस्कृति को सुरक्षित एवं संजो कर रखना, (२) सामाजिक प्रगति के लिए कदम उठाना। इस कार्य के सम्बन्ध में बहुत से विवादास्पद मत हैं। यह ठीक नहीं समझा जाता है कि विद्यालय सामाजिक परिवर्तनों में कोई सहयोग प्रदान करे। परन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। वास्तव में विद्यालय की सहायता के बिना समाज में सम्यक् प्रगति संभव नहीं है।

भारतवर्ष का साधारण विद्यालय युवकों में उचित आदतों का निर्माण करने में, उनकी प्रकृति में जो कुछ भी मूल्यवान है उसे उचित प्रकार से उपयोग करने में तथा उनकी सृजनात्मक प्रवृत्तियों को रचनात्मक मार्गों में लगाने में असफल है। हमारे विद्यालय व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों प्रकार की प्रगति लाने में असफल हैं।

व्यक्तिगत विकास में बाधा उत्पन्न करने वाले तत्व हैं :

(१) प्रत्येक छात्र के लिए चाहे वे किसी भी बुद्धि-लब्धि के हों, एक-सी शिक्षण विधियों का प्रयोग ।

(२) पाठ्यक्रम का स्थायित्व ।

(३) व्यक्तिगत भेद की अवहेलना ।

(४) अरोचक पुस्तकीय ज्ञान तथा खेल द्वारा शिक्षा का अभाव ।

(५) सृजनात्मक तथा रचनात्मक क्रियाओं का अभाव ।

(६) कौतूहल की प्रवृत्ति की अवहेलना ।

हमारे विद्यालय समाजिक उत्तरदायित्व को निभाने में असफल हैं क्योंकि ये—(१) समाज केन्द्रित नहीं है, और (२) सामाजिक प्रगति के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाते ।

भारतवर्ष में विद्यालयों का पुनर्संगठन होना आवश्यक है । एक नवीन विद्यालय की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) यह एक क्रियाशील जीवन का केन्द्र हो ।

(२) बालकों के लिए विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का आयोजन हो ।

(३) बालकों को जीवन की वास्तविकता से सीधा परिचय दे ।

(४) अपनी क्रियाओं का उचित संगठन तथा मूल्याङ्कन करके यह बालकों के दृष्टिकोण में एकरूपता ले आये ।

(५) बालक की मूल प्रवृत्तियों का उचित उपयोग करे ।

(६) छोटी कक्षाओं में शिक्षा व्यावसायिक कार्यों पर केन्दित हो ।

तथा (७) बालक की स्वतन्त्रता को महत्व दिया जाय ।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. क्या समाज के लिये सविधिक शिक्षा की आवश्यकता है ? क्या यह हानिप्रद होगा यदि शिक्षा प्रत्यक्ष तथा तत्कालीन अनुभव पर आधारित हो । कारणों पर प्रकाश डालिये ।

२. क्या विद्यालय बालक की शिक्षा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व ग्रहण कर सकता है ? विद्यालय के अतिरिक्त क्या महत्वपूर्ण साधन हैं जो बालक के शैक्षिक विकास में सहयोग प्रदान करते हैं ?

३. सविधिक तथा अविधिक शिक्षा में क्या अन्तर है ? उदाहरण देकर समझाइये ।

४. सक्रिय तथा निष्क्रिय शिक्षा के साधनों पर प्रकाश डालिए ।

५. विद्यालय के सम्पूर्ण शैक्षिक प्रक्रिया के प्रति क्या कर्त्तव्य हैं ? आप विद्यालय के कार्यों को शिक्षा के दूसरे साधनों से समन्वय किस प्रकार स्थापित करेंगे।

६. विद्यालय का समाज के पुनर्संङ्गठन में क्या स्थान है ? क्या यह समाज के उत्थान का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व ग्रहण कर सकता है ?

७. भारतवर्ष के विद्यालयों का नव निर्माण किस प्रकार हो सकता है ? स्पष्ट व्याख्या कीजिये।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) बोड : **माडर्न एडूकेशनल थ्योरीज**
(२) ब्रूबेचर : **माडर्न फिलासफीज आफ एडूकेशन**
(३) ड्यूवी : **डेमोक्रेसी एण्ड एडूकेशन**
(४) ड्यूवी : **स्कूल्स आफ टुमोरो**
(५) भाटिया : **थ्योरी आफ एडूकेशन**
(६) ग्रीन : **एडूकेशन एण्ड ए न्यू सोसायटी**
(७) रेमन्ट : **प्रिन्सीपल्स आफ एडूकेशन**
(८) रॉस : **ग्राउन्डवर्क आफ एडूकेशनल थ्योरी**
(९) रायबर्न : **दि प्रोगरेसिव स्कूल**
(१०) सैयदैन : **दि स्कूल आफ दी फ्युचर**

—:o:—

अध्याय १६

शिक्षा के अविधिक साधन[1]

परिवार और शिक्षा

परिवार शिक्षा का सबसे प्रमुख अविधिक साधन है । यह साधन सबसे पुरातन है । परिवार ही वह सामाजिक साधन है जिससे दूसरे सामाजिक साधनों का विकास हुआ । सब मानव क्रियाओं का इतिहास परिवार के इतिहास के साथ सम्बद्ध है । सारे मानव सम्बन्धों का मूल स्रोत परिवार ही है । हमारी सामाजिक व्यवस्था बहुत काल तक परिवार पर ही आधारित थी । यह आधुनिक काल की ही विशेषता है कि सामाजिक व्यवस्था परिवार के नियंत्रण से बाहर निकल आयी ।

बालक की शिक्षा में परिवार का बहुत बड़ा महत्व है । बालक परिवार में ही उत्पन्न होता है और यही वह पहिला साधन है जिससे सामाजिकता की प्रथम शिक्षा उसे मिलती है । परिवार प्राथमिक सामाजिक समूह है । इसमें व्यक्तियों का सम्बन्ध स्पष्ट एवं सीधा है । यही कारण है कि इसका प्रभाव बालक पर सबसे अधिक पड़ता है ।

बालक कुटुम्ब में ही रहकर भाषा सीखता है । उसके सामाजिक तथा

1. Informal agencies of education, 2. Family and Education.

नैतिक विचार का विकास सबसे प्रथम उसके पारिवारिक जीवन में ही होता है। वह अपने परिवार द्वारा ही परम्पराओं रीति-रिवाज इत्यादि से अवगत होता है। वह अपने परिवार के सदस्यों से प्रेम करना सीखता है। और यहीं उसे उचित तथा अनुचित का प्रारम्भिक ज्ञान होता है। वह परिवार में समायोजन चाहता है और उसमें प्रेम तथा घृणा के भाव का प्रदुर्भाव होता है। जो कुछ सामाजिक अनुभव बालक को परिवार में मिलते हैं वे उसके व्यक्तित्व की अधार शिला निर्मित करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बालक के परिवार का पारिवारिक प्रभाव का बहुत बड़ा महत्व है। बालक की प्रवृत्तियों का प्रकाशन सबसे पहिले परिवार में ही होता है और यदि परिवार में उचित व्यवहार उसके साथ किया जाता है तो बड़े होने पर उसका सामाजिक सुसमायोजन हो जाता है अन्यथा उसका व्यक्तित्व कुसंयोजित हो जाता है।

विभिन्न शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा में परिवार के महत्व पर बल दिया है। कमेनियस महोदय ने बालक के प्रथम छः वर्षों को "माँ के घुटनो का विद्यालय"[1] कहा है। इससे उनका तात्पर्य है घर का विद्यालय। उन्होंने घर को ही सब प्रकार की बालकों की शिक्षा का केन्द्र माना। रूसो[2] महोदय ने माँ को एक सच्चो नर्स की पदवी दी और पिता को वास्तविक अध्यापक की। पेस्टालाजी[3] महोदय ने भी घर के वातावरण को ही शिक्षा में सबसे अधिक प्रभावशाली माना। उन्होंने अपने द्वारा संयोजित विद्यालयो में बराबर घर का सा वातावरण बनाये रखने की चेष्टा की। यही मत फ्रोबेल[4] महोदय का भी था।

भारतवर्ष तथा प्राचीन चीन में, परिवार को शिक्षा का एक मुख्य साधन समझा जाता था। भारतवर्ष में परिवार का अब तक बहुत महत्व रहा परन्तु अब संयुक्त परिवार के टूटने के कारण यह कम होता जारहा है। परन्तु अब भी माता-पिता बालक को घर में एक अच्छा वातावरण प्रदान करने की चेष्टा करते है। पारिवारिक प्रेम को अब भी आदर्श समझा जाता है। बालकों को सामाजिक आदर्शों की शिक्षा यहीं दी जाती है और उन्हें सुघड़ व्यवहार की विधियों से अवगत कराया जाता है। परन्तु आधुनिक काल में नये समाजिक ढाँचे के कारण परिवर्तन शीघ्रता से आरहा है जो भविष्य के लिए हितकर नहीं है।

आधुनिक काल में परिवार की अवस्था

हमने ऊपर वर्णन किया है कि परिवार का महत्व वर्तमान समय में कम

1. Comenius "the school of the mother's knee."
2. Rouseau, 3. Pestalozzy. 4. Froebel.

होता जा रहा है। प्राचीन काल में परिवार ही सब कुछ था। सामाजिकता की भावना परवारिक भावना से ही प्रगति पाती थी। परन्तु वर्तमान काल में समाज का ढाँचा बदल गया है और आर्थिक स्थिति छिन्न-भिन्न हो गई है पारिवारिक जीवन पर इसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। इस समय हर एक व्यक्ति को अपने लिए रोजी-रोटी की समस्या को हल करना है। आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होने के कारण कोई भी व्यक्ति घर बैठकर दूसरों पर आश्रित होकर नहीं खा सकता। हर एक को कुछ न कुछ काम-धन्धा करना पड़ता है। इसके कारण संयुक्त परिवार नष्ट-भ्रष्ट होता जा रहा है।

परिवार के प्रभाव के कम होने का एक कारण यह भी है कि मानव की आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गई हैं उसका जीवन स्तर बढ़ गया है। अब परिवार उनको पूर्ण करने में असमर्थ है। ये आवश्यकताएँ परिवार के बाहर ही पूर्ण की जा सकती हैं। अतएव परिवार का नियंत्रण कम होना स्वाभाविक ही है।

अब परिवार द्वारा व्यावसायिक, सामाजिक तथा नैतिक शिक्षा संभव नहीं है। समाज की व्यवस्था अब बहुत बदल गई है। पहिले जो व्यवसाय बालक अपनाता था वह पारिवारिक व्यवसाय होता था जैसे किसान का पुत्र खेतीबाड़ी ही करता था बढ़ई का पुत्र बढ़ईगीरी ही करता था, पंडित का पुत्र पंडिताई ही करता था। परन्तु अब यह संभव नहीं औद्योगिक तथा वैज्ञानिक विकास के कारण अनेकों ऐसे उद्योगधन्धे बढ़ गये है जिनके लिए विशेष शिक्षा की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त ज्ञान के विकास ने हर एक व्यवसाय को एक विशिष्ट स्थान दे दिया है, जिसके लिए प्रशिक्षण नितान्त आवश्यक है। जैसे कृषि के लिए केवल किसान का बेटा होना पर्याप्त नही परन्तु खाद, बीज, फसल को कीड़ों से बचाना यंत्रों द्वारा खेती इत्यादि के सम्बन्ध में ज्ञान होना आवश्यक है। यह ज्ञान परिवार द्वारा बालकों को नहीं दिया जा सकता। मनोविज्ञान द्वारा यह भी स्पष्ट हो गया है कि हर व्यक्ति की योग्यताएं, प्रेरणाएं, रुचियाँ विभिन्न होती हैं। उसका व्यवसाय इन्हीं योग्यताओं के अनुकूल यदि चुना जाय तो वह एक कार्य-कुशल व्यक्ति बन जायेगा अन्यथा नहीं। अतएव अब परिवार द्वारा उसका व्यवसाय निर्धारित नहीं किया जा सकता।

सामाजिक प्रगति का कार्य तथा समाजिक बन्धनों को समझना परिवार द्वारा संभव नहीं है। समाज अब काफी जटिल हो गया है और सामाजिक सम्बन्ध अनेकों प्रकार के हो गये हैं। अतएव इन सब का अध्ययन करके ही प्रगति संभव है। और यह अध्ययन परिवार में संभव नहीं, इसके लिए तो सविधिक साधन; जैसे विद्यालय की ही आवश्यकता है।

सामाजिक प्रगति के साथ सामाजिक नैतिकता के मानदण्डों में भी परि-

वर्तन हो गये हैं। अब पारिवारिक नैतिकता तथा सामाजिक नैतिकता में अन्तर आगया है। समाज की अपनी स्वयं की नैतिकता का विकास हो गया है। चूँकि व्यक्ति को समाज में रहना है इस कारण उसे सामाजिक नैतिकता को ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है। यह कार्य विद्यालय ही उचित रूप से सम्पन्न कर सकता है, अन्य कोई साधन नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान काल में परिवार का महत्व बहुत कम हो गया है और इसका स्थान विद्यालय ने ले लिया है।

बालक की शिक्षा में परिवार का सहयोग

यद्यपि यह ठीक है कि परिवार का महत्व वर्तमान काल में कम हो गया है परन्तु फिर भी बालक की शिक्षा कभी भी उचित ढंग से नहीं हो सकती जब तक कि परिवार का सहयोग प्राप्त न हो। एक बालक शिक्षा के लिए विद्यालय जाता है परन्तु वह वहाँ चौबीस घण्टों में से केवल पाँच या छः घण्टे व्यतीत करता है शेष समय उसका घर पर ही व्यतीत होता है। अतएव बालक की शिक्षा पर जो प्रभाव घर का पड़ सकता है वह किसी और संस्था का नहीं। यही कारण है कि शिक्षा प्रदान करने में परिवार का सहयोग आवश्यक है।

परिवार बालक की शिक्षा में कई प्रकार से सहयोग प्रदान कर सकता है। उनमें से मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं।

(१) **घर में बालक के शारीरिक विकास की ओर उचित ध्यान देकर:**— शिक्षा द्वारा बालक का सर्वांगणीय विकास किया जाता है। पर बिना शारीरिक विकास के दूसरे विकास संभव नहीं है। घर या परिवार बालक के शारीरिक विकास को उचित अवसर प्रदान करके शिक्षा की क्रिया में बहुत सहयोग प्रदान कर सकता है। यदि बालक को घर मे पौष्टिक भोजन मिले, घर का वातावरण स्वच्छ हो, व्यायाम, खेल-कूद इत्यादि की सुविधाएँ हों, तो बालक का शारीरिक विकास सुगमता से हो जाता है। घर ऐसे स्थान पर हो जहाँ का वातावरण शुद्ध और शान्तिपूर्ण हो। हमारे देश में शहरों मे बहुधा ऐसे मकान मिलते हैं जिनमें न धूप आती है न शुद्ध वायु। ये बालकों के स्वास्थ्य के लिए अभिशाप सिद्ध होते हैं। पौष्टिक भोजन का न मिलना भी स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है।

(२) **परिवार बालक की रुचियों को प्रोत्साहित करे :**—परिवार में ही बालक की रुचियों का प्रथम अनुकरण होता है। सबसे पहिले बालक अपनी रुचि और अरुचि को यहीं व्यक्त करता है। यदि वह बालक को आरम्भ से अच्छी चीजों के प्रति रुचि को प्रोत्साहित किया जाय और खराब वस्तुओं

की ओर अरुचि को तो एक अच्छा परिवार शिक्षा में सहयोग प्रदान कर सकता है। इसके लिए घर का वातावरण सुन्दर तथा शान्तिमय होना आवश्यक है। घर में यदि माता-पिता झगड़ालू है, गाली-गलोज करते हैं तो बालक इन्ही बातों को सीख लेता है। बालकों में इन सब बातों के प्रति अरुचि नहीं उत्पन्न होती और वह एक दूषित मनोवृत्ति से परिपूर्ण हो जायगा। बालक को डाँटना, फटकारना, मारना इत्यादि भी अच्छा नहीं है। बहुत से माता-पिता बालकों को बहुत मारते हैं और पढ़ने को जबरदस्ती बालकों को बैठा देते हैं, फल यह होता है कि बालकों में शिक्षा के प्रति अरुचि घर कर जाती है और बालक जीवन पर्यन्त पढ़ने से घृणा करता रहता है।

(३) **परिवार बालक की प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं को प्रकाशन का अवसर प्रदान करे** :—बालक की शिक्षा में उसकी जन्मजात प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं का बहुत महत्व है। इनके प्रकाशन का प्रथम अवसर परिवार में ही मिलता है। यदि परिवार इन्हें अवरुद्ध कर देता है तो बालक के अन्दर भावना ग्रन्थियाँ बन जाती हैं जो उसके व्यक्तित्व के सन्तुलन को बिगाड़ देती हैं। इसीलिए यह आवश्यक है कि परिवार इन प्रवृत्तियों के प्रकाशन में अवरोध को न प्रवेश करने दे। परिवार में बालक के प्रश्नों का उचित उत्तर दिया जाय। उसकी जिज्ञासा वृत्ति को शान्त किया जाय। सृचनात्मक प्रवृति के प्रकाशन के अवसर प्रदान किये जायँ। कठोर नियंत्रण में बालक को न रख कर उसे स्वतंत्रता प्रदान करनी चाहिए। बालक के लिए उचित खिलौनों का आयोजन भी आवश्यक है। युवा और प्रौढ बहुधा उनके साथ मिलकर खेलें। उनकी आत्म-प्रदर्शन की भावना का उचित मार्गन्तरीकरण किया जाना चाहिए।

(४) **परिवार बालकों को जीवन की वास्तविकता से परिचित करायेः**—परिवार को बालकों को घर के काम-काज की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहिए जिससे वह जीवन की मूल आवश्यकताओं के सम्बन्ध में अवगत हो सकें। परिवार में दुख, सुख, प्रसन्नता, उदासीनता इत्यादि सब आते रहते हैं यही सब बालकों को जीवन की वास्तविकता से परिचित कराते है। परन्तु यह सदैव याद रखना चाहिए कि घर का वातावरण इतना विषाद पूर्ण न हो कि बालक को प्रसन्नता अनुभव ही न हो। दुख का अनुभव जीवन को समझने के लिए आवश्यक है परन्तु यदि बालक कभी भी आनन्द अनुभव न करे तो वह ऐसे घर से घृणा करने लगेगा। बहुधा घर का दुःखमय वातावरण बालक में भावना ग्रन्थियों को बना देता है और वह मानसिक क्लेश से पीड़ित हो जाता है। इसके विपरीत यह भी ठीक नहीं है कि बालक को दुख या विषाद

के निकट ही न आने दिया जाय। ऐसे बालक जब बड़े होकर जीवन की वास्तविकता से परिचित होते हैं और उन पर कोई विपत्ति आती है तो वे उस स्थिति का सामना करने योग्य नहीं रहते और जितना अधिक कष्ट नहीं होता उससे कहीं अधिक मानसिक सन्ताप से पीड़ित होते हैं।

(५) **धर्म की शिक्षा प्रदान करना** :—परिवार को धर्म की शिक्षा प्रदान करने का विशेष उत्तरदायित्व ग्रहण करना चाहिए। विशेष कर धर्म निरपेक्ष राज्य में धर्म की शिक्षा विद्यालयों द्वारा नहीं प्रदान की जाती परन्तु बिना धार्मिक शिक्षा के शिक्षा अधूरी है और चारित्रिक विकास संभव नहीं। अतएव इस सम्बन्ध में परिवार का उत्तरदायित्व बहुत अधिक है। परिवार में बालकों को धार्मिक कथाओं, धार्मिक नेताओं का जीवन-चरित्र तथा धर्म के मुख्य सिद्धान्तों से अवगत कराना चाहिए। बालक को अपने कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्व के प्रति जानकारी प्राप्त होनी चाहिए। स्नेह, सहानुभूति, सद्भावना, सदाचार, दया, दान इत्यादि की भावना उनमें भरनी चाहिए कोई सन्देह नहीं कि हमारे देश में धार्मिक शिक्षा परिवार से ही आरम्भ होती है। अब भी अधिकतर परिवारों में बालकों को प्रार्थना करना, पूजा करना, हिन्दू घरों में श्लोक पढना इत्यादि सिखाया जाता है; यही धार्मिक शिक्षा का आरम्भ है।

(६) **परिवार चरित्र निर्माण में सहयोग प्रदान करे**—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बालक का चरित्र निर्माण घर से ही आरम्भ होता है। विद्यालय में तो बालक बाद में जाता है, पहिले तो जीवन के कई वर्ष वह घर में ही अपने परिवार के साथ व्यतीत करता है जहाँ उसके चरित्र की नीव पड़ती है। और जब तक कि वह विद्यालय जाने योग्य होता है बहुत कुछ उसका चरित्र निर्माण हो चुका होता है। अतएव परिवार का उत्तरदायित्व चरित्र निर्माण में बहुत अधिक है। परिवार उचित परिस्थितियों को उत्पन्न करके तथा उचित वातावरण का निर्माण करके उस उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकता है। यदि परिवार में सब लोग उच्च आदर्शवादी हों, सौहार्द्र तथा सदाचारी हों एक-दूसरे के सम्बन्धों में सद्व्यवहार प्रकट होता हो, सत्यम् सुन्दरम् तथा स्पष्टबादिता के प्रेमी हों; तो बालक के नैतिक चरित्र का निर्माण अत्यन्त सरलता पूर्वक हो जायेगा।

(७) **परिवार को बालक के बौद्धिक विकास में सहयोग देना चाहिए**:—परिवार बौद्धिक वातावरण के द्वारा बालक के बौद्धिक विकास में भी सहयोग दे सकता है। इसके लिए घर में अच्छी पुस्तकों का होना आवश्यक है। सुन्दर शिशु-साहित्य का संकलन बालक के बौद्धिक विकास में बहुत सहायक होता

है। हमारे देश में अच्छे शिशु साहित्य का अभाव है इस कारण तथा परिवारों की निर्धनता के कारण बालकों को अच्छी पुस्तकें नहीं मिल पाती जिससे उनके बौद्धिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि परिवार बालक की शिक्षा में बहुत महत्वपूर्ण सहयोग दे सकता है। उसे शिक्षा के प्रति उदासीन नहीं होना चाहिए वरन् यह चेष्टा करनी चाहिए कि बालकों का विकास उत्तम से उत्तम ढंग से हो। इसके लिए परिवारों को आपसी कलह को कम करना चाहिए जिससे उनमें स्वच्छ, सुन्दर एवं शान्त वातावरण का निर्माण हो सके और जो बालक जो बौद्धिक विकास में सहायक हो।

परिवार में अन्तर्द्वन्द्व के बहुत से कारण होते हैं। यह मुख्यता परिवार के सदस्यों के विपरीत मतों के कारण होना है। यह विरोधी विचारधारा माता-पिता के बीच भी हो सकती है। और कभी कभी माता या पिता या दोनों ही तथा बालकों में होती है। बालकों के आपस में भी मत विरोध हो सकते हैं, तथा परिवार के दूसरे सदस्यों के साथ भी हो सकते हैं। अथवा एक परिवार और दूसरे परिवार के बीच में भी हो सकते हैं। मुख्यतः जो कारण अन्तर्न्द्वन्द्व को जन्म देते हैं वे इस प्रकार हैं–(१) बालकों के आपसी झगड़े : ये झगड़े मां-बाप का अधिक प्रेम पाने के लिए प्रतिद्वन्द्विता के कारण या उच्च सामाजिक सम्मान पाने के लिए हो सकते हैं। अच्छे माता-पिता सब बालकों के साथ समान प्रेम प्रदर्शित कर और जो बालक त्रुटि करता है उसे समझा-बुझा कर इस अन्तर्द्वन्द्व को समाप्त कर सकते हैं (२) स्वाभाविक अन्तर के कारण झगडे : जब एक परिवार के सदस्यों में बहुत अधिक स्वाभाविक अन्तर होता है तब भी ये झगड़े उठ खड़े होते हैं जैसे यदि एक परिवार में स्त्री तो अत्यन्त धार्मिक है और पुरुष नास्तिक। यह अन्तर्द्वन्द्व एक दूसरे के स्वभाव को आदर की दृष्टि से देख कर दूर किए जा सकते हैं (३) आयु के अन्तर के कारण झगड़े : इस प्रकार के झगड़े प्रायः प्रत्येक परिवार में दिखाई पड़ेंगे, युवा और वृद्ध में विचारों का अन्तर होना स्वाभाविक है। वृद्ध व्यक्तियों का पालन-पोषण एक विशिष्ट सांस्कृतिक वातावरण में होता है और जब युवा अपने को दूसरे वातावरण में पाता है तो अन्तर्द्वन्द्व होना कोई आश्चर्य नहीं है। यह अन्तर्द्वन्द्व उस समय बहुत बढ़ जाते हैं जब समाज की व्यवस्था शीघ्रता से बदलने लगती है; जिस प्रकार कि आज के भारतवर्ष में। अन्तर्जातीय विवाह, दहेज प्रथा का उन्मूलन स्त्रियों की स्वतन्त्रता, सम्बन्ध विच्छेद नियम इत्यादि युवकों को तो अच्छे लगते हैं परन्तु वृद्ध इनका विरोध करते हैं। यदि वृद्ध युवकों के दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा करें तो यह अन्तर्द्वन्द्व कम हो सकते हैं। हमारे परिवारों

में इसी तरह के बहुत से अन्तर्द्वन्द्व हैं। इनका उन्मूलन उचित शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है क्योंकि यदि ये बने रहेंगे तो बालक के व्यक्तित्व पर बुरा प्रभाव डालेंगे।

यदि विद्यालय और परिवार में सहयोग है जो कि होना चाहिए, तो शिक्षा का कार्य सरल हो जायेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

सारांश

बालक की शिक्षा में परिवार का बहुत बड़ा महत्व है। बालक परिवार में ही उत्पन्न होता है और यही वह पहिला साधन है जिससे सामाजिकता की प्रथम शिक्षा उसे मिलती है। बालक परिवार में रह कर भाषा सीखता है। उसकी प्रवृत्तियों का प्रकाशन सबसे पहिले परिवार में ही होता है।

प्राचीन भारत तथा चीन में परिवार का महत्व बहुत अधिक था परन्तु वर्तमान समय में यह कम होता जा रहा है। इसका कारण संयुक्त परिवार की महत्ता का कम होना है। इसके अतिरिक्त मानव की आवश्यकताएं बहुत बढ़ गई हैं अब वे परिवार द्वारा पूर्ण नहीं की जा सकती तथा परिवार द्वारा व्यावसायिक, सामाजिक और नैतिक शिक्षा संभव नहीं है। इस प्रकार की शिक्षा का कार्य विद्यालयों द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है।

परिवार बालक की शिक्षा में निम्न प्रकार से सहयोग प्रदान कर सकता है :—(१) घर में बालक के शारीरिक विकास की ओर उचित ध्यान देकर, (२) बालक की रुचियों को प्रोत्साहित करके, (३) बालक की प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं को प्रकाशन का अवसर प्रदान करके, (४) बालकों को जीवन की वास्तविकता से परिचित करा कर, (५) धर्म की शिक्षा प्रदान करके, (६) चरित्र निर्माण में सहयोग प्रदान करके, तथा (७) बालक के बौद्धिक विकास में सहयोग प्रदान करके।

परिवार में अन्तर्द्वन्द्व को जो कारण जन्म देते हैं :—(१) बालकों के आपसी झगड़े, (२) स्वाभाविक अन्तर के कारण झगड़े, (३) आयु के अन्तर के कारण झगड़े।

यदि विद्यालय और परिवार में सहयोग होता है। तो शिक्षा का कार्य अत्यन्त सरल हो जाता है।

अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न

१. परिवार का शिक्षा के साधन के रूप में क्या महत्व है ? वर्तमान काल के औद्योगिक विकास ने इस साधन का विद्यालय के साथ सम्बन्ध पर क्या प्रभाव डाला है।

२. वर्तमान काल में विद्यालय तथा घर के परस्पर सहयोग के महत्व के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जाता है। आपके मतानुसार इस प्रकार के सहयोग में क्या गुण निहित हैं ? यह ध्यान में रखते हुए कि अनेकों अभिभावक अशिक्षित हैं, आप किस प्रकार इन दोनों साधनों में परस्पर सहयोग प्राप्त करने में सफल होंगे।

३. घर की शिक्षा का विद्यालय की शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ता है ? आपके मतानुसार यह किस प्रकार का प्रभाव होना चाहिए।

४. परिवार में अन्तर्द्वन्द्व के क्या कारण होते हैं ? आप परिवारिक अन्तर्द्वन्द्व को दूर करने के लिए क्या प्रयत्न करेंगे ?

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) ड्यूवी : डेमोक्रेसी एण्ड एडूकेशन
(२) हेन्डरसन : एन इन्ट्रोडकशन टु दी फिलासफी आफ एडूकेशन
(३) थोमसन : ए मार्डन फिलासफी आफ एडूकेशन
(४) ब्राउन : एडूकेशनल सोशियोलॉजी
(५) ओटोवे : एडूकेशन एण्ड सोसायटी

—:o:—

अध्याय १७

समाज और शिक्षा[1]

मानव अपनी प्रकृति में व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही है। उसकी व्यक्तिगत प्रकृति उसको स्वतन्त्र आत्म-प्रदर्शन तथा विकास का अधिकार देती है। यह विकास तथा आत्म-प्रदर्शन उसका मनुष्य समाज से दूर अकेले में नहीं होता परन्तु उसके मध्य में ही होता है। इससे हम व्यक्ति की प्रकृति के दूसरे रूप पर आ जाते हैं जो सामाजिक है जन्म से ही प्रत्येक मनुष्य सम्पर्क में आने वाले मनुष्यों पर प्रभाव डालने लगता है। और वह स्वयं भी उन व्यक्तियों द्वारा प्रभावित होता है। विलियम ईगर महोदय कहते हैं कि—"मानव स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है इसलिए उसने बहुत वर्षों के अनुभव से यह सीख लिया है कि उसके व्यक्तित्व तथा सामूहिक कार्यों का सम्यक् विकास सामाजिक जीवन द्वारा ही सम्भव है।"[2]

---

1. Community.

2. William A. Yeager, *"School Community Relations."* N.Y.,The Dryden Press, p. 439. "Since man is by nature a social being, he has learnt through the years that his personality as well as group activities can be best developed through community being."

समाज

समाज को शिक्षा के साधन के रूप में देखने से पहिले यह आवश्यक है कि हम सबसे प्रथम इसकी प्रकृति के सम्बन्ध में समझ लें। मनुष्य समाज में उन वस्तुओं के आधार पर रहता है जो सभी के लिए सामान्य रूप से लाभदायक होती हैं, सार्वजनिक कल्याण में सहायता पहुँचाती हैं और जिनके द्वारा एक समुदाय अथवा समाज का निर्माण किया जाता है। वे है—उद्देश्य, विश्वास, ज्ञान, महत्वाकांक्षा, तथा एक सामान्य सूझ।[1] यह बात यहाँ समझ लेना चाहिए कि समाज का निर्माण मनुष्यों के शारीरिक रूप से एकत्रित होने से नहीं हो जाता। एक समाज का निर्माण उसी समय होता है जब सब व्यक्ति जो उस समाज के सदस्य बनना चाहते हैं, एक सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सक्रिय कार्य करें।

समाज का वर्गीकरण[2]

समाज का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। उनके मुख्य तीन प्रकारों का वर्णन हम यहाँ पर करेंगे—(अ) आकार की दृष्टि से समाज को मुख्यतः सात भागों में विभाजित किया जा सकता है-(१) देहात, (२) झोपड़ियाँ, (३) गाँव, (४) कस्बा, (५) छोटा नगर, (६) बीच का नगर, तथा (७) राजधानी[3]। (ब) दूसरे प्रकार का विभाजन है कार्य के आधार पर, मुख्यतः व्यवसाय के आधार पर; जैसे—कृषक, कान खोदने वाले, कपड़ा बुनने वाले इत्यादि। तीसरे प्रकार का विभाजन "सामाजिक जीवन की समीपता पर है।"[4] हम चाहे किसी प्रकार का और कितने ही विभाजन करें वर्ग विभिन्नता, वैयक्तिक या सामूहिक व्यवहार, सत्ता, आदर्शों का द्वन्द्व इत्यादि शिक्षा के कार्यक्रम पर बहुत अधिक प्रभाव डालेंगे।

प्रत्येक समाज की संरचना के महत्त्वपूर्ण तत्त्व[5]

किसी भी समाज की संरचना में तीन मुख्यतः तत्त्व होते हैं। प्रथम उस समाज के भौतिक या प्राकृतिक साधन, दूसरे समाज के मानवीय साधन जिनसे

---

1. Dewey, *Democracy and Education*, p, 5. "Man live in a community in virtue of the things which they have in common. The things which they have in common in order to form a community or society are aims, beliefs, aspirations, knowledge, a common understanding." 2. Classification of communities. 3. Rural, hamlete, village, town, small city, middle city and metropolis, 4. Intimacy of social life, 5. Important elements in the composition of any community.

तात्पर्य है समाज के मनुष्य। तीसरे मानव निर्मित साधन जिन्हें हम सामाजिक संस्थाएँ कहते हैं जो जीवन को उत्तम बनाने के हेतु निर्मित की जाती हैं। शिक्षा द्वारा किसी भी समाज के जीवन में जो उन्नति लाई जा सकती है वह इस बात पर निर्भर रहती है कि इन साधनों में किस सीमा तक उन्नति हो सकती है और किस सीमा तक जनतन्त्रीय जीवन को प्रोत्साहन मिलता है।

समाज और मानव

यह विचार करना सर्वथा असंगत है कि जब हम यह कहते हैं कि यह व्यक्ति अमुक प्रकार के समाज का सदस्य है तो वह केवल उस समाज के उद्देश्यों से ही सम्बन्धित है किसी अन्य समाज से नहीं। आज के समाज में रहने वाला व्यक्ति, चाहे वह समाज के किसी भी विशिष्ट प्रकार के समाज से सम्बन्धित हो, समाज के अन्य वर्गों से भी सम्बन्धित होता है। प्रत्येक परिवार अपने मित्रों सहित एक समाज का निर्माण करता है। इसी प्रकार एक गाँव या एक वाणिज्य समूह या एक क्लब एक समाज है। इसके अतरिक्त दूसरे समाज हैं जो धर्म के आधार पर निर्मित हैं अथवा आर्थिक आधार पर। प्रत्येक समूह अपने सदस्यों पर आवश्यक रूप से प्रभाव डालता है। उसके सदस्यों की शिक्षा समूह की प्रकृति पर ही निर्भर रहती है। चोरों का समूह या कैदियों का वर्ग अपने सदस्यों की शिक्षा के लिए तत्सम्बन्धी शैक्षिक वातावरण प्रदान करता है। यह शैक्षिक वातावरण उतना ही प्रभावशाली होता है जितना कि राजनीनिक दल या चर्च द्वारा अपने सदस्यों के लिए निर्मित किया गया वातावरण। मानव व्यवहार पर ऐसे समूह की सदस्यता का भी प्रभाव पड़ता है जिससे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता—जैसे कला प्रेमियों की संस्था या लेखकों की संस्था या कोई वैज्ञानिक संस्था। इन संस्थाओं के सदस्य सारे संसार में फैले हो सकते हैं जैसे लन्दन की रायल सोसाइटी[1] के सदस्य, जिनमें व्यक्तिगत सम्पर्क बहुत कम होता है परन्तु फिर भी उनके लेखों, कला या विज्ञान की खोजों द्वारा, विचारों के आदान-प्रदान द्वारा एक-दूसरे पर बहुत प्रभाव डालते है। उन सदस्यों पर दूसरों के ज्ञान का सीधा और परिणामी प्रभाव पड़ता है।

समाज का शिक्षा पर प्रभाव

हमने ऊपर यह देखा है कि किसी भी प्रकार के समाज की सदस्यता हो, वह अपने सदस्यों पर बहुत गहरा प्रभाव डालती है। समाज की कुछ भी प्रकृति हो उसके सदस्यों की शिक्षा उसी पर निर्भर होगी। उदाहरण के लिए

1. Royal society

एक बालक जो अपराधियों के समाज में उत्पन्न हुआ है उसे अपराध की ही शिक्षा मिलेगी। अतएव विद्यालय में आने पर वहाँ चाहे जैसा भी वातावरण हो, बालकों की शिक्षा प्रभावहीन ही रहेगी। जब तक समाज का सहयोग विद्यालय को न मिलेगा और समाज अपने सदस्यों के उत्थान के लिए चेष्टा नहीं करेगा तब तक मात्र विद्यालय कुछ नहीं कर सकेगा। जब शिक्षा में समाज का उचित सहयोग प्राप्त होगा तब एक आदर्श समाज की स्थापना हो सकेगी। अतः समाज को धोखाधड़ी पर नहीं अपितु नैतिक गुणों पर आधारित होना चाहिए।

आदर्श समाज की स्थापना एक सरल कार्य नहीं है और न हम आदर्श समाज की परिभाषा निश्चय रूप से दे ही सकते हैं। आदर्श समाज कुछ व्यक्तियों की स्वेच्छाओं पर निर्भर नहीं हो सकता। इसके स्थापित करने के लिए हम ड्यूवी महोदय के मत से पूर्णतया सहमत हैं। उनका कथन है कि—"एक समाज के सामाजिक जीवन में से उचित गुणों को ग्रहण कर समाज की बुराइयों की कड़ी आलोचना करे और सामाजिक सुधारों के लिये ठोस सुझाव प्रदान करे।[1] इस स्थान पर शिक्षा सबसे महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है।

विद्यालय तथा समाज

हमने पिछले अध्याय में विद्यालय का समाज पर प्रभाव तथा समाज का विद्यालय पर प्रभाव पर प्रकाश डाला था। यह बात हमने स्पष्ट करदी थी कि समाज की प्रगति के लिए तथा समाज की आवश्यकताओं के लिए विद्यालय को अनिवार्य रूप से प्रयत्नशील रहना चाहिए। अतएव विद्यालय के सामने मुख्य दो कार्य हैं।

(१) विद्यालय को विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए उद्देश्यों तथा आदर्शों को समाज की उचित क्रियाओं द्वारा निर्धारित करना चाहिए जिससे समाज की प्रगति हो।

(२) विद्यालयों को समाज के गुणों को ग्रहण करके ही नहीं रुक जाना चाहिए परन्तु उसे अपने को समाज का केन्द्र बनाकर समाज की प्रगति की भी चेष्टा करनी चाहिए।

भारतीय समाज के लिए शिक्षा

आज का भारतीय समाज बहुत अधिक जटिल हो गया है। यह बहुत सी

---

1. Dewey, "to entract the desirable traits of forms of community life which actually exist and employ them to criticize undesirable features and suggest improvements."

ऐसी संस्थाओं से मिलकर बना है जिनमें बहुत कुछ विचारों की कठोरता और अपरिवर्तनशीलता है। जातीयता, प्रान्तीय भावना, धार्मिक दृष्टिकोण इत्यादि कुछ ऐसी शक्तिशाली कुप्रवृत्तियाँ है जिन्हें हम आधुनिक भारतीय समाज में पाते है। इसीलिये भारतीय समाज में बहुत अन्तर्द्वन्द्व है, बहुत विषमता और संकीर्णता है। जातिवाद ने राष्ट्र को बहुत हानि पहुँचाई है। छुआछूत के भूत ने और दूसरी बुराइयों ने जनतन्त्र का मार्ग अत्यन्त कठिन बना दिया है। इसी प्रकार से धर्म के नाम पर देश में बहुत ही गम्भीर झगड़े हो चुके हैं। अब भी कहीं सिखिस्तान माँगा जाता है तो कहीं जाटिस्तान का नारा लगाया जाता है। देश की एकता में यह सब विद्रोहात्मक प्रवृत्तियाँ एक रुकावट दीवार बनकर खड़ी हो हुई हैं। ऐसी दशा में शिक्षक के सामने सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि देश मे एकता, भाईचारा, मैत्री तथा प्रेम की भावना को प्रोत्साहित करे। जनता में रुचियों की एकाग्रता को जन्म दे और व्यक्तिगत, जातिगत, सम्प्रदायगत सकीर्णताओं से ऊपर उठकर राष्ट्र और मानव कल्याण की भावना को प्रोत्साहन दे।

अध्यापक और समाज

एक अध्यापक जब प्रशिक्षण विद्यालय से निकलकर नौकरी करने जाता है तो बहुधा वह अपने को एक आदर्शवादी सुधारक के रूप में समझता है। यदि वह एक ऐसे विद्यालय मे कार्य करता है जो पिछड़े वर्ग के लोगों का है तो समाज का उत्थान करना अपना परम कर्त्तव्य मानता है। परन्तु यदि वह अतिशय उत्साह के साथ इस कार्य मे लग जायगा तो समाज इसे पसन्द नही करेगा, वह उसे अपना हितेषी न समझकर शत्रु समझने लगेगा। सही रास्ता तो यह है कि अध्यापक सर्व प्रथम समाज को समझे और अपने आपको इसके प्रति अनुकूलित कर और फिर इस स्थान से आगे बढ़कर समाज को सुधारने की चेष्टा करे।

अध्यापक को समाज के साथ सम्बन्ध जोड़ने में इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए—(१) वह अपने मित्रों का चुनाव ठीक से करे। समाज बहुधा अध्यापक का उसके मित्रों को देखकर मूल्याङ्कन करता है। यदि अध्यापक के मित्र समाज द्वारा अस्वीकृत व्यक्ति होगे तो अध्यापक का स्थान समाज की दृष्टि में गिर जायगा, (२) उसका सम्बन्ध दूसरे नागरिकों तथा अविभावकों से मैत्री पूर्ण होना चाहिए परन्तु उसे आवश्यकता से अधिक नम्रता नहीं दिखानी चाहिए। अविभावकों की उपेक्षा भी उसे सहन करनी चाहिए तथा अपनी आलोचना के लिए सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए, (३) उसे समाज के उत्सवों तथा कार्यों

इत्यादि में भाग लेना चाहिए, और (४) ऐसे कार्यों से अपने को दूर रखना चाहिए जिन्हें समाज निंद्य समझता है।

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन[1]

समाज परिवर्तनशील है। यह सक्रिय है। कुछ व्यक्ति सदैव ऐसे होते हैं जो सामाजिक परिवर्तनों को शीघ्रता पूर्वक लाने के लिए तत्पर रहते हैं। सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन तथा विभिन्न सामाजिक इकाइयों में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन हैं जो समाज का संगठन करते है; जैसे—परिवार के संगठन तथा कार्य में, विद्यालय में तथा चर्च और दूसरे साधनों में परिवर्तन।"

सामाजिक परिवर्तन को कुछ शिक्षा शास्त्री सांस्कृतिक परिवर्तन के रूप में देखते हैं। ब्राउन महोदय का मत इसी प्रकार का है। उनके अनुसार सांस्कृतिक परिवर्तन समाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण रूप है। चोपिन[2] महोदय के अनुसार सांस्कृतिक परिवर्तन के तीन स्तर होते हैं-(१) भौतिक संस्कृति सम्बन्धी परिवर्तन[3], (२) अभौतिक संस्कृति सम्बन्धी परिवर्तन[4], तथा (३) सम्पूर्ण संस्कृति सम्बन्धी परिवर्तन[5]। इन तीनों स्तरों के उदाहरण हैं :— सामाजिक सङ्गठन में परिवर्तन, धर्म सम्बन्धी परिवर्तन तथा समाज या सरकार के ढांचे सम्बन्धी परिवर्तन।

सामाजिक परिवर्तन में निहित मानव के व्यवहार के वे परिवर्तन भी होते हैं जो उसकी आदतों, उद्देश्य इत्यादि का रूप इस प्रकार बदल देते हैं कि मानव परिवर्तनशील वातावरण में अपना समायोजन करने के लिए तैयार हो जाता है।

सामाजिक परिवर्तन पहिले भौतिक सांस्कृतिक परिवर्तन के रूप में होता है फिर इसका रूप अभौतिक सांस्कृतिक परिवर्तन का हो जाता है। इससे तात्पर्य है कि विचार, विश्वास, परम्पराओं, आदतों इत्यादि में परिवर्तन बाद में होता है। पहिले परिवर्तन मानव की भौतिक वस्तुओं के उपयोग इत्यादि में होते हैं, जैसे विज्ञान के यंत्रों का उपयोग पहिले होता है और वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकास बाद में होता है। मनुष्य वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग तो करने लगता है परन्तु अन्ध-विश्वास इत्यादि से ऊपर उठ कर वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण इसके पश्चात ही अपना पाता है। परन्तु इस उदाहरण से एक

---

1. Education and social change. 2. Chopin, 3. Changes related to material culture, 4. Changes related to non-material culture, 5. Changes related to the whole composite of culture.

बात तो स्पष्ट ही है; वह यह कि सामाजिक परिवर्तनों में शीघ्रता लाने में वैज्ञानिक विकास बहुत ही महत्वपूर्ण है।

सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा बहुत महत्वपूर्ण भाग लेती है। शिक्षा द्वारा समाज की संस्कृति नयी पीढ़ी तक पहुँचती है। जो कुछ भी संस्कृति मानव जाति द्वारा अर्जित की जाती है यदि वह नवीन पीढ़ियों तक नहीं पहुँचायी जायगी तो नष्ट हो जायगी ऐसा होने से समाज में भी कोई स्थायित्व नहीं रहेगा। यही कारण है कि समाज के स्थायित्व तथा क्रमिक विकास के लिए शिक्षा आवश्यक है और इस कार्य के सम्पन्न करने में विद्यालय सबसे महत्व-पूर्ण है।

परन्तु शिक्षा का कार्य संस्कृति को नयी पीढ़ियों तक पहुँचाने से ही समाप्त नहीं हो जाता। इसका कार्य सृजनात्मक भी है। समाज परिवर्तनशील है। शिक्षा का कार्य यह भी है कि वह वर्तमान समाज में उन परिवर्तनों को लाने की चेष्टा करे जो समाज में नव-जीवन का संचार करदे और समाज प्रगति की ओर बढ़ने लगे।

शिक्षा के सृजनात्मक कार्य का महत्व एक ऐसे समाज में जो जनतंत्र पर आधारित हो बहुत अधिक है। एक जनतंत्र समाज में शिक्षा द्वारा युवकों को समाज में अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिये तैयार किया जाता है। परन्तु युवक अच्छा जीवन उसी समय व्यतीत कर सकते हैं जब उनमें समाज की विषमताओं को दूर करके उनमें उचित परिवर्तन लाने की क्षमता हो। इस प्रकार की क्षमता का विकास शिक्षा द्वारा ही संभव है। शिक्षा नवीन सामाजिक ढाँचे प्रस्तुत करती है। वह व्यक्तित्व का विकास इस प्रकार करती है कि व्यक्ति समाज की प्रगति के लिए योगदान देने को तत्पर हो जाता है। इस प्रकार शिक्षा व्यक्ति को तैयार करती है समाज के उत्थान के लिए और समाज का उत्थान या प्रगति किन दिशाओं मे हो, उनकी ओर भी संकेत करती है।

सारांश

समाज शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन है। इसका निर्माण उसी समय होता है जब सब व्यक्ति जो उस समाज के सदस्य बनना चाहते हैं एक सामान्य उद्देश्य की ओर सक्रिय कार्य करें।

समाज का वर्गीकरण आकार के दृष्टिकोण से या कार्य के आधार पर किया जा सकता है।

प्रत्येक समाज की संरचना के लिए तीन मुख्य तत्व होते हैं :—

(१) समाज के भौतिक या प्राकृतिक साधन, (२) समाज के मानवीय साधन, (३) मानव निर्मित साधन।

मानव के ऊपर विभिन्न समाजों के उद्देश्य तथा कार्यक्रम का प्रभाव पड़ता रहता है।

समाज का उसके सदस्यों की शिक्षा पर गहरा प्रभाव होता है। जैसी समाज की प्रकृति होती है उसी के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध उस समाज मे किया जाता है।

विद्यालय के सामने मुख्य दो कार्य होते है :—(१) बालकों को समाज की संस्कृति को ग्रहण करने में सहायता पहुँचाना, तथा (२) सामाजिक प्रगति के लिए चेष्टा करना।

भारतीय समाज की विषमताओं को दूर करने के लिए विशेष प्रयत्न किए जाने आवश्यक है। शिक्षा समाज की बुराइयों को दूर करके बहुत महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

एक अध्यापक को समाज के साथ सम्बन्ध जोड़ने मे इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए :—(१) वह अपने मित्रों का चुनाव ठीक से करे, (२) उसका सम्बन्ध दूसरे नागरिकों तथा अभिभावकों से मैत्रीपूर्ण हो, (३) वह समाज के उत्सवों तथा कार्यों इत्यादि में भाग ले, तथा (४) ऐसे कार्यों से दूर रहे जिन्हें समाज निंद्य समझता है।

सामाजिक परिवर्तनों में शिक्षा बहुत महत्वपूर्ण भाग लेती है। सामाजिक परिवर्तन पहिले भौतिक सांस्कृतिक परिवर्तन के रूप में होता है फिर इसका रूप अभौतिक सांस्कृतिक परिवर्तन का हो जाता है। शिक्षा का कार्य यह भी है कि वह वर्तमान समाज में उन परिवर्तनों को लाने की चेष्टा करे जो समाज में नव-जीवन का संचार करके और समाज प्रगति की ओर बढ़ने लगे।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. समाज का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ता है ? भारतीय समाज के उत्थान के लिए किस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है।
२. अध्यापक समाज की प्रगति में क्या सहयोग प्रदान कर सकता है ? भारतीय अध्यापक के उत्तरदायित्व वर्तमान काल में क्यों बहुत बढ़ गये हैं ?
३. सामाजिक परिवर्तन से क्या तात्पर्य है ? भारत में सामाजिक परिवर्तनों की रूपरेखा क्या होनी चाहिए ?

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) बोड : माडर्न एडूकेशनल थ्यौरीज़
(२) ब्रूबेचर : मॉडर्न फिलासफीज ग्रॉफ एडूकेशन
(३) ड्यूवी : स्कूल्स ग्राफ टु मोरो
(४) ग्रीन : एडूकेशन एण्ड ए न्यू सोसायटी
(५) रसेल : एडूकेशन एण्ड सोशल ग्रार्डर
(६) ब्राउन : एडूकेशनल सोशियोलाजी
(७) क्लार्क : एडूकेशन एण्ड सोशल चेंज
(८) ग्रोलसन एण्ड ग्रदर्स : स्कूल एण्ड कम्यूनिटी
(९) ग्रौटेवे : एडूकेशन एण्ड सोसायटी

—: ० :—

अध्याय १८

राज्य एक शिक्षा-संस्था के रूप में[1]

"एक राज्य की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि यह एक सङ्गठित राजनैतिक समाज है जिसकी सरकार को वहाँ के व्यक्ति मान्यता प्रदान करते हैं।"[2] राज्य के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं—एक दृष्टिकोण के अनुसार राज्य अपने उन सदस्यों से परे एक आध्यात्मिक सत्ता है जिनके संगठित होने से उसकी स्थापना होती है दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार राज्य "मनुष्यों के अन्य समूहों की तरह ही एक समुदाय है जिसका संगठन किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये होता है, जो सार्वजनिक हितों का सदैव ध्यान रखता है तथा जिसकी स्वीकृति उसी के नागरिकों द्वारा होती है।"[3] प्रथम प्रकार के राज्य को सर्वाधिकारवादी राज्य कहते हैं और दूसरे प्रकार का राज्य को जनतन्त्र कहते हैं।

---

1. State as an agency of education, 2. I. L. Kamdall, The New Era in Education p. 25. "A State may be defined as an organized political community with Government recognized by the people. 2. State is considered as a metaphysical entity over and above all the individuals which constitute it. 3. State is an association of individuals, like any other grouping of individuals organized for the pursuit and conduct of ends common to all and resting upon the consent of its citizen.

सर्वाधिकार तन्त्र तथा जनतन्त्र राज्य में अन्तर[1]

एक सर्वाधिकारतन्त्रीय राज्य और एक जनतन्त्रीय राज्य में बहुत अन्तर है उनमें निम्नलिखत भेद इस प्रकार हैं :—

(१) सर्वाधिकारवादी धारणा सैद्धांतिक दृष्टि से आदर्शवादी है। सर्वाधिकारवादी राज्य आध्यात्मिक कल्पना पर आधारित है। दूसरी ओर प्रजातन्त्र अनुभवों की वास्तविकता पर निर्भर है। अतएव हम कह सकते हैं कि सर्वाधिकारवादी राज्य एक अमूर्त विचार है जब कि जनतन्त्र मूर्तमान व्यावहारिक रूप लिए होता है।

(२) सर्वाधिकारवादी राज्य में सत्ता शक्ति के बल पर रखी जाती है और व्यक्तियों पर नियन्त्रण शक्ति के भय के द्वारा रखा जाता है। जनतन्त्र राज्य में 'न्याय' और 'समानता' पर बल दिया जाता है।

(३) सर्वाधिकारी राज्य अपने आप से ही सम्बन्ध रखता है और किसी और से नहीं। तात्पर्य यह कि यह अपने ही लाभ को एकमात्र उद्देश्य समझता है जबकि जनतन्त्र राज्य प्रत्येक नागरिक की भलाई का ध्यान रखता है। यह सम्पूर्ण जनता के सर्वांगीण विकास का साधन होता है।

(४) एक जनतन्त्र राज्य में कई लोगों के हाथ में सत्ता होती है जो कि जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं—परन्तु सर्वाधिकार केन्द्रित राज्य में सत्ता केवल एक व्यक्ति के ही हाथ में होती है। एक में सत्ता अनेक में निहित है तो दूसरी में एक में।

(५) जनतन्त्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता रहती है। जनता अपने विभिन्न मतों का प्रदर्शन बिना भय के कर सकती है परन्तु सर्वाधिकार केन्द्रित राज्य में केवल एक मत होता है और वह मत होता है शासन का। वस्तुतः उसकी इच्छा ही कानून होती है और उसे जनता को स्वीकार ही करना पड़ता है।

राज्य तथा शिक्षा[2]

राज्य का अपनी जनता की शिक्षा में रुचि लेना अभी हाल की ही बात है। युरोप में १९ वीं शताब्दी में आकर यह सिद्धान्त मान्य हुआ कि अपने नागरिकों की शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर ही है। प्राचीन भारत में राज्य का कार्य जहाँ कहीं भी सहायता की आवश्यकता होती थी केवल धन से सहायता करना था। राज्य शिक्षा के कार्य में कोई भी हस्तक्षेप नहीं करता था। जब अंग्रेज यहाँ आये तब वे भी शिक्षा में हस्तक्षेप करना नहीं चाहते थे। सन् १८५४ के वुड के 'डिस्पेच'[3] द्वारा ही अंग्रेजों ने भारतीयों को शिक्षा देने का कुछ

1. Difference between Totalitarian and Democratic state.
2. State and Education, 3. Woods' dispatch.

उत्तरदायित्व स्वीकार किया। आज हमारे सम्मुख जो मुख्य प्रश्न है वह है कि एक राज्य को नागरिकों की शिक्षा में कितना और कैसे भाग लेना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर दोनों प्रकार की राज्य पद्धति में विभिन्न प्रकार से दिया जाता है।

सर्वाधिकार केन्द्रित राज्य तथा शिक्षा[1]

ऐसे राज्य में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राज्य के हित में बलिदान कर दी जाती है। कोई भी स्वतन्त्रता जो व्यक्ति को मिलती है वह आत्मानुभूति[2] के रूप में न होकर व्यक्ति की राज्य के प्रति दासता के रूप में होती है। ऐसे राज्य में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व्यक्तिगत अधिकार के रूप में नहीं माँगी जा सकती। राज्य की भलाई के लिए यदि राज्य चाहे तो वह नागरिकों को दान की जा सकती है। अतएव ऐसे राज्य में ऐसे गुणों पर बल दिया जाता है; जैसे—कठोर अनुशासन, कर्त्तव्य परायणता और आत्म-बलिदान, शासन के प्रति अंधभक्ति ऐसे राज्य के उदाहरण हैं—नाजियों के समय का जर्मनी या फासिस्टों के समय की इटली।

वर्तमान समय में साम्यवादी शिक्षा का दर्शन भी सर्वाधिकार केन्द्रित राज्य के शिक्षा दर्शन की भाँति ही है। यह विचार किया जाता है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व उसी प्रकार का है, जिस प्रकार कि फासिस्ट राज्यों का था। साम्यवादी विचारधारा इस बात में विश्वास रखती है कि नई पीढ़ियों की शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार हो कि वह साम्यवाद के सिद्धान्तों से ही प्रेरणा ग्रहण करे और दूसरे सिद्धान्तों को हेय समझे। इसलिए साम्यवादी देशों में पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें, पाठन-विधि, शिक्षक इत्यादि इस प्रकार से चुने जाते हैं कि वे मार्क्सवादी दृष्टिकोण की ही शिक्षा दे और सभी नागरिकों को इस विचार धारा से परिपूर्ण कर दें।

जनतन्त्र राज्य और शिक्षा[3]

जनतन्त्र राज्य में सत्ता के प्रति वफादार होना और राजाज्ञाओं को मानना इसलिये आवश्यक नहीं होता कि वे राज्य के द्वारा प्रसारित हैं, अपितु यह आज्ञा पालन मानव हित में होता है। मानव हित से उनका कभी भी तात्पर्य नहीं होता कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नष्ट कर दिया जाय। ऐसे राज्य में विद्यालय केवल राज्य द्वारा ही संचालित नहीं होते परन्तु राज्य शैक्षिक क्रिया

1. Totalitarian state and Education, 2. Self-realization.
1. Democratic state and Education.

में दूसरे सांस्कृतिक संस्थाओं को जो अपने समूह की शैक्षिक क्रियाओं का उत्तरदायित्व लेते हैं, सहयोग प्रदान करता है। राज्य शिक्षा में यह नहीं कहता कि यह पढ़ो, वह न पढ़ो, यह पद्धति अपनाओ या ये पुस्तकें पढ़ो परन्तु वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए बहुत स्थान छोड़ देता है।

राज्य को शिक्षा में कहाँ तक भाग लेना चाहिये[1]

दो प्रकार के राज्यों के अनुसार इस विषय पर भी दो मत हैं। एक मत तो यह है कि राज्य को सम्पूर्ण शैक्षिक क्रियाओं को अपने हाथ में ले लेना चाहिए। दूसरा मत यह है कि राज्य को अपने नागरिकों की शिक्षा में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए; जैसे हर्बर्ट स्पेन्सर[2] महोदय ने कहा है कि राष्ट्र-शिक्षा पूर्णरूप से व्यक्तिगत संस्थाओं को सौंप देनी चाहिए। इसी प्रकार रेमन्ट महोदय कहते हैं कि "राज्य का कार्य तो शिक्षा का संरक्षण एवं उसका विकास करना है उसे अपने नियन्त्रण में रख परिवार तथा व्यक्ति का स्थान लेना नहीं है।"[3]

वास्तव में सबसे अच्छी विधि यह है कि राज्य केवल शिक्षा के प्रबन्ध का नियन्त्रण रखे। इसे शिक्षा-शास्त्रियों के लिए बहुत कुछ स्वतन्त्रता छोड़ देनी चाहिए जिससे कि वे अपनी कार्य-प्रणाली बिना किसी हस्तक्षेप के निर्धारित कर सकें। राज्य को यह आवश्यक है कि शिक्षा के लिये तथा समाज के उत्थान के लिये यह देखना चाहिए कि नागरिक अपने कर्त्तव्यों को भली-भाँति निभाते हैं कि नहीं और वे मानसिक विकास की ओर होते हैं अथवा नहीं, तथा राष्ट्र की परम्पराओं के अनुसार नैतिकता रखते है या नहीं।

वह मार्ग जिससे राज्य द्वारा शिक्षा का प्रसार किया जा सकता है[4]

हमने देखा कि राज्य को इन प्रश्नों का उत्तर नहीं देना है कि—"क्या पढ़ाया जाय ? कैसे पढ़ाया जाय ? कौन पढ़ाये ? किसे पढ़ाये ? और क्यों पढ़ाये ? परन्तु वह फिर भी शैक्षिक कार्य में एक महत्वपूर्ण भाग लेता है। जिस प्रकार से राज्य शिक्षा के प्रसार में सहायता प्रदान कर सकता है वे इस प्रकार हैं—

---

1. What role state should play in Education, 2. Herbert Spencer, 3. Raymont : "The function of the state is to protect and promote not to absorb or take the place of the family and the individual. 1. The way in which education can be propagated by the state.

(१) राज्य को यह देखना चाहिए कि हर प्रकार के विद्यालय जो एक स्थान विशेष के लिए आवश्यक हैं उसके अनुकूल स्थापित कर दिए जायें। उदाहरण के लिए यह आवश्यक है कि राज्य प्रारम्भिक, माध्यमिक, प्राविधिक शिक्षा-संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों की वहीं स्थापना करे जहाँ उनकी आवश्यकता हो।

(२) प्रत्येक नागरिक के लिए शिक्षा का आयोजन हो। राज्य के लिए यह भी आवश्यक है कि माध्यमिक स्तर तक निःशुल्क सार्वभौमिक शिक्षा का आयोजन करे।

(३) राज्य को उन सब विद्यालयों पर नियन्त्रण रखना चाहिए जो इसके द्वारा स्थापित किए जायें। शैक्षिक विभागों के लिये राज्य को बहुत योग्य शिक्षा शास्त्रियों को उत्तरदायित्व सौंपना चाहिए।

(४) राज्य को अध्यापकों के प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व लेना चाहिए। उनको अच्छी वेतन मिलना चाहिए और समाज में सम्मान भी प्राप्त होना चाहिए, अन्यथा समाज के प्रतिभाशाली व्यक्ति इस ओर आने का प्रयास ही नहीं करेंगे।

(५) राज्य को यह निर्णय करना चाहिए कि शिक्षा केन्द्रित हो अथवा विकेन्द्रित। इसे सबसे अच्छा रास्ता ढूँढ़ना चाहिए। शिक्षा में कौन-कौनसा कार्य-भार स्थानीय संस्थाओं को दिया जाय, क्या प्रान्तों की सरकारों को, और क्या केन्द्र को, यह राज्य द्वारा ही निश्चित करना चाहिए।

अन्त में हम कह सकते हैं कि राज्य को शिक्षा की प्रणाली में हर प्रकार से सहायता करनी चाहिए ताकि राज्य के नागरिकों को उत्तम शिक्षा मिल सके और वे सामाजिक दायित्वों का भली-भाँति निर्वाह कर योग्य नागरिक बन सकें तथा व्यक्तिगत और समाजगत कल्याण में पर्याप्त योगदान करें।

सारांश

राज्य दो प्रकार के हो सकते हैं—(१) सर्वाधिकार तन्त्र राज्य, तथा (२) जनतन्त्र राज्य।

सर्वाधिकार-तन्त्र राज्य तथा जनतंत्र राज्य में निम्न अन्तर हैं—(१) सर्वाधिकारी धारणा सैद्धान्तिक दृष्टि से आदर्शवादी है जबकि प्रजातन्त्र विचारधारा अनुभवों की वास्तविकता पर निर्भर है, (२) सर्वाधिकारवादी राज्य में शक्ति पर बल दिया जाता है जबकि जनतन्त्र राज्य में न्याय तथा समानता पर

बल दिया जाता है (३) सर्वाधिकार राज्य अपने ही लाभ की ओर देखता है जब कि जनतन्त्र राज्य प्रत्येक नागरिक की भलाई को ध्यान में रखता है। (४) सर्वाधिकार राज्य में सत्ता केवल एक व्यक्ति के हाथ में ही रहती है, तथा (५) जनतन्त्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता रहती है, जब कि सर्वाधिकार राज्य में केवल एक मत होता है।

सर्वाधिकार राज्य में ऐसी शिक्षा का आयोजन होता है जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ओर कोई ध्यान दिये बिना केवल राज्य की भलाई के लिए सब नागरिकों को एक ही साँचे में ढाल दे।

जनतन्त्र राज्य में शिक्षा का ध्येय मानव हित तथा मानव कल्याण होता है।

राज्य किस सीमा तक शिक्षा-संगठन में भाग ले ?—इस सम्बन्ध में दो मत हैं। सर्वाधिकारवादी राज्य में यह उचित समझा जाता है कि राज्य सम्पूर्ण शैक्षिक क्रियाओं को अपने हाथ में ले ले। जनतन्त्र राज्य में राज्य द्वारा नागरिकों की शिक्षा में कोई भी हस्तक्षेप अच्छा नहीं समझा जाता है। सबसे अच्छा यह है कि राज्य केवल शिक्षा के प्रबन्ध पर नियंत्रण रखे। इसे शिक्षा शास्त्रियों के लिए बहुत कुछ स्वतन्त्रता छोड़ देनी चाहिए जिससे कि वे अपनी कार्य-प्रणाली बिना किसी हस्तक्षेप के निर्धारित कर सकें।

राज्य जिस प्रकार से शिक्षा के प्रसार में सहायता प्रदान कर सकता है वे हैं—(१) राज्य हर प्रकार के विद्यालय जिसकी जहाँ आवश्यकता है वहाँ स्थापित करे, (२) प्रत्येक नागरिक के लिए शिक्षा का आयोजन हो, (३) उन विद्यालयों पर नियंत्रण हो जो उसके द्वारा स्थापित किये गये हों, (४) अध्यापकों के प्रशिक्षण का आयोजन करे, तथा (५) यह निश्चित करे कि शिक्षा केन्द्रित हो या विकेन्द्रित।

अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण प्रश्न

१. राज्य को शिक्षा के अविधिक साधन की संज्ञा दी जाती है। किस प्रकार और किस सीमा तक राज्य बालकों को विद्यालय के बाहर शिक्षा प्रदान कर सकता है ? इस प्रकार की शिक्षा में क्या सावधानी बरतनी चाहिए। आप अपना उत्तर भारत तथा अन्य किन्हीं दो देशों का उदाहरण लेकर दीजिये।

२. सर्वाधिकार राज्य में शिक्षा का आयोजन किस प्रकार से होता है ? वर्तमान रूस का उदाहरण देकर समझाइये कि इस प्रकार से शिक्षा का सङ्गठन करने में क्या गुण तथा दोष निहित है ।

३. "जनतन्त्र राज्य में शिक्षा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के ऊपर केन्द्रित होती है ।" इस कथन से आप क्या समझते हैं । किन्हीं दो देशों का उदाहरण लेकर समझाइये कि इस प्रकार से शिक्षा का आयोजन करना भारत के लिए क्यों लाभदायक होगा ?

४. राज्य को किस सीमा तक शिक्षा के कार्यक्रम में हस्तक्षेप करना चाहिए ? अपने विचार प्रगट कीजिये ।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) ब्रूबेचर : मॉडर्न फिलासफीज आफ एडूकेशन
(२) ड्यूवी : डेमोक्रेसी एण्ड एडूकेशन
(३) हेन्डरसन : एन इन्ट्रोडक्शन टु दी फिलासफी आफ एडूकेशन
(४) हुजेस : एडूकेशन एण्ड डेमोक्रेटिक आइडियल

—: o :—

अध्याय १९

धर्म और शिक्षा[1]

धर्म और शिक्षा का सम्बन्ध प्राचीन काल से बहुत घनिष्ट रहा है । समय-समय की धार्मिक विचारधारा ने शैक्षिक विचारधारा को सदैव प्रभावित किया है । परन्तु मध्यकालीन यूरोप में और वर्तमान भारत में देश के राष्ट्रीय जीवन में धर्म ने इतनी विषमता भरदी है कि शिक्षा शास्त्री धर्म को शैक्षिक क्रिया से अलग करना ही अच्छा समझने लगे । आज शिक्षा में धर्म का उतना महत्व नहीं है जितना कि पहिले था ।

धर्म क्या है ?[2]

'धर्म' शब्द की व्याख्या करना सरल नहीं है । इसका अर्थ कई प्रकार से किया जाता है । यह व्यक्तियों की स्वयं की मनोवृत्ति पर निर्भर है कि वह धर्म को किस रूप से ग्रहण करें । कुछ व्यक्ति धर्म को केवल पूजा अर्चना ही के रूप में देखते हैं । वे प्रार्थना करना या प्रातः सन्ध्या की पूजा करना या नमाज पढ़ना या हवन करना इत्यादि ही धर्म का तात्पर्य समझते हैं । कुछ अन्य व्यक्ति धर्म को अत्यन्त व्यापक रूप में देखते हैं। वे धर्म को मानव से उच्च समझते हैं और यह समझते हैं कि धार्मिक अनुभव कुछ विशेष प्रकार का अनुभव होता है जो सिखाया नहीं जा सकता वरन् बालक के जीवन में विशिष्ट रूप में प्रवेश करता

1. Religion and Education, 2. What is religion.

है। ईश्वर को सब मनुष्यों के पिता के रूप में देखा जाता है और उससे साक्षात्कार करना जीवन का सबसे महान् उद्देश्य समझा जाता है, जो प्रत्येक प्राणी के लिए संभव नहीं माना जाता। इस प्रकार के धार्मिक दृष्टिकोण का फल यह होता है कि धर्म की शिक्षा को दूसरे विषयों की शिक्षा के समान नहीं दिया जा सकता। धर्म अनुभव के रूप में समझा जाता है और अनुभव व्यक्तिगत होता है जो स्वयं व्यक्ति को अपनी चेष्टाओं से प्राप्त होता है इसमें शिक्षा कोई विशेष सहायता नहीं प्रदान कर सकती।

धर्म का अर्थ सामाजिक रूप में भी लिया जाता है। व्यक्तियों का ईश्वर के प्रति सम्बन्ध उनके सामाजिक समूह से सम्बन्ध द्वारा व्यक्त समझा जाता है। समाज सेवा को ही धर्म माना जाता है। भारतवर्ष में यह दृष्टिकोण, ईश्वर की कल्पना दरिद्र-नारायण के रूप में करता है। गाँधी भी इसी सेवा धर्म में लगभग विश्वास रखते थे। धर्म को बहुत से शिक्षा शास्त्री नैतिकता के रूप में देखते है। वे धर्म और नैतिकता में गुणों के सम्बन्ध को प्रतिपादित करते हैं। नैतिक मूल्यों तथा सत्यों को वे ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा प्राप्त समझते हैं। वे सत्य, शिव और सुन्दर को संसार में सबसे श्रेष्ठ मानते हैं जो आध्यात्मिक अनुभव पर निर्भर समझे जाते हैं न कि सामाजिक अनुभव पर। परन्तु कुछ शिक्षा शास्त्री इस मत का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि धर्म और नैतिकता एक-दूसरे से विलग हैं और स्वतन्त्र हैं। एक व्यक्ति सच्चा और ईमानदार हो सकता है पर वह धार्मिक बिल्कुल भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार एक मनुष्य धार्मिक तो बहुत हो सकता है सुबह शाम पूजापाठ में बहुत समय व्यतीत कर सकता है परन्तु उसमें नैतिक गुणों की कमी हो सकती है। वह बहुत अधिक स्वार्थी हो सकता है या अपने वाणिज्य-व्यापार में बेईमान हो सकता है। पर इस दृष्टिकोण में दोष यह है कि धर्म को बहुत ही संकीर्ण दृष्टि से देखा जाता है। धर्म को केवल बाहरी आडम्बर के रूप में समझा जाता है।

हम यहाँ इस वाद-विवाद में अधिक न पड़ कर यह समझने की चेष्टा करेंगे कि वास्तव में धर्म से हमारा तात्पर्य क्या है? धर्म से हम मानव जीवन के आध्यात्मिक अनुभव को निश्चित रूप से समझते हैं। धर्म मानव से उच्च एक महान आत्मा की कल्पना करता है जो सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक एवम् सर्वज्ञ है। धर्म द्वारा मानव-आत्मा उसी परम-आत्मा से एकाकार होने की चेष्टा करती है। अतएव हम कह सकते हैं कि धर्म "मानव जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों और मानव व्यक्तित्व का परमात्मा के साथ सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। किल्पेट्रिक महोदय के अनुसार "धर्म एक सांस्कृतिक ढाँचा है जो अलौकिक अथवा असाधारण से सम्बन्ध रखता है, जैसा कि उन विशिष्ट

व्यक्तियों के द्वारा विचार किया जाता है जो इसमें आस्था रखते हैं [1]।" मानव से ईश्वर के सम्बन्ध का साधन धर्म है। यह एक विश्वास है—सत्यता, सुन्दरता, प्रेम और अच्छाई है। इस विश्वास का मूल आधार है—परमात्मा में प्रगाढ़ आस्था। शिक्षा में हम धर्म को संकीर्ण रूप में नहीं देखते परन्तु जैसा ऊपर कहा गया एक व्यापक दृष्टिकोण को अपने समक्ष रखते हैं।

धर्म तथा शिक्षा

धर्म तथा शिक्षा का घनिष्ट सम्बन्ध सदैव से रहा है। प्राचीन भारत की शिक्षा मुख्यतः धर्म पर ही आधारित थी। शिक्षा का ध्येय आध्यात्मिक था और शिक्षा ऋषियों के आश्रम में ही दी जाती थी। इसी प्रकार यूरोप में भी शिक्षा और धर्म एक-दूसरे पर प्रभाव डालते थे। धर्म मानव जीवन के भौतिक और अध्यात्मिक पहलू से सम्बन्धित है। इसी प्रकार शिक्षा भी व्यक्ति के अध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन पर प्रभाव डालती है। शिक्षा द्वारा मानव के व्यवहार में आदर्शों के प्रकाश में परिवर्तन लाया जाता है। नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श शिक्षा को धर्म द्वारा मिलते हैं अतएव हम कह सकते हैं कि दोनों का सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है। यही कारण है कि हम धर्म को शिक्षा से अलग नहीं कर सकते।

भारतवर्ष में धर्म की शिक्षा देना हिन्दू तथा मुस्लिम काल में शिक्षा का एक मुख्य अङ्ग था। यह माना जाता था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का मात्र बौद्धिक विकास नहीं है अपितु शिक्षा द्वारा उसके व्यक्तिगत तथा समाजिक आचरण पर भी नियन्त्रण करना है। यह नियंत्रण नीति शास्त्र तथा धर्म के मूल सिद्धान्तों के आधार पर ही हो सकता है।

जब अंग्रेज भारतवर्ष में आये तो उन्होंने धार्मिक स्वतन्त्रता की नीति को अपनाया। ईसाई पादरियों ने इसका विरोध किया परन्तु सरकार अपने निश्चय पर अटल रही। राजनीतिक दृष्टिकोण से यह बहुत महत्त्वपूर्ण निर्णय था क्योंकि यदि किसी भी धर्म की शिक्षा को सरकार प्रोत्साहित करती तो दूसरे धर्म के अनुयायी सरकार के विरुद्ध हो जाते। परन्तु ब्रिटिश कालीन भारत में ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म की शिक्षा अपने द्वारा स्थापित किये हुए विद्यालयों के द्वारा दी।

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहिले हिन्दू और मुसलमानों के बीच जो साम्प्रदायिक झगड़े हुए, आपस में जो विद्वेष, घृणा, तथा एक-दूसरे के खून की

---

1. Kilpatric says, "Religion is a cultural pattern based on relations with the Super natural or Extra-ordinary, as conceived by particular people involved."

प्यास और इसी प्रकार की हीन भावनाओं का जन्म हुआ तो देश के नेताओं ने धर्म के संकीर्ण विचारों को ही इसका उत्तरदायी बताया। उन्होंने भारत में एक नये जीवन की लहर लानी चाही और देश को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया। भारत के संविधान की धारा १९ में यह बात स्पष्ट करदी गई कि सभी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी धर्म का अनुसरण कर सकते हैं। यहाँ के नागरिकों को इस बात की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी कि वे किसी भी धर्म को मानने तथा उसके अनुसार आचरण करने के लिए स्वतन्त्र हैं।[1] इसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि—"किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा ऐसे विद्यालयों में जो पूर्णतः सरकारी सहायता पर निर्भर हैं, नहीं दी जायगी।[2]"

धर्म के दूषित उपयोग के कारण देश को धर्म-निरपेक्ष राज्य का रूप दिया गया परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि देश में अधार्मिकता को प्रोत्साहन मिलता है। यह इस बात का द्योतक नहीं कि यह राष्ट्र किसी को भी पूज्य या आदर का विषय नहीं मानता" यह इस बात की ओर भी संकेत नहीं करता कि नीच, अस्वस्थ विकास ही इस राष्ट्र की क्रियाओं पर विश्वास रखता है। भारतवर्ष एक शुद्ध वैज्ञानिक भौतिकता में विश्वास नहीं करता है। धर्म निरपेक्षता को यह देश इस रूप में लेता है कि यहाँ का संविधान सब धर्मों को समान स्वतन्त्रता प्रदान करता है। हर एक धर्म को स्वीकार करता है और समानता तथा आदर करता है।

भारतवर्ष में धार्मिक स्वतंत्रता, विचार स्वातन्त्र्य और सत्य के ग्रहण के लिये मानी गई है। विचारों की स्वतंत्रता, धर्म के सम्बन्ध में स्वतंत्र विश्लेषण, तर्क-संगत ज्ञान इत्यादि को इस देश में प्रोत्साहन मिलता है। धर्म-निरपेक्ष भारत इसी रूप में है कि यहाँ कट्टर सिद्धान्तों में विश्वास नहीं किया जाता है और अन्ध विश्वास को बुरा माना जाता है।

धार्मिक शिक्षा की आवश्यता

धर्म मानव जीवन पर बहुत ही प्रभाव डालता है और मानव व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण कार्य करता है अतएव धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता में कोई संदेह नहीं है। परन्तु विद्यालयों में यह शिक्षा दी जाय या नहीं, इस पर

---

1. Article 19, Constitution of India : Subject to public order morality and health and to other provisions of this part,all persons are equally entitled to freedom of conscience and the right freely to profess, practice and propagate religion."

2. "No religious instruction shall be provided in any educational institution wholly maintained out of state funds.

बहुत मतभेद है। रूस एवं अन्य साम्यवादी देशों में तो धर्म को विद्यालयों की शिक्षा से निकाल फेंका गया है। विज्ञान के विकास के साथ पश्चिमी देशों ने भी धर्म का बहिष्कार करना आरम्भ कर दिया था। परन्तु दो विश्व युद्धों ने उनको इस सम्बन्ध में चैतन्य कर दिया है और बहुत से शिक्षा शास्त्री इंग्लैंड और अमरीका में धर्म को विद्यालयों की शिक्षा में एक महत्वपूर्ण विषय मनवाने की चेष्टा में हैं।

भारतवर्ष में भी इस समय धार्मिक शिक्षा को विद्यालयों में स्थान दिये जाने का आन्दोलन चल रहा है। सी० राजगोपालचार्य इस समय इस आन्दोलन के प्रमुख समर्थक हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि भारत के नेताओं ने धार्मिक शिक्षा को कभी भी बुरा नहीं समझा परन्तु वे संकीर्ण धार्मिकता के शत्रु हैं। महात्मा गांधी ने जून १९३८ ई० में प्रश्न किये जाने पर कहा "**हमने वार्धा शिक्षा-प्रणाली में धर्म का परित्याग इसलिए कर दिया है कि हमें डर है कि आजकल जो धार्मिक शिक्षा प्रदान की जाती है तथा जिस प्रकार उसका अनुसरण किया जाता है वह एकता की अपेक्षा संघर्ष को ही उत्पन्न कर सकती है।** परन्तु दूसरी ओर मेरा विचार है कि सत्य **जो सभी धर्मों में समान रूप से निहित है, बालकों को पढ़ाया जाना चाहिए।**"[1]

राधाकृष्णनन आयोग ने धर्म-निरपेक्ष भारत मे धर्म की आवश्यकता पर बल दिया है। परन्तु यह आयोग यह बात स्पष्ट करता है कि राज्य को किसी एक धर्म का पक्ष नहीं लेना चाहिए। हर एक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अज्ञात की ओर अपने रुझान तथा शक्ति के अनुसार बढ़े। उसे गम्भीर रूप से आध्यात्मिक होना चाहिए न कि संकीर्ण रूप से धार्मिक।

आज के युग में भौतिकवाद का बोलबाला है। विज्ञान द्वारा मनुष्य के सुख के साधनों की संख्या में दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है। परन्तु ये साधन मानव को वास्तविक शान्ति प्रदान करने में असफल हैं। आन्तरिक शान्ति के लिए आध्यात्मिकता पर ध्यान देना ही पड़ेगा। अतएव आज के समाज मे धार्मिक शिक्षा की बहुत अधिक आवश्यकता है।

विद्यालयों में किस रूप में धर्म की शिक्षा दी जाय ?

यह स्वीकार करने के पश्चात् कि धर्म की शिक्षा आवश्यक है, हमें अब

1. Mahatma Gandhi says—"We have left out the teaching of religion from the Wardha Scheme of Education because we are afraid that religions as they are taught and practised today lead to conflict rather than unity. But on the other hand, I hold that the truths that are common to all religions can and should be taught to all children."

यह देखना है कि यह शिक्षा विद्यालयों में किस रूप में और किस विधि द्वारा दी जाय। कुछ शिक्षा शास्त्री यह कहते हैं कि विद्यालयों में किसी एक विशेष धर्म की शिक्षा नहीं देनी चाहिए क्योंकि स्कूल में विभिन्न धर्मों के मानने वाले विद्यार्थी होते हैं। इसके अतिरिक्त धर्म अनुभव द्वारा ही समझा जा सकता है न कि किसी दूसरे के सिखाने द्वारा। प्रत्येक व्यक्ति का यह अपना अनुभव है जो उसे धर्म के सम्बन्ध में प्रेरणा प्रदान करता है। किसी एक धर्म की शिक्षा देने में यह भी कठिनाई है कि यह बालकों में दूसरे धर्मों के प्रति द्वेष की भावना को प्रोत्साहन देगी। इस कठिनाई को दूर करने के लिये यह कहा जाता है कि विद्यालयों में किसी एक धर्म विशेष की शिक्षा न देकर सब धर्मों के महान् विचारों के सम्बन्ध में शिक्षा दी जाय और हर धर्म के महान् प्रवर्तकों के जीवन चरित्र से बालकों को अवगत कराया जाय। भारतवर्ष में अनेकों शिक्षा शास्त्री इस दृष्टिकोण के समर्थक हो रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह एक अच्छा सिद्धान्त है। परन्तु इस मत पर भी बहुत विवाद है। यह कहा जाता है कि हर धर्म के सम्बन्ध में शिक्षा देने से बालक कुछ न कुछ सब धर्मों के सम्बन्ध में जान जायेगा परन्तु किसी भी एक धर्म के सम्बन्ध मे उसका ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। वह इस प्रकार किसी भी धर्म के सिद्धान्तों और मुख्य प्रवचनों को अच्छी तरह नहीं समझ पायगा। फल यह होगा कि वह अपने धर्म के सम्बन्ध में भी टूटे-फूटे विचार रखेगा जिससे न उसे और न समाज को कोई लाभ पहुँचेगा वरन हानि की ही अधिक संभावना है। इस मतभेद में क्या सही मार्ग है इसको निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। फिर भी इस समय देश की स्थिति को देखते हुए हम सब धर्मों के सिद्धान्तों पर आधारित धार्मिक शिक्षा पर ही बल देना अच्छा समझते हैं।

अब प्रश्न यह है कि धार्मिक शिक्षा किस प्रकार दी जाय इसके लिए विद्यालय में अलग से कोई समय निश्चित करना व्यर्थ होगा क्योंकि बालक यह समझने लगते हैं कि धर्म केवल एक ही घंटे का विषय है और बाकी शेष समय वे स्वच्छन्दता पूर्वक व्यतीत कर सकते हैं। अच्छा तो यह है कि सम्पूर्ण विद्यालय का वातावरण ऐसा हो कि बालक उसमें रह कर ही धार्मिक शिक्षा ग्रहण करें। अध्यापक, प्रधान अध्यापक यहाँ तक कि विद्यालय के सभी कर्मचारी आदर्श आचरण अपनायें जो उनके उच्च नैतिक चरित्र का द्योतक हो। बालक इस आचरण को देखकर अनुकरण की रीति से बहुत कुछ सीख सकते हैं। विद्यालयों में धर्म पर भाषण इत्यादि देने का भी आयोजन होना चाहिए परन्तु इन भाषणों में व्यक्त किए हुए नियमों, मूल्यों तथा आदर्शों को व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करना वास्तविक धार्मिक शिक्षा के लिए नितान्त

आवश्यक है अन्यथा धार्मिक शिक्षा केवल प्रदर्शन मात्र ही बनकर रह जाएगी।

विद्यालय का कार्य प्रार्थना से आरम्भ होना चाहिए। यह प्रार्थना जैसा कि विश्वविद्यालय आयोग रिपोर्ट कहती है, मौन रूप से भी हो सकती है बल्कि मौन रूप से प्रार्थना अधिक अच्छी है। मौन रह कर हम अपने इष्टदेव की ओर कुछ देर ध्यान दे सकते हैं और कुछ काल के लिए संसारिक झंझटों से ऊपर उठने की प्रयास कर सकते हैं।

धार्मिक शिक्षा बालकों को महान् पुरुषों की जीवन गाथा सुनाकर या उनके जीवन चरित्र पर पढ़ने को पुस्तकें देकर भी दी जा सकती है। बालक जीवन चरित्र पढ़ने से या सुनने से प्रेरणा लेता है और अपने चरित्र में परिवर्तन लाने की तथा तदनुरूप बनने की चेष्टा करता है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि सब धर्मों के प्रवर्तकों की जीवन कहानी बालकों में धर्म के प्रति श्रद्धा भाव जगायेगी अतः इसमें भेदभाव करना उचित नहीं।

अन्त में हम कह सकते हैं कि धार्मिक शिक्षा व्यवहार पर अवलम्बित होनी चाहिए। हमें यह शिक्षा प्रदान करते समय धर्म के व्यापक अर्थ को अपने ध्यान में रखना चाहिए न कि संकीर्ण अर्थ को। बालकों में सब धर्मों के प्रति आदर का भाव जाग्रत करना चाहिए और संकीर्ण विचारों को दूर करना चाहिए।

धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा समिति के सुझाव[1]

अगस्त सन् १९५९ में भारतीय सरकार ने धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा का आयोजन देश की शैक्षिक संस्थाओं में किस प्रकार हो इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ निकालने के लिए एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी ने अपने जनवरी १९६० के प्रतिवेदन में अपना मत प्रगट किया। उसने इस बात पर बल दिया कि नैतिक तथा धार्मिक मूल्यों की शिक्षा देने का आयोजन हमारे विद्यालयों में आवश्यक रूप से होना चाहिए।

धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा समिति के सदस्य थे-(१) श्री श्रीप्रकाश, बम्बई के राज्यपाल, (अध्यक्ष); श्री जी० सी० चटर्जी, भूतपूर्व उपकुलपति जम्बू तथा काश्मीर विश्वविद्यालय और श्री पी० एन० क्रिपाल, शिक्षा-विभाग भारत सरकार (मंत्री)।

इस समिति ने अपना यह मत प्रकट किया कि वर्तमान भारतीय समाज के अधिकतर दोषों का मूल कारण यह है कि यहाँ के निवासियों के जीवन पर धर्म का प्रभाव धीमे-धीमे कम होता जाता है। आजकल समाज में धर्म पर न

1. Recommendations of the committee on Religious and Moral Instruction.

तो इतना विश्वास किया जाता है जितना की पहिले किया जाता था और न ही धर्म को जीवन का आधार माना जाता है।

समिति का कहना है कि भारतवर्ष में वे धार्मिक बन्धन जो पहिले भारतीय जीवन को एकता के सूत्र मे बाँधे रहते थे ढीले पड़ते जा रहे है और जो नये-नये विचार हमारे समक्ष आरहे है जिन्हें हम बाह्य दृष्टि से तो ग्रहण कर रहे हैं पर आन्तरिक रूप से उनका अर्थ समझने की चेष्टा नहीं कर रहे हैं वे स्थिति को और अधिक गम्भीर बना रहे है। इस स्थिति में सुधार लाने के लिए समिति का विचार है कि हमें इस बात की चेष्टा करनी चाहिए कि हमारे बालक अपने जीवन के आरम्भ के वर्षों से ही अध्यात्मिक तथा नैतिक गुणो का आदर करना सीखे। यदि ऐसा नहीं होगा तो हमारा राष्ट्र एक प्राणहीन राष्ट्र हो जायगा।

समिति के सुझाव निम्नलिखित हैं :—

(१) किसी भी शैक्षिक कार्यक्रम में घर के महत्व पर उचित ध्यान देना आवश्यक है। घर के सम्बन्ध मे सुझाव यह है कि जन-शिक्षा द्वारा घर की उचित व्यवस्था की चेष्टा की जाय। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वहाँ के वातावरण में जो दोष हैं उनकी ओर मनुष्यों का ध्यान आकर्षित किया जाय और उनको दूर करने की शिक्षा दी जाय।

(२) राधाकृष्णनन आयोग का यह सुझाव बहुत उचित है कि प्रतिदिन सब शैक्षिक संस्थाओं का कार्यक्रम कुछ मिनटों की शान्त प्रार्थना से आरम्भ हो, जो चाहे कक्षाओं में हो चाहे हाल में।

(३) प्राथमिक कक्षाओं से विश्वविद्यालयों तक के लिए उचित पुस्तकें लिखी जायँ जो संक्षेप में तुलनात्मक तथा सहानुभूति पूर्ण रूप से प्रत्येक धर्म के मूल सिद्धान्तों तथा प्रत्येक धर्म के प्रमुख प्रवर्तकों की जीवन गाथा का वर्णन करें।

(४) अच्छे आचरण के शिक्षण पर विशेष बल दिया जाना चाहिए और आदर और शिष्टाचार के गुणों को प्रोत्साहित करना चाहिए जिनकी कि हमारे समाज को बहुत आवश्यकता है। भारतवर्ष में मौलवियों द्वारा जो आचरण परम्परागत सिखाया जाता था उसको प्रोत्साहित करना चाहिए।

(५) किसी न किसी रूप में शारीरिक शिक्षा हर स्तर पर अनिवार्य होनी चाहिए।

इस समिति ने यह भी सुझाव प्रस्तुत किया कि नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा का आयोजन शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर किस प्रकार होना चाहिए :—

प्राथमिक स्तर पर धार्मिक शिक्षा :—जो सुझाव धार्मिक शिक्षा के लिए प्राथमिक स्तर के लिए दिए गए हैं वे हैं—

(१) विद्यालय में सामूहिक-गान का आयोजन।

(२) धार्मिक नेताओं तथा प्रवर्तकों के सम्बन्ध में सरल तथा रोचक कहानियाँ।

(३) ललितकलाओं की श्रव्य-दृष्य प्रदर्शनी जो मुख्य धर्मों से सम्बन्धित हों।

(४) सेवा की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन।

(५) शारीरिक शिक्षा का कार्यक्रम इत्यादि।

सप्ताह में दो घण्टों को नैतिक शिक्षा के लिए अलग कर देना चाहिए।[1]

माध्यमिक स्तर पर धार्मिक शिक्षा :—माध्यमिक स्तर पर धार्मिक शिक्षा किस प्रकार दी जाय, उसके सम्बन्ध में सुझाव इस प्रकार हैं—

(१) प्रातःकाल प्रार्थना सभा।

(२) संसार के मुख्य धर्मों के महत्वपूर्ण सिद्धान्त।

(३) कक्षा के बाद तथा छुट्टियों में संगठित समाज सेवा जो सहगामी क्रियाओं का एक भाग हो।

इस समिति ने यह भी सुझाव दिया कि अच्छे चरित्र तथा आचरण को विद्यार्थी के स्कूल के कार्य का मूल्याङ्कन करने मे आवश्यक रूप से सम्मिलित करना चाहिए[2]।

---

1. At the elementary stage, the members suggest among other things (i) group singing at school assembly, (ii) simple and interesting stories about the lives and teaching of prophets and saints, (iii) audio-visual exhibitions on art and architecture connected with main religions, (iv) propogation of the attitude of service, and (v) schemes of physical education. Two periods a week should be set aside for moral instruction it is recommended.

2. At the secondary stage, the suggestions include morning assembly, essential teachings of great world religions, organized social service during holidays and outside class hours, forming part of extra curricular activities.

It has also been recommended that qualities of character and behaviour of students should form an essential part of the over all assessment of the students' performances at school.

विश्वविद्यालय स्तर पर धार्मिक शिक्षा:—विश्वविद्यालय स्तर पर धार्मिक शिक्षा के रूप के सम्बन्ध में समिति के सुझाव हैं :—(१) विभिन्न धर्मों का सामान्य रूप से अध्ययन जो डिग्री कक्षाओं में सामान्य शिक्षण का एक आवश्यक अंग हो।

(२) धर्म तथा धार्मिक शिक्षा का शिक्षण डिग्री कक्षाओं के प्रथम दो वर्षों में होना चाहिए।

(३) स्नातकोत्तरीय स्तर पर विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन।[1]

भारतीय संविधान तथा समिति के सुझाव :—समिति का मत है कि इसके द्वारा दिये गये सुझाव संविधान की किसी भी धारा के विरुद्ध नहीं हैं। संविधान की धारा २८ और ३० जो धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में हैं, ये सुझाव उन धाराओं में निहित सिद्धान्तो का उल्लंघन नहीं करते है।

इन धाराओं के अनुसार किसी भी विद्यालय में जो सरकार द्वारा पूर्ण रूप से संचालित है किसी भी धर्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती। किन्तु राज्य सरकारें उन विद्यालयों को सहायता देती रहेंगीं जहाँ धार्मिक शिक्षा इस प्रकार से दी जाती है कि किसी भी विद्यार्थी को अनिवार्य रूप से धार्मिक शिक्षा की कक्षाओं में जाकर नहीं पढ़ना पड़ता। यह सुझाव इन किसी भी धाराओं के विरुद्ध नहीं हैं। हर प्रकार के विद्यालयों में चाहे वह सरकार द्वारा संचालित हो चाहे निजी ट्रस्ट द्वारा, धार्मिक शिक्षा इन्हीं सुझावों के अनुसार होनी चाहिए। यदि किसी भी विद्यालय में किसी विशेष धर्म की शिक्षा दी जाती है तो वह इन सुझावों के अतिरिक्त ही होगी।

समिति का कहना है कि इस समय विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता बहुत बढ़ गई है। इसका एक कारण तो यही है कि विद्यार्थी और अध्यापक का सम्पर्क बहुत कम होगया। इस समय इस बात की बहुत आवश्यकता है कि युवकों में मूल्यों के समझने का विकास हो और उनके चरित्र का निर्माण उचित ढङ्ग से हो। इसके लिए धार्मिक शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। परिवार या दूसरे अविधिक साधन इस प्रकार की शिक्षा नहीं प्रदान कर सकते हैं।

---

1. At the university stage, the committee has recommended a general study of different religions as an essential part of the general education course in degree classes.

The committee suggests the introduction of teaching of religion and scriptures in the first and second years of degree courses.

The institution of a post-graduate course in comparative religion is also emphasised.

इसके लिए विद्यालय की सहायता चाहिए। परन्तु विद्यालय यह कार्य भारतीय संविधान की धाराओं के अनुसार केवल कुछ सीमाओं के अन्दर ही कर सकता है।

अध्यापकों का कर्त्तव्य—धार्मिक शिक्षा को उचित ढङ्ग से प्रदान करने में अध्यापक का कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। इस कारण यह आवश्यक है कि अच्छे चरित्र वाले गुणवान अध्यापक चुने जायें। इनकी अच्छी आय हो और समाज में इनका स्तर उच्च हो।

धार्मिक सद्भावना—समिति का विचार है कि धार्मिक सद्भावना को प्रोत्साहित करने के लिए उस प्रकार की विचारधारा अपनायी जानी चाहिए जैसी डा० भगवानदास की पुस्तक "दि एशेन्सियल्स आव दि रिलिजन्स"[1] तथा मौलाना आजाद की पुस्तक "कमेन्टरी ऑन कुरान[2]" में अपनायी गयी है। देश प्रेम[3] समिति आध्यात्मिक मूल्यों में देश-प्रेम को भी महत्व देती है। इस समय जब कि देश में ऐसे तत्व जोर पकड़ रहे हैं जो देश को छिन्न-भिन्न कर दें, देश-प्रेम की शिक्षा की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

अन्त में कमेटी इस बात पर सन्तोष प्रकट करती है कि अब शिक्षा शास्त्री शारीरिक शिक्षा तथा सहगामी क्रियाओं पर अधिक बल देने लगे हैं। इसका विचार है कि यदि इनकी ओर ठीक से ध्यान दिया जाय तो इनके द्वारा नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा उचित ढंग से दी जा सकती है।

सारांश

धर्म क्या है? इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। कुछ व्यक्ति धर्म को केवल पूजा अर्चना ही के रूप में देखते हैं। कुछ धार्मिक अनुभव को विशेष प्रकार का अनुभव समझते हैं जो सिखाया नहीं जा सकता। धर्म का अर्थ सामाजिक रूप में भी लिया जाता है। बहुत से शिक्षा-शास्त्री धर्म को नैतिकता के रूप में देखते हैं। हम कह सकते हैं कि धर्म मानव जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों और मानव व्यक्तित्व का परमात्मा के साथ सम्बन्ध की ओर संकेत करता है

धर्म तथा शिक्षा का घनिष्ट सम्बन्ध सदैव रहा है। शिक्षा द्वारा मानव के

---

1. Dr. Bhagwan Das : The Essential unity of the Religions. 2. Maulana Abud Kalam Azad : "Commentry on the Quoran." 3. Patriotism.

व्यवहार में आदर्शों के प्रकाश में परिवर्तन लाया जाता है। नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्श शिक्षा को धर्म द्वारा मिलते हैं।

प्राचीन भारत में शिक्षा देने में धर्म पर बल दिया जाता था परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् इस देश को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया। किन्तु इस देश में धर्म निरपेक्षता इस रूप में समझी जाती है कि इस देश का संविधान सब धर्मों को समान स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता में कोई सन्देह नहीं है किन्तु विद्यालयों में यह शिक्षा दी जाय या नहीं इस पर बहुत मतभेद है। भारत में इस समय बहुत से शिक्षा शास्त्री धर्म की शिक्षा को आवश्यक समझते हैं। महात्मा गान्धी भी इस शिक्षा के विरुद्ध नहीं थे। राधाकृष्णनन आयोग धार्मिक शिक्षा का विद्यालयों में देना उचित समझता है।

विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा किस रूप में दी जाय इस सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक है। शिक्षा शास्त्रियों का मत है कि विद्यालयों में किसी एक धर्म विशेष की शिक्षा न देकर सब धर्मों के महान विचारों के सम्बंध में शिक्षा दी जाय और हर धर्म के महान्-प्रवर्तकों के जीवन-चरित्र से बालकों को अवगत कराया जाय। धार्मिक शिक्षा देने में यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी एक घंटे विशेष में यह शिक्षा न देकर सम्पूर्ण विद्यालय का वातावरण ऐसा बना दिया जाय कि बालक केवल उसमें रह कर धार्मिक शिक्षा ग्रहण कर सके। धार्मिक शिक्षा व्यवहार पर अवलम्बित होनी चाहिए।

धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा-समिति के सुझाव—भारतीय सरकार द्वारा नियुक्त धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा समिति ने विद्यालयों में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा देने पर बल दिया। इस समिति द्वारा दिये गये सुझाव हैं—(१) घर के वातावरण तथा व्यवस्था के दोषों को जन-शिक्षा के द्वारा दूर करने की चेष्टा की जाय, (२) प्रत्येक शैक्षिक संस्था का कार्यक्रम शान्त प्रार्थना से आरम्भ हो (३) पुस्तकें जो प्रत्येक धर्म के मूल सिद्धान्त तथा प्रत्येक धर्म के प्रमुख प्रवर्तकों की जीवन गाथा का वर्णन करें, प्रत्येक शिक्षा के स्तर के लिए लिखी जायें, (४) अच्छे आचरण के शिक्षण पर विशेष बल दिया जाय, (५) शारीरिक शिक्षा किसी न किसी रूप में अनिवार्य रूप से दी जाय।

प्राथमिक स्तर पर धार्मिक शिक्षा—(१) सामूहिक रूप में (२) धार्मिक अवतारों तथा प्रवर्तकों सम्बन्धी कहानियाँ द्वारा (३) धर्म सम्बन्धी श्रव्य-दृष्य प्रदर्शनी द्वारा (४) सेवा की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन द्वारा (५) शारीरिक शिक्षा के आयोजन द्वारा दी जाय।

माध्यमिक स्तर पर धार्मिक शिक्षा—(१) प्रातःकाल प्रार्थना द्वारा, (२) मुख्य धर्मों के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों के शिक्षण द्वारा, (३) समाज सेवा द्वारा दी जाय। विद्यार्थी के मूल्याङ्कन में चरित्र तथा आचरण पर बल दिया जाय।

विश्वविद्यालय स्तर पर धार्मिक शिक्षा—विभिन्न धर्मों का सामान्य रूप से अध्ययन करके तथा स्नातकोत्तरीय स्तर पर विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करके दी जाय।

समिति के अनुसार ये सुझाव भारत के संविधान की किसी भी धारा का उल्लंघन नहीं करते हैं। अतएव प्रत्येक विद्यालय में इन सुझावों के अनुसार ही धार्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. किस सीमा तक और किस प्रकार धर्म, शिक्षा के एक साधन के रूप में एक निरपेक्ष राज्य में विद्यालय की सहायता कर सकता है? आप भारत के विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा का आयोजन करने में क्या सावधानियाँ बरतेंगे।

२. धर्म से आप क्या समझते हैं? धर्म तथा शिक्षा का आपस में क्या सम्बन्ध है।

३. "हमारे देश में युवकों में अनुशासनहीनता धार्मिक शिक्षा के अभाव के कारण है" इस सम्बन्ध में आपका क्या मत है?

४. धर्म निरपेक्ष राज्य में धार्मिक शिक्षा की रूपरेखा क्या होनी चाहिए? अपने उत्तर की पुष्टि के लिए विभिन्न शिक्षा शास्त्रियों के मत का वर्णन कीजिये।

५. यदि धार्मिक शिक्षा हमारे विद्यालयों में दी जाने लगेगी तो यह संविधान की धाराओं का उल्लंघन होगा। इस सम्बन्ध में आपका क्या मत है कारण सहित प्रगट कीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) बेट्स, जी० एस० : टीचिंग रिलिजन टुडे
(२) चेपमान एवं काउन्ट्स : प्रिन्सीपुल्स आफ एडूकेशन
(३) ऐलवुड : दि रिकन्सट्रकशन आफ रिलीजन
(४) किरकपेट्रिक : रिलिजन इन ह्यूमन अफेअर्स
(५) मेकनोन : केरेक्टर एडूकेशन
(६) रिपोर्ट आफ यूनीवर्सिटी एडूकेशन कमीशन
(७) रिपोर्ट आफ दी सेकन्डरी एडूकेशन कमीशन
(८) हिन्दुस्तान टाइम्स, जनवरी २८, १९६०

—: o :—

अध्याय २०

राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा[1]

वर्तमान काल में राष्ट्रीयता को उसी उत्साह के साथ नहीं देखा जाता जितना कि कुछ दशक पहिले इसे पुनीत माना जाता था। दो विश्व युद्धों ने संसार में त्राहि-त्राहि मचा दी थी और यही कारण है कि अब राष्ट्रीयता को सैद्धान्तिक रूप में बहुत अधिक महत्व नहीं किया जाता।

राष्ट्रीयता शिक्षा में भी पाठ्यक्रम निर्माण तथा शिक्षा व्यवस्था के क्षेत्र में समस्याएँ उत्पन्न करती है। यह निर्णय करना आवश्यक प्रतीत होता है कि सरकार को राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाने वाली शिक्षा को प्रोत्साहित करना चाहिए या नहीं। इसके अतिरिक्त इस समस्या का भी हल निकालना है कि सरकार को शिक्षा के सब रूपों का निरीक्षण करना चाहिए या केवल राष्ट्र कल्याण वाली शिक्षा प्रक्रियाओं को ही।

देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता में अन्तर

साधारणतः राष्ट्र-कल्याण की दृष्टि से राष्ट्रीयता देशप्रेम से कहीं अधिक देश-भक्ति की मात्रा अभिव्यंजित करती है।[2]

---

1. Education for nationalism and internationalism.

2. T. S. Brubacher, History of the Problems of Education, N. Y., McGraw Hill, 1947, p. 520, "Nationalism ordinarily indicates a wider scope of *loyalty* than *patriotism*.

सामान्य रूप से राष्ट्रीयता शब्द का अर्थ देशभक्ति से अधिक विस्तृत रूप में ग्रहण किया जाता है। देशभक्ति की सीमा है उस देश से प्रेम, जो उसके पिता का है या जहाँ वह स्वयं उत्पन्न हुआ है। परन्तु राष्ट्रीयता में जाति, भाषा, परम्पराएँ तथा संस्कृति सभी से प्रेम निहित रहता है।

स्वदेश प्रेम सम्बन्धी शिक्षा का इतिहास

प्राचीन यूनानी तथा रोमन शिक्षा अपने दृष्टिकोण में देश-प्रेम की भावना से युक्त थी। यहूदी बाइबिल के समय में देश-प्रेम को ही अपने युवकों को सिखाने में विश्वास रखते थे। पुनरुत्थान काल में भी देश प्रेम की शिक्षा पर ही बल दिया जाता था। अठारवीं शताब्दी में यूरोप के उच्च वर्ग में राष्ट्रीय शिक्षा को कम महत्व देने की भावना जाग्रत हुई और सभी राष्ट्रों की भलाई के लिए शिक्षा को महत्व देना आरम्भ हो गया। परन्तु सन् १८७९ ई० की फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने फिर से देश-प्रेम की शिक्षा मे आस्था बढ़ा दी। अमेरिका में राष्ट्रीयता की यह भावना १९ वीं शताब्दी में विकसित हुई। शिक्षा राष्ट्रीय एकता का बन्धन समझा जाने लगा। प्राचीन भारत में शिक्षा कुछ ही अंशों में राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करती थी। उस समय अधिक बल नैतिक गुणों के विकास पर दिया जाता था। व्यक्ति के मन मे यह धारणा नहीं बैठाई जाती थी कि—"मेरा देश सबसे अच्छा है और वह उचित करे या अनुचित सभी राष्ट्र हितार्थ ठीक हैं।"[1] ब्रिटिश काल में देश की शिक्षा राष्ट्रीयता से कोसों दूर थी परन्तु देशवासियों में अन्दर ही अन्दर देशप्रेम की एक लहर बह रही थी। स्वतंत्रता के पश्चात् राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा को महत्व दिया जाने लगा परन्तु यह नहीं समझा जाता है कि शिक्षा द्वारा संकीर्ण देशप्रेम की भावना को प्रोत्साहित किया जाय। परन्तु देशप्रेम ऐसा हो जो अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध न करे वरन् उसमे साधक हो।

राष्ट्रीयता का अर्थ[2]

राष्ट्रीयता देश के निवासियों को एकता के सूत्र में बाँधने वाली शक्ति है। **यह वह शक्ति है जो मनुष्यों को अपने व्यक्तिगत हितों को छोड़कर राष्ट्र कल्याण की भावना से प्रेरित करती है** एक देश के निवासी जब राष्ट्रीयता की भावना से भर जाते हैं तो वे देश के हित के लिए अपने व्यक्तिगत हितो का परित्याग कर देते है। राष्ट्र, देश के नागरिकों को अपने नियंत्रण में करता है और एक सबल अस्तित्व ग्रहण कर लेता है। जब समाज आपसी भेदभाव

---

1. My country right or wrong.
2. Meaning of Nationalism.

को मिटाकर एक निश्चित भौगोलिक सीमा के भीतर मनुष्यों में यह भावना जाग्रत कर देता है कि व्यक्तियों का व्यक्तिगत हित राष्ट्र हित से गौण है, राष्ट्र के हित में ही सभी व्यक्तियों का हित है तब यह भावना राष्ट्रीयता कही जाती है।

राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा

शिक्षा राष्ट्रीयता की शक्ति को बढ़ाने में अत्यन्त सहायता प्रदान करती है। शिक्षा का एक महत्वपूर्ण ध्येय व्यक्तियों का समाजीकरण करना और उन्हें एकता के सूत्र में बाँधना है। यही राष्ट्रीयता का ध्येय होता है। अतएव यदि शिक्षा उचित ढग से दी जाय तो वह देश के नागरिकों को राष्ट्रीयता की भावना से भरने में सबसे अधिक शक्तिशाली साधन सिद्ध होता है। प्रत्येक राष्ट्र यही चेष्टा करता है कि वह ऐसी शिक्षा प्रणाली को प्रोत्साहित करे जो राष्ट्र के नागरिकों में अनुशासन, देश के नियम पालन, कर्त्तव्य परायणता की भावना को प्रोत्साहित करे। क्योंकि राष्ट्रीयता की भावना उसी समय नागरिकों में उद्भूत होगी है जब सारा शैक्षिक वातावरण राष्ट्रीय भावना से मंडित हो। इसी कारण राष्ट्र यह प्रयास करते हैं कि शिक्षा के हर पहलू पर राष्ट्रीयता की छाप लगादी जाय। मुख्यत: ऐसे राज्य शिक्षा पर पूर्ण नियंत्रण रखने की चेष्टा करते हैं जो नागरिकों के व्यक्तित्व को प्रधानता न देकर राष्ट्र सेवा ही उनका परम धर्म समझते हैं। वे नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कोई महत्व नहीं देते। वे राष्ट्र सेवा को नागरिकों का सबसे महान् कर्त्तव्य मानते हैं। ऐसे देशों में दूसरे विश्व-युद्ध से पहिले के देश थे—जर्मनी, इटली, जापान और अब भी रूस, चीन इत्यादि देशों में राष्ट्रीयता ही सबसे महान् वस्तु समझी जाती है।

राष्ट्रीयता की शिक्षा से वास्तव में तात्पर्य है ऐसी शिक्षा से जो राष्ट्र के नागरिकों में एकता बढ़ाये और उन्हें समाज सेवा की प्रेरणा दे। ऐसी शिक्षा राष्ट्र निर्माण तथा राष्ट्र उत्थान की भावना का उद्रेक करती है। राष्ट्रीय एकता उसी समय संभव है जब राष्ट्र के अन्तर्गत विभिन्न जाति, वर्ग, समाज, छोटे राज्य या प्रान्त राष्ट्र के प्रति प्रेम भावना रखें और अपने आपसी द्वेषों का परित्याग कर दें इस प्रकार की भावना को जाग्रत करना शिक्षा का ही कर्त्तव्य है। शिक्षा ही राष्ट्र की विभिन्न इकाइयों के बीच में एकता को दृढ़ करने का साधन हो सकती है।

राष्ट्र उत्थान के लिए भी शिक्षा ही सबसे महत्वपूर्ण साधन है। राष्ट्र उत्थान सामाजिक तथा आर्थिक दशा, एक भाषा, इत्यादि पर निर्भर है। यदि राष्ट्र की सामाजिक दशा खराब है तो राष्ट्र की उन्नति संभव नहीं। सामाजिक

कुरीतियाँ, अन्धविश्वास, दोषपूर्ण रीति-रिवाज इत्यादि राष्ट्र को पतन की ओर ढकेल देते है। जैसे कि हमारे भारतवर्ष में जाति-पाँति के भेद ने, स्त्रियों को समाज में निम्नस्थान ने, अन्ध विश्वास ने, तथा दहेज प्रथा इत्यादि जैसे रीति-रिवाज ने राष्ट्र को पतन के गहन अन्धकार में ढकेल दिया था। इन सामाजिक दोषों को दूर करने और राष्ट्र के वातावरण को शुद्ध करके राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए शिक्षा ही सबसे अग्रिम एवं महत्वपूर्ण भाग ले सकती है। शिक्षा सामाजिक कुरीतियों इत्यादि की ओर नागरिकों का ध्यान आकर्षित कर उनके बुरे प्रभावों को प्रकाश में लाती है और ऐसा भावात्मक तथा बौद्धिक वातारण बनाने की चेष्टा करती है जो समाज को निर्मलता तथा स्वच्छता की ओर ले जाता है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय शिक्षा का यही ध्येय है और शिक्षा शास्त्री इसे ही शिक्षा का सबसे महान् कार्य की संज्ञा देते हैं।

शिक्षा राष्ट्रीय उत्थान में उस समय भी सहायता प्रदान करती है जब वह देश की आर्थिक स्थिति की उन्नति में योग प्रदान करती है। व्यावसायिक शिक्षा द्वारा राष्ट्र के नागरिकों को जीविका उपार्जन के लिये समर्थ बनाया जाता है और इस प्रकार उनकी आर्थिक दशा में संभव सुधार लाये जाते हैं। हमारे देश में राष्ट्र-भावना की कमी का कारण देश की गरीबी भी है। परंतु स्वतंत्रता के पश्चात् देश की सरकार राष्ट्र की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए बहुत ही सावित कदम उठा रही है। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा देश का आर्थिक भविष्य उज्ज्वल बनाने की चेष्टा की जारही है।

आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति के साथ देश में राष्ट्रीयता की भावना का विकास एक राष्ट्रभाषा द्वारा ही हो सकता है। एक राष्ट्रभाषा ही राष्ट्र के नागरिकों को एकता के सूत्र मे बाँधने में समर्थ होती हैं। राष्ट्रभाषा मे ही देश की संस्कृति निहित रहती है। इसी के द्वारा राष्ट्र के सदस्यों को राष्ट्र की महानता का ज्ञान होता है। अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि एक राष्ट्र में एक राष्ट्रभाषा की शिक्षा दी जाय। भारतवर्ष में देश के विस्तृत होने के कारण भाषा विविधता बहुत अधिक है। कहीं तेलुगु बोली जाती है तो कहीं कन्नड़, कहीं ब्रज भाषा तो कहीं खड़ी वोली, कहीं बंगाली तो कहीं पंजाबी। इसलिए इस देश के नागरिकों में एकता की भावना लाने के लिए एक राष्ट्रभाषा जो हमारे संविधान द्वारा हिन्दी मानली गई है, की शिक्षा समस्त देश के नागरिकों को अनिवार्य रूप से देनी चाहिए।

धर्म की शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय भावना का विकास होता है या नहीं ? इस पर बहुत मतभेद है। परन्तु इतना सत्य है कि उन देशों में जहाँ सम्पूर्ण राष्ट्र का

धर्म एक ही है, अधिक एकता पाई जाती है। वर्तमान काल में धर्म को शिक्षा की सीमा से हटाया जा रहा है जिसका कारण विभिन्न धर्मावलम्बियों का एक ही राष्ट्र में होना है। राष्ट्र किस धर्म की शिक्षा पर बल दे और किस धर्म की शिक्षा को प्रोत्साहित न करे, निर्णय करना कठिन है। अतएव राष्ट्र किसी भी धर्म विशेष की शिक्षा को अपने विद्यालयों में प्रदान करना उचित नहीं समझता परन्तु यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है। राष्ट्र के सदस्यों के नैतिक चरित्र का उत्थान जो राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक है, धार्मिक शिक्षा द्वारा ही संभव है। परन्तु धार्मिक शिक्षा किसी एक विशेष धर्म की न होकर प्रमुख धर्मों के उच्च सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए। राष्ट्रीयता की शिक्षा देने में यह आवश्यक है कि व्यक्तियों में से स्वार्थ की भावना को दूर किया जाय और उन्हें राष्ट्र की भलाई की ओर देखने को शिक्षित किया जाय। क्योंकि व्यक्तियों में अपने व्यक्तिगत लाभ को ही देखने की प्रवृत्ति प्रबल होती है अतः यह आवश्यक है कि नागरिको में देश के नियमों के प्रति आदर भाव जाग्रत किया जाय। ये नियम सरकार द्वारा बनाये हुए होते हैं और व्यक्तियों को यह बताते हैं कि उन्हें राष्ट्र एवं व्यक्ति के हित में क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। परंतु राज्य के नियमों और सरकार की सत्ता को मनवाने की विधि देश की सरकार के प्रकार पर निर्भर है। एक जनतंत्र राज्य में देश के नियमों के प्रति नागरिकों की आधीनता देश की सरकार की शक्ति पर निर्भर नहीं होती परन्तु नागरिक स्वयं बौद्धिक दृष्टिकोण अपना कर राज्य को सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु राजतन्त्र अथवा एकतन्त्र राज्य में देश के नागरिकों के मत का कोई मूल्य नहीं होता। राज्य अपनी शक्ति द्वारा नागरिकों को नियम पालन के लिए बाध्य करता है।

राष्ट्रवादी शिक्षा में दोष

राष्ट्रवादी शिक्षा जो अन्ध राष्ट्रवाद को जन्म देती है उस शिक्षा की अवहेलना करना ही उचित है क्योंकि ऐसी शिक्षा देश के नागरिकों में संकीर्ण दृष्टिकोण को जन्म देती है। नागरिक को अपने राष्ट्र में सब अच्छाइयाँ और दूसरे राष्ट्र तथा वहाँ के निवासियों मे दोष ही दोष दृष्टिगोचर होते हैं। संकीर्ण राष्ट्रवादी शिक्षा नागरिकों में यह भावना जाग्रत कर देती है कि जो कुछ है वह उनका राष्ट्र है। जो राष्ट्र कहे वही उन्हें करना चाहिए और जो राष्ट्र विचार करे वही उनके विचारयोग्य है। वे केवल राष्ट्र का अनुसरण करना ही सीखते है, उनके व्यक्तिगत विचार विकसित नहीं हो पाते। वे राष्ट्र के समक्ष एक निर्बल निर्जीव यंत्र की भाँति हो जाते है जिसे राष्ट्र किसी भी प्रकार चला सकता है। ऐसी राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित करने के लिए झूठी

शिक्षा दी जाती है। देश की महानता के लिए इतिहास के पन्ने झूठ से रंग दिए जाते है। अपने देश की सरकार और व्यवस्था आदर्श बताई जाती है और दूसरे देशों की सरकारों एवं उनके विधान के सम्बन्ध में उन्हें बताया भी नहीं जाता है। उनको बताया जाता है कि उनका राज्य कभी त्रुटि नहीं करता, कभी अन्याय नहीं करता, कभी गलत कदम नहीं उठाना। इस सब का परिणाम यह होता है कि नागरिक भूल जाते हैं कि संसार में उनके राष्ट्रवासियों के अतिरिक्त दूसरे मानव भी है जो उनके देशवासियों से किसी भी रूप में हेय नहीं हैं परन्तु वे अपनी महानता के गर्व में उन पर आक्रमण करते हैं और युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। पिछले दो विश्व युद्धों का मूल कारण संकीर्ण राष्ट्रीयता ही थी। इस समय भी शीत युद्ध का कारण संकीर्ण राष्ट्रीयता ही है।

अन्त में हम कह सकते है कि राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा तो दी जानी चाहिए परन्तु वह संकीर्ण दृष्टिकोण से नहीं होनी चाहिए। मातृभूमि के प्रति प्रेम का होना तो अच्छा है परन्तु वह प्रेम दूसरे देशवासियों से घृणा के रूप में नहीं होना चाहिए। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को भी प्रोत्साहित करे।

शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीयता[1]

आज के समय में जितनी भावना अन्तर्राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करने की है इतनी मानव के इतिहास में कभी भी न थी। आज विज्ञान ने संसार के देशों को एक-दूसरे के अधिक सन्निकट ला दिया है। उनके बीच की दूरी को नये नये आवागमन के साधनों द्वारा इतना कम कर दिया है कि हजारों मील दूर के राष्ट्र आपस में यही अनुभव करते हैं कि वह एक-दूसरे के पड़ोसी हैं। कहीं भी संसार में कोई परिवर्तन होता है या कोई क्रान्ति आती है—आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक तो वह संसार के समस्त देशों पर प्रभाव डालती है। विज्ञान का एक आविष्कार यदि अमरीका या रूस या इंगलैंड में या अन्य किसी देश में होता है तो सारा संसार हिल जाता है। इसी प्रकार से एक राष्ट्र की आर्थिक या राजनैतिक दशा दूसरे राष्ट्रों को प्रभावित करती है। इसके फलस्वरूप प्रत्येक राष्ट्र के चाहे आन्तरिक मामले हों अथवा विदेशी, दूसरे राष्ट्र उनमें दिलचस्पी लेने लगते हैं। परन्तु जब दूसरे राष्ट्रों की दिलचस्पी राष्ट्र के अहित के प्रति हो जाती है तो राष्ट्रों के बीच की तनातनी बढ़ जाती है और संसार युद्ध के द्वार पर खड़ा हो जाता है। इस तनातनी का मुख्य कारण यही होता है कि दूसरे

---

1. Internationalism in education.

राष्ट्र वाले जिस राष्ट्र में दिलचस्पी लेते हैं उसकी भावनाओं की अवहेलना की जाती है या उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया जाता है। तनातनी को दूर करने के लिए तथा विश्व शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रों में एक-दूसरे के प्रति सद्भावना तथा सहयोग की भावना जाग्रत की जाय। अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा यह सब संभव हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय भावना का शिक्षा में विकास[1]

पियरे ड्यूबस[2] ने छः शताब्दियों पहिले ही अन्तर्राष्ट्रीय विद्यालयों को स्थापित करने के विचार को प्रतिपादित किया था। उन्होंने कहा कि ऐसे विद्यालयों के लिए आर्थिक आयोजन युद्धों के न होने से बचे हुए विश्व के राष्ट्रों के धन द्वारा होना चाहिए। इसके पश्चात् १७ वीं शताब्दी में कमेनियस[3] महोदय ने "पैनसोफिक कॉलिज"[4] को स्थापित करने के विचार की व्याख्या की। उनके विचारानुसार इन विद्यालयों मे सारे संसार में से आये हुए विद्यार्थी स्थायी और परम विश्वशान्ति के लिए क्रियाशील रहे। सन् १९१२ मे अमरीका के प्रेसीडेन्ट टाफ्ट महोदय[5] ने एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस हेग[6] में बुलाने की चेष्टा की परन्तु वे अपने प्रयत्न मे असफल रहे क्योंकि कुछ राष्ट्रों ने बहुत से रोड़े अटकाए। सन् १९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध का श्रीगणेश हो गया। महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् श्रीमती एन्ड्रूज[7] ने "लीग आफ नेशन्स" में एक अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा विभाग को सम्मिलित कराने की चेष्टा की परन्तु वे भी अपने प्रयत्न में असफल रहीं, क्योंकि उस समय इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के सम्मुख अधिक गंभीर राजनैतिक तथा आर्थिक मसले सुलझाने के लिए थे। सन् १९२१ ई० मे यह विचार फिर प्रतिपादित किया गया लेकिन फिर सब प्रयास विफल हो गए। फिर भी १९२६ ई०में एक "कमीशन आफ इन्टलैक्चुअल कोआपरेशन"[8] बनाया गया परन्तु इसे भी विभिन्न राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त न हो सका। इसके असफल होने के ये भी कारण थे कि इसके पास कोई वास्तविक शक्ति न थी, न पर्याप्त धन था और न पर्याप्त कार्यकर्ता। सन् १९२५ ई० में कुछ शिक्षा शास्त्रियों ने मिलकर "इन्टरनेशनल ब्यूरो आफ एडूकेशन" की स्थापना की। परन्तु इस ब्यूरो में जबकि छोटे-छोटे राष्ट्रों ने सहयोग दिया, बड़े राष्ट्रों ने इससे कोई सम्बन्ध न रखा।

---

1. Growth of the idea of Internationalism in Education.
2. Pierre Dubios. 3. Comenius. 4. Pansophic Colleges.
5. President Toft 6. Hague. 7. Mrs. Andrews. 8. Commission of Intellectual Cooperation.

इटली में "फासिज्म"[१] के तथा जर्मनी में "नेशनल सोशलिज्म"[२] के विकास ने विभिन्न राष्ट्रों के नागरिकों में घातक राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित किया और अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के सब विचार निकाल फेंके गये। सब प्रकार के संभव प्रयत्नों के अतरिक्त भी दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो गया। परन्तु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् इस बात के प्रति अधिक सद्भावना बढ़ी कि शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त किया जाय। दूसरे महायुद्ध के समय में ही उन देशों के शिक्षा मन्त्री जिन्हें नाजियों ने जीत लिया था आपस में मिले और युद्ध के पश्चात् शिक्षा नवनिर्माण[३] के सम्बन्ध में विचार विमर्श किया गया। युद्ध के पश्चात् इस प्रकार के सम्मेलनों में अमेरिका और रूस के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए और 'संयुक्त राष्ट्र-संघ चार्टर'[४] में इस बात का आयोजन किया गया कि शिक्षा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त हो। यह निश्चित किया गया कि अन्तर्राष्ट्राय सहयोग को बढ़ाने के लिए 'संयुक्त राष्ट्र संघ में अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति तथा शिक्षा में सहयोग को प्रोत्साहित करेगी'[५]। इसको कार्य रूप में परिणत करने के लिए लन्दन में एक सभा बुलाई गई जिसने 'संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संस्था'[६] को जन्म दिया।

संयुक्त राष्ट्र-संघ

संयुक्त राष्ट्र-संघ विश्वशान्ति को बनाये रखने के लिए एक संस्था के रूप में स्थापित किया गया। इसकी सदस्यता संसार के सब राष्ट्रों के लिए खुली हुई रखी गई। इस संस्था की आधार शिला इस सिद्धान्त पर रखी गई कि राष्ट्रों के मतभेद एवं झगड़े विचार-विमर्श तथा शांति द्वारा मिटाये जा सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र के प्रपत्र[७] में मानवों के सभी मूल अधिकारों की व्याख्या की गई है। वे सब राष्ट्रों को अपनी नीति को निर्धारण करने की पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करते हैं। विभिन्न राष्ट्रों में परस्पर मैत्री तथा सर्वव्यापक शान्ति को स्थापित करना इस संस्था का मुख्य उद्देश्य है। इस संस्था के अन्तर्गत और छोटे-छोटे संगठन है, जैसे-यूनेस्को,[८] विश्व स्वास्थ संगठन,[९] अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन[१०]

---

1. Fascism. 2. National socialism. 3. Educational reconstructon. 4. United Nations Chartes. 5. San Fransciso Ccharter, chap. IX, Art 55: In order to promote international stability. "The Unitcd Nations shall promote international cultural and educational cooperation. 6. United Nations Educational, Scientific and cultural organzation. 7. United Nations Charter. 8. UN,ESCO. 9. World Helth Organisation. 10. International Labour Organization.

इत्यादि। शिक्षा के क्षेत्र में युनेस्को (संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षिक वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन) अन्तर्राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करने में सबसे महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

युनेस्को—संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षिक-वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन—

संयुक्त राष्ट्र-संघ ने इस बात पर भली-भाँति ध्यान दिया कि बिना मनुष्यों की शिक्षा का उचित निर्धारण किए हुए विश्व-शान्ति संभव नहीं है। इसी कारण युनेस्को की स्थापना की गई। यह शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के विकास के लिए प्रयत्नशील रहती है।

युनेस्को के कार्य—युनेस्को का कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण है इसमे कोई संदेह नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के लिए जो प्रयास यह संस्था कर रही है वह सराहनीय हैं। यहाँ हम युनेस्को द्वारा कुछ मुख्य कार्यो का वर्णन करेंगे :—

(१) यह संसार के समस्त देशों में बौद्धिक सहयोग का प्रयास करती है। हर देश की उच्च कलाकृति, संस्कृति, विज्ञान तथा साहित्य को दूसरे देशों तक पहुँचाती है और इस प्रकार से सब देशों को एक-दूसरे से बौद्धिक रूप से परिचय कराने की चेष्टा करती है। विभिन्न देशों की साहित्यिक पुस्तकों को प्रकाशित करके संसार के समस्त देशों को एक-दूसरे के साहित्य से परिचित कराती है।

(२) यह संस्था विचारकों, अध्यापकों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों इत्यादि को एक-दूसरे से विचार विमर्श करने का अवसर प्रदान करती है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि रचनात्मक कलाओं के सृजन पर राष्ट्रीयता की संकीर्ण भावनाओं का प्रभाव न हो, परन्तु मनुष्यों को स्वतन्त्रता हो कि वे रचनात्मक कलाओं का विश्व-शान्ति और न्याय के लिये सृजन करें।

(३) विभिन्न राष्ट्रों को एक-दूसरे के प्रति अवबोध कराना भी इस संस्था का कार्य है। इसमें कोई संदेह नहीं कि युद्ध की जड़ एक राष्ट्र का दूसरे के प्रति अविश्वास तथा भय है। युनेस्को विभिन्न देशों को एक-दूसरे के सम्बन्ध में अवबोध कराके अविश्वास तथा भय को उखाड़ फेंकने की चेष्टा करती है।

(४) युनेस्को ने युद्ध से पीड़ित देशों के सांस्कृतिक उत्थान का कार्य भी अपने ऊपर लिया जिसमें वह बहुत ही सफल रही है।

(५) युनेस्को अपने ध्येय की पूर्ति के लिए एक देश के विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को दूसरे देशों में ज्ञान के आदान-प्रदान के लिये प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार से एक देश के बुद्धिजीवी दूसरे देश के सम्बन्ध मे वास्तविक ज्ञान प्राप्त करते हैं और शान्ति तथा सद्भावना के लिए अधिक तैयार हो जाते हैं।

(६) विश्व इतिहास को वह रूप देने का प्रयास यह संस्था कर रही है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना को प्रोत्साहन मिले।

(७) सामाजिक विज्ञान द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा कैसे दी जा सकती है, यह संस्था इस सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी करती है। अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के लिए इसकी एक गोष्ठी ने १९४७ में यह मुख्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि सामाजिक विज्ञान द्वारा "विश्व के सभी मुख्य विषयों के अध्ययन पर बल दिया जाय", "शिक्षण में ठीक-ठीक बातों को प्रस्तुत किया जाय" और "आलोचनात्मक तर्क-शक्ति के विकास पर विशेष बल दिया जाय"। इसके अध्ययन मे "विभिन्न मानव-समुदायो के परस्पर सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धों पर बल दिया जाय तथा वर्ण, धर्म एव संस्कृति के कारण आर्थिक और शैक्षिक स्तर पर जो भेदभाव माना जाता है उसे दूर किया जाय।" इसी प्रकार के अन्य कई सिद्धान्त मानव जाति के हित के लिये बनाये गये।

(८) युनेस्को अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटन आदि का भी आयोजन करती है तथा विभिन्न देशों के सांस्कृतिक शिष्ट मण्डलों को एक-दूसरे देश में भेजती है। यह सब अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के दृष्टिकोण से ही किया जाता है।

(९) संसार के उन देशो मे जहाँ अज्ञानता और निरक्षरता का राज्य है। यूनेस्को वहाँ विशेष रूप से क्रियाशील रहता है और अज्ञानता तथा निरक्षरता कोवहाँ से दूर करने की चेष्टा करता है। पिछड़े देशों को यह सहायता प्रदान करता है जिससे वहाँ के निवासियों का बौद्धिक मानसिक एवं सामाजिक विकास हो।

(१०) इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कला एवं साहित्य की प्रदर्शनी विभिन्न देशों में आयोजित की गई है जो अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना एवं मैत्री को विकसित करने में बहुत सहायक होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा

शिक्षा द्वारा ही केवल अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास सम्भव है। बरट्रेन्ड रसेल[1] ने कहा है कि **शिक्षा चाहे राजनैतिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीयता को न ला सके परन्तु शिक्षा ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा इस भावना का विकास होना संभव है।** शिक्षा द्वारा ही जनमत का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर आकर्षित किया जा सकता है तथा जनमत ही आज के संसार में युद्ध या शांति का निर्णय करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण साधन है। यदि जनमत की धारणा शान्ति की ओर है तो विश्व-शान्ति स्थापना होना सरल हो जाता है।

1. Bertrand Russel.

इसीलिये शिक्षा का संगठन इस प्रकार होना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का निवास करे।

शिक्षा के उद्देश्य : अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के लिए

वर्तमान काल में शिक्षा का यह महत्वपूर्ण उद्देश्य माना जाता है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध को जाग्रित करे। इसके लिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार के अवबोध में जो कुछ भी बाधाएँ आयें उन्हें शिक्षा द्वारा हटाया जाय।

शिक्षा का प्रथम उद्देश्य व्यक्ति में स्वतन्त्रता पूर्वक विचार करने की शक्ति का विकास करना है। स्वतंत्र विचारणा द्वारा मनुष्यों में इस बात की क्षमता पैदा हो जायेगी कि वे यह निर्णय कर सकेंगे कि कौन-सी बात सत्य है और कौन सी बात असत्य है। कौन उचित है, कौन अनुचित। वे झूठ प्रचार से प्रभावित नहीं होंगे और प्रत्येक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्या को सूझ, बुद्धिमत्ता और शान्ति से समझने की चेष्टा करेंगे।

शिक्षा द्वारा युद्ध की भीषणता तथा मानव यन्त्रणाओं की ओर मनुष्यों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। शिक्षा का ध्येय यह ही होता है कि मानव युद्धों से घृणा करने लगें और शान्तिपूर्वक रहना तथा एक-दूसरे की भावनाओं का आदर करना सीखें।

शिक्षा संकीर्ण राष्ट्रीयता के दोषों की ओर भी विश्व के नागरिकों का ध्यान आकर्षित करती है।

संकीर्ण राष्ट्रीयता द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कि-"मेरा देश जो भी उचित अनुचित करता है ठीक है, हमारी जाति सर्वोपरि है"—का खण्डन भी शिक्षा द्वारा ही संभव है।

शिक्षा एक-दूसरे राष्ट्र की पारस्परिक निर्भरता को स्पष्ट रूप से मनुष्यों के समक्ष प्रस्तुत करती है। आज का संसार ऐसा नहीं है कि इसमें कोई भी एक राष्ट्र दूसरे से हर बात में अलग रह सके। प्रत्येक राष्ट्र को बहुत-सी आवश्यक वस्तुओं के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ता है और उन्हें बहुत-सी वस्तुओं का आयत करना पड़ता है। शिक्षा इसी ओर व्यक्तियों का ध्यान दिला कर अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाती है।

शिक्षा अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास को उसी समय भली-भांति प्रतिपादित कर सकती है जब वह राष्ट्रों में एक-दूसरे के प्रति भय की भावना को कम कर दे। आज यह भय ही है कि जो रूस या अमरीका को नये-नये युद्ध के अस्त्रों का आविष्कार करने के लिये बाध्य करता है। रूस डरता है कि अमेरिका उससे यदि अधिक शक्तिशाली हो गया तो वह उस पर आक्रमण कर

देगा इसी प्रकार अमेरिका डरता है कि यदि रूस अधिक शक्ति सम्पन्न हो गया तो उसकी खैर नहीं है। अतएव दोनों देश शीघ्रता से युद्ध की तैयारी में जुटे हुए हैं और संसार युद्ध के द्वार पर खड़ा हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा का ध्येय यही है कि इस भय को इन भयभीत राष्ट्रों के मन से दूर करे और उनमें विश्वास एवं सद्भावना का विकास करे।

अन्त में हम शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यही कह सकते हैं कि यह **नागरिकों को विश्व नागरिकता के लिये तैयार करे**। विश्व की नागरिकता से अर्थ यही है कि व्यक्ति सम्पूर्ण मानव जाति के हितों की ओर ध्यान देना प्रारम्भ करे न कि केवल अपने राष्ट्रवासियों के हितों की ओर ही लगे रहें। मनुष्य यह समझ ले कि विश्वभर के नागरिक उसके मित्र हैं और उसे उनके साथ सद्भावना पूर्वक रहना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीयता : शिक्षा का पाठ्यक्रम

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा के पाठ्यक्रम का संगठन उचित रूप से होना चाहिए। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध मे ध्यान रखने वाली बातें निम्न-लिखित हैं।

(अ) **शैक्षिक कार्यक्रम** :पाठ्यक्रम में विभिन्न राष्ट्रों और समाजों की रचनात्मक कला कृतियों का समावेश होना चाहिए। साहित्य, सङ्गीत, चित्रकला आदि से युक्त ऐसा पाठ्यक्रम होना चाहिए जो समस्त राष्ट्रों के सांस्कृतिक दाय का प्रतिनिधित्व करता हो।

(१) पाठ्यक्रम में जो साहित्य सम्मिलित किया जाय वह विश्व साहित्य का भाग होना चाहिए। प्रत्येक राष्ट्र के नागरिको के पाठ्यक्रम में दूसरे राष्ट्रो के उच्च साहित्य का समावेश होना चाहिए।

(२) विज्ञान की शिक्षा भी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को सामने रख कर दी जानी चाहिए। विज्ञान का विकास विभिन्न राष्ट्रों द्वारा सम्पन्न हुआ है और विभिन्न राष्ट्रों के नागरिकों को इसके द्वारा अपने जीवन का स्तर उच्च बनाने का अवसर मिला है। विज्ञान के पाठ्यक्रम का यही लक्ष्य होना चाहिए कि वह नागरिको को यह बताए कि विज्ञान के आविष्कारों के द्वारा संसार से भूख, अभाव और गरीबी को दूर किया जा सकता है। मनुष्य को अधिक सुखी, सम्पन्न और समृद्ध बनाया जा सकता है।

(३) इतिहास का शिक्षण भी इस प्रकार का होना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहित करे। विश्व के महान् नेताओं की जीवनी से अवगत कराना इतिहास के पाठ्यक्रम का मुख्य अङ्ग होना चाहिए। इसमें

दूसरे देशों की संस्कृति और सभ्यता के विवेचन को भी स्थान मिलना चाहिए। परन्तु इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि विश्व के ऐसे नेताओं के जीवन चरित्र को इतिहास द्वारा पढ़ाने में अधिक महत्व दिया जाय जो शान्ति के दूत कहे जाते हैं और जिन्होंने मानवता के कल्याण के लिये कष्ट सहे है।

(४) भूगोल के पाठ्यक्रम में संसार के विभिन्न देशों का वर्णन होना चाहिए। इन देशों के रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान वेश-भूषा इत्यादि से बालकों को अवगत कराना चाहिए। विभिन्न देशों की क्या उपज है? और वहाँ के निवासियों के मुख्य उद्योग-धन्धे क्या हैं? उनकी कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्र में क्या स्थिति है? इत्यादि तथ्यों को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए और इस बात पर विशेष बल देना चाहिए कि प्रत्येक देश दूसरे पर बहुत-सी वस्तुओं के लिए निर्भर होता है।

(५) इसी प्रकार दूसरे विषय, जैसे—कला, मनोविज्ञान, दर्शन इत्यादि का का आयोजन भी पाठ्यक्रम में इस प्रकार होना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन मिले। मनोविज्ञान द्वारा एक देश के नागरिक दूसरे देशवासियों की मनोवृत्ति समझने में सफल होंगे। वे यह भी जान लेंगे कि विश्व भर के मानवों में मूल प्रवृत्तियाँ, प्रेरणाएँ समान होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने पर मूल रूप में जाति-पाँति रंग-रूप या राष्ट्रीयता के कारण मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं होता। इसी प्रकार दर्शन भी मानव जीवन के एक ही प्रकार के लक्ष्य, मन की शान्ति आदि पर बल देकर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करने में सहायक होगा।

(ब) सहगामी क्रियाएँ:—पाठ्यक्रम में सहगामी क्रियाओं का भी आयोजन होना आवश्यक है। सामूहिक खेलों द्वारा बालकों के मन में यह भावना शीघ्र आजाती है कि मानव एक-दूसरे पर निर्भर है और विश्व मे वे अकेला नहीं रह सकते। अन्तर्राष्ट्रीय खेल प्रतियोगिताएँ एक-दूसरे राष्ट्र को समझने में बहुत सहायता देती है। विद्यालयों में विद्यार्थियों के लिये अन्तर्राष्ट्रीय खेल प्रतियोगिताओं में भाग लेने के लिये आयोजन होना चाहिए।

साहित्यिक गोष्ठीयों द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास किया जा सकता है। सब देश के महान् नेताओं का जन्म दिन मना कर और उनकी कला-कृतियों पर प्रकाश डालकर यह संभव हो सकता है कि अन्य देशों की कला एवं संस्कृति के प्रति लोगों का मन आकर्षित हो। इसके अतिरिक्त इन गोष्ठियों में विश्व की समस्याओं और उनके उचित हल पर वाद-विवाद किया

जा सकता है। स्कूल-कॉलिज पत्रिका का अन्तर्राष्ट्रीय अङ्क प्रकाशित करके दूसरे देशों में आदान-प्रदान कर सकते हैं।

दूसरे देशों से आये हुए महान् व्यक्तियों एवं विचारकों के व्याख्यानों का आयोजन विद्यालयों में कराया जा सकता है।

विद्यार्थियों को दूसरे देशों पर पडी हुई विपत्तियों से अवगत कराना चाहिए और वहाँ के विपदग्रस्त व्यक्तियों के लिए चन्दा इत्यादि इकट्ठा करने को प्रोत्साहित करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों के बालकों से "लेखनी मैत्री" स्थापित करने के लिये उन्हें प्रोत्साहित करके ऐसी रुचियों का विकास करना चाहिए जिनसे अन्तर्राष्ट्रीयता की सद्भावना बढ़ाई जा सके, जैसे—टिकटों का इकट्ठा करना आदि।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षण-विधि

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए ऐसी शिक्षण-विधि अपनानी चाहिए जो संकुचित नागरिकता की भावना की अवहेलना करे और विश्व-नागरिकता की भावना का विकास करे। विभिन्न विषयों का शिक्षण इस प्रकार दिया जाय कि बालकों मे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास हो। अध्यापक अपने निजी विश्वास एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम की भावना मे प्रगाढ़ आस्था रखने पर ही इसके लिये समर्थ हो सकता है कि वह बालकों को अन्तराष्ट्रीयता की प्रेरणा दे और उन्हें विश्व-बन्धुत्व के प्रेम से अनुप्राणित करे।

अध्यापक तथा अन्तर्राष्ट्रीयता

जैसा ऊपर कहा गया है, अध्यापक का स्वयं का व्यक्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय भावना का उद्रेक करने में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अध्यापक ही के ऊपर बालकों के समक्ष विषयों को उपस्थित करने का उत्तरदायित्व होता है। किस प्रकार एक अध्यापक विषय को बालक के सामने उपस्थित करता है यह अभिव्यक्ति का प्रकार ही बालकों में उचित या अनुचित भावनाओं को प्रेरणा देने वाला होता है। यदि अध्यापक विभिन्न विषयों को पढ़ाते समय अन्तर्राष्ट्रीयता पर बल देगा तो बालक सरलता से इसे अपना लेगे। परन्तु यदि अध्यापक संकीर्ण राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से पढ़ायेगा तो बालकों के विचार अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर केन्द्रित नहीं होंगे। अध्यापक बालकों के मध्य से द्वेष, घृणा, इत्यादि की भावना को दूर करके विश्वप्रेम का सिद्धान्त सामने रख सकता है। वह बालकों को सिखा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य बराबर है। जाति, धर्म, रंग रूप का भेद केवल ऊपरी आवरण है, इसका कोई अस्तित्व नहीं। वस्तुत:

सम्पूर्ण मानव जाति एक है—वसुधैव कुटुम्बकम् का पाठ अध्यापक ही पढ़ा सकता है, मात्र पुस्तकें नहीं।

सारांश

वर्तमान काल में राष्ट्रीयता को उसी उत्साह के साथ नहीं देखा जाता जितना कि कुछ दशक पहिले इसे पुनीत माना जाता था।

स्वदेश प्रेम की शिक्षा का इतिहास—प्राचीन भारत में शिक्षा कुछ ही अंशों में राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करती थी। स्वतन्त्रता के पश्चात् यहाँ राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा को महत्व दिया जाने लगा है।

राष्ट्रीयता का अर्थ—राष्ट्रीयता वह शक्ति है जो मनुष्यों को अपने व्यक्तिगत हितों को छोड़ कर राष्ट्र कल्याण की भावना से प्रेरित करती है।

राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा—राष्ट्रीयता की शिक्षा से तात्पर्य ऐसी शिक्षा से है जो राष्ट्र के नागरिकों में एकता बढ़ाये और उन्हें समाज-सेवा की प्रेरणा दे। राष्ट्र उत्थान के लिए भी शिक्षा ही सबसे महत्वपूर्ण साधन है। राष्ट्र-उत्थान के लिए शिक्षा द्वारा देश की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति में सुधार लाया जाता है। शिक्षा द्वारा एक राष्ट्रीय भाषा का विकास किया जाता है जो राष्ट्र के नागरिकों को एकता के सूत्र में बाँधने में अत्यन्त सहायता प्रदान करती है। राष्ट्रीयता की शिक्षा देने मे यह आवश्यक है कि व्यक्तियों में से स्वार्थ की भावना को दूर किया जाय और उन्हे राष्ट्र की भलाई की ओर देखने को शिक्षित किया जाय।

राष्ट्रवादी शिक्षा में दोष—संकीर्ण राष्ट्रवादी शिक्षा नागरिकों में यह भावना जाग्रत कर देती है कि जो कुछ है वह उनका राष्ट्र ही है। इस प्रकार को शिक्षा उनके व्यक्तिगत विचार को विकसित नहीं होने देती। यदि संकीर्ण राष्ट्रवादिता पर बहुत बल दिया जाता है तो वह विश्व युद्धों का कारण बन जाती है।

शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीयता

विभिन्न राष्ट्रों में एक-दूसरे के प्रति सद्भावना तथा सहयोग की भावना जाग्रत करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा बहुत महत्वपूर्ण है।

अन्तर्राष्ट्रीय भावना का शिक्षा में विकास—छः शताब्दियों पहिले पियर ड्यूबस ने अन्तर्राष्ट्रीय विद्यालयों को स्थापित करने के विचार को प्रतिपादित

किया। १७ वीं शताब्दी में कमेनियस महोदय ने पैनसोफिक कॉलिज स्थापित करने पर बल दिया। १९२६ में एक 'कमीशन आफ इन्टलैक्च्युल कारपोरेशन बनाई गई। १९२५ ई० में कुछ शिक्षा शास्त्रियों ने मिलकर "इन्टर नेशनल ब्यूरो ऑव एडूकेशन" की स्थापना की। दूसरे विश्व-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र-संघ का जन्म हुआ। इसका एक महत्वपूर्ण अङ्ग संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षिक-वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संस्था" का संगठन हुआ।

युनेस्को के कार्य—(१) संसार के समस्त देशों में बौद्धिक सहयोग का प्रयास करना, (२) विचारकों, अध्यापकों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों इत्यादि को एक दूसरे से विचार-विमर्श करने के अवसर प्रदान करना, (३) विभिन्न राष्ट्रों को एक-दूसरे के प्रति अवबोध कराना, (४) युद्ध से पीड़ित देशों के सांस्कृतिक उत्थान की चेष्टा करना, (५) विद्यार्थियों और अध्यापकों का विभिन्न देशों के बीच आदान-प्रदान करना, (६) विश्व इतिहास को अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना प्रोत्साहित करने का रूप देना, (७) सामाजिक विज्ञान द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयता के लिये शिक्षा देने के सम्बन्ध में मुख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना, (८) अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटन का आयोजन करना, (९) पिछड़े देशों में से अज्ञानता और निरक्षता को दूर करने में सहायता प्रदान करना, तथा (१०) अन्तर्राष्ट्रीय कला एवं साहित्य की प्रदर्शनी इत्यादि का आयोजन करना।

अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास शिक्षा द्वारा ही संभव है। इसके लिए शिक्षा का संगठन उचित प्रकार से होना चाहिए।

शिक्षा के उद्देश्य इस प्रकार से निर्धारित किये जाने चाहिए जिससे अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध संभव हो सके। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह कहा जा सकता है कि यह नागरिकों को विश्व नागरिकता के लिये तैयार करे।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा के पाठ्यक्रम का संगठन उचित रूप से होना चाहिए।

(अ) शैक्षिक कार्यक्रम में विभिन्न राष्ट्रों और समाजों की रचनात्मक कला कृतियों का समावेश होना चाहिए—(१) साहित्य, (२) विज्ञान, (३) इतिहास, (४) भूगोल, तथा (५) इसी प्रकार अन्य दूसरे विषयों का शिक्षण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से होना चाहिए।

(ब) सहगामी क्रियाएँ—अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं इत्यादि को प्रोत्साहन देना चाहिए। विद्यालयों में साहित्यिक गोष्ठियों द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए ऐसी शिक्षण-विधि अपनानी चाहिए जो संकुचित नागरिकता की भावना की अवहेलना करे और विश्व नागरिकता की भावना का विकास करे।

अध्यापक का व्यक्तित्व अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का उद्रेक करने में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१- विद्यालय की शिक्षा में राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता को क्या स्थान मिलना चाहिए ? हमारे देश के विद्यालयों में किस प्रकार इन विचारों को व्यावहारिक रूप में रखा जा सकता है ?

२. भारतीय विद्यालयों को क्या करना चाहिए जिससे यहाँ के विद्यार्थियों में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास हो।

३. 'अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा' पर एक निबन्ध लिखिए।

४. अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा किन सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए ? इन सिद्धान्तों के महत्व पर प्रकाश डालिए।

५. संकीर्ण नागरिकता की शिक्षा में क्या दोष निहित हैं ? विश्व के इतिहास से उदाहरण लेकर अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) मेयर : **दि डवेलपमेन्ट आव एडूकेशन इन दि टुन्टीयथ सेन्चवरी**

(२) केन्डल : **दि न्यु ऐरा इन एडूकेशन**

(३) नेशनल एडूकेशन एसोसियेशन, (वाशिंगटन, डी० सी०) : **एडूकेशन फॉर इन्टरनेशनल अन्डरसटेन्डिङ्ग इन अमेरीकन स्कूल्स**

(४) नेशनल काउन्सिल फॉर दी सोशल स्टडीज (वाशिङ्गटन डी० सी०) : **"सिटिज़न्स फॉर ऐ न्यु वर्ल्ड"**

— :०: —

अध्याय २१

प्रजातंत्र और शिक्षा[1]

प्रजातंत्र क्या है ?[2]

प्रजातंत्र से तात्पर्य है "**जनता का राज्य, जनता के द्वारा, तथा जनता के हित के लिये**। हैण्डरसन महोदय के अनुसार जनतंत्र दो मुख्य सिद्धान्तों पर निर्भर है "**कि मानव के व्यक्तित्व का मूल्य अनन्त है और यह विश्वास कि मनुष्य स्वयं अपने कार्य भार को इस प्रकार संभाल सकते हैं जिससे सबका भला हो अतः उन्हें इसकी पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए।**"[3] यह कहा जा सकता है कि जनतंत्र इस सिद्धान्त पर निर्भर है कि जिन वस्तुओं के निर्णय का लोक से सम्बन्ध हो, उनका निर्णय सबके द्वारा ही होना चाहिये और इसमें भावना यह निहित है कि निर्णय लोक-कल्याण के आधार पर होना चाहिए।

---

1. Democracy and Education, 2. What is Democracy, n. S. U. P. Henderson, "Introduction to Philosophy of Educati3o Chicago, the Univ. of Chicago Press, pp. 141-142." Democracy is based on two assumptions : the infinite value and work of human personality and belief that man are capable of of managing their own affairs in such a way as to promote the welfare of all and that, therefore they should have the freedom to do so."

प्रजातंत्र शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। एक ओर तो यह सरकार के प्रकार की ओर संकेत करता है और दूसरी ओर जीवन यापन की एक प्रणाली के अर्थ में। किसी भी रूप में इस शब्द का प्रयोग किया जाय, इसमें नियंत्रण की भावना निहित है लोकहित की भावना को ही दृष्टि में रखकर सामूहिक तथा व्यक्तिगत आचरण पर नियंत्रण किया जाता है। प्रथम रूप में नियंत्रण सरकार द्वारा होता है अतएव यह बाह्य है। दूसरे रूप में सामाजिक कल्याण की दृष्टिकोण से नियंत्रण स्वयं व्यक्ति द्वारा अपने ऊपर ही लगाया जाता है जो आन्तरिक कहा जाता है। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि किसी भी रूप में नियंत्रण व्यक्तित्व को अवरुद्ध नहीं करता। एक जनतंत्रीय सरकार में व्यक्तित्व का आत्म-प्रदर्शन करने का स्वतंत्र अवसर प्रदान किया जाता है। ड्यूवी महोदय का विश्वास है कि जनतंत्र सरकार की एक प्रणाली से परे कुछ और भी है। यह मुख्यतः **एक प्रकार से अनुभवों द्वारा प्रतिपादित भाईचारे के साथ जीवन बिताने की रीति है।**

जनतंत्र जीवन से सब क्षेत्रों के लिये—जनतंत्र के सिद्धान्तों का न केवल राजनीति के क्षेत्र में प्रयोग किया जा सकता है अपितु आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

बॉयड महोदय जनतंत्र को **"जीवन यापन की एक रीति मानते हैं और जीवन यापन की रीति से उनका तात्पर्य है—जीवन के प्रत्येक प्रमुख क्षेत्र को प्रभावित करना।"**[1]

राजनैतिक दृष्टिकोण से जनतंत्र का तात्पर्य है—"जनता की सरकार, जनता द्वारा, और जनता के लिये।"[2] यह बहुमत द्वारा राज्य संचालन पर निर्भर है परन्तु इसमें अल्प संख्यकों के अधिकारों को भी महत्व दिया जाता है। यह अपने सदस्यों के जो प्रत्येक वर्ग, जाति और व्यवसाय के होते हैं, मत पर निर्भर रहता है। प्रत्येक नागरिक को उसके अधिकार दिये जाते हैं और उसे उसके कर्त्तव्यों के प्रति चैतन्य किया जाता है। यह प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतंत्रता प्रदान करता है कि वह अपना स्वतंत्र मत व्यक्त कर सकता है है यदि वह जन-जीवन के लिये लाभकारी है।

जनतंत्र का आर्थिक क्षेत्र में यह तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने

---

1. Boyd Bode, *Democracy as a way of life*, N. Y. Macmillan,"Bode considers democracy as a way of life," and by way of life he means "a determining influence in every maj area of life." 2. Government of the people, by the people, f the people.

परिश्रम से धन कमाने के लिये उचित और समान अवसर प्रदान किया जाय। सभी को समान रूप से उच्च स्तर का रहन-सहन प्राप्त करने के अवसर प्राप्त हों। जनतंत्र सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के समान अवसर प्रदान करने में विश्वास रखता है। यह कर्मचारियों के अधिकारों को भी उचित स्थान देता है। उनको अपने कार्य करने की दशाओं के सम्बन्ध में मत देने का अधिकार है और जो धन वे पैदा करते है उसमें से भाग दिया जाता है।

जब किसी जाति, वर्ग या धर्म के सामाजिक उत्थान में तत्सम्बन्धी विषमताओं के कारण कोई बाधा नहीं पहुँचाई जा सकती तब जनतंत्र सामाजिक रूप में समझा जाता है इससे तात्पर्य है कि सभी व्यक्तियों के लिये सुन्दर जीवन, और प्रत्येक व्यक्ति को यह अवसर प्रदान करना जिससे वह श्रेष्ठ नागरिक बन सके। डयूवी महोदय का विश्वास है कि जनतंत्र मे सार्वजनिक हितों का ध्यान रखा जाता है और व्यक्तिगत स्वार्थों को सामाजिक नियंत्रण द्वारा अनुशासित किया जाता है। साथ ही यह भी ध्यान रखा जाता है कि लोक जीवन में भी ऐसी प्रतिक्रिया होनी चाहिये जो नागरिकों में सामाजिकता की भावना का विकास करे।

जनतंत्र की सफलता की दिशायें—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जनतंत्र व्यक्तियों को स्वतंत्रता देने में विश्वास रखता है किन्तु यदि व्यक्तियों को शिक्षित न किया जाय, उन्हें सामाजिक हित के लिये अनुशासित न किया जाय तो यह स्वतंत्रता बहुत मँहगी पड़ेगी और अराजकता का रूप धारण कर लेगी। जनतंत्र की सफलता के लिये कुछ आधार भूत दिशाओं का पूरा होना परमावश्यक है।

(१) जनतंत्र की सफलता की सबसे प्रथम दिशा यह है कि जनता की आर्थिक दशा अच्छी हो। जनतंत्र व्यक्तियों के भूखे पेटों पर स्थापित नहीं किया जा सकता। मनुष्य अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता भी छोड़ने को तैयार हो जायेंगे यदि उनकी यह स्वतंत्रता उनके रोटी के प्रश्न को हल नहीं कर सकती।

(२) दूसरी दिशा है जन-शिक्षा की व्यवस्था। जनतंत्र का सम्यक् संचालन शिक्षित तथा सुविज्ञ जनता पर ही निर्भर है जो अपने अधिकारों के सम्बन्ध में जागरूक हों तथा अपने कर्त्तव्यों को जनहित के लिये निभाने में तत्पर हों। यदि जनता अधिकतर अशिक्षित होगी तो सत्ताधारियों का एक वर्ग बन जायेगा जिसे अधिक अधिकार प्राप्त हो जायेंगे और जो दूसरे व्यक्तियों के ऊपर अपनी इच्छाओं को थोपेंगे। इस प्रकार जनतंत्र का जो मुख्य उद्देश्य है, नष्ट हो जायेगा।

जनतंत्र के लिये शिक्षा

जनतंत्र की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को उचित ढंग से निभायें। परन्तु वह ऐसा तभी हो सकता है जब उसके समझने का स्तर उच्च हो तथा एक अच्छा चरित्र हो। उसमें सेवा के लिये प्रेम तथा उत्साह होगा और राज्य-लाभ के लिये राजनैतिक बुद्धि। अतएव यह समाज का कर्त्तव्य है कि एक व्यक्ति को बौद्धिक, नैतिक तथा शारीरिक रूप से अपने नागरिकता के कर्त्तव्यों को निभाने के लिये तैयार करे, ताकि सामाजिक जीवन सुखी और समृद्ध हो। शिक्षा का कर्त्तव्य मुख्यत: यही है।

शिक्षा के मुख्यत: दो कार्य है—**प्रथम है सांस्कृतिक तथा सामाजिक दाय को नयी पीढ़ी को हस्तान्तरित करना**। इस हस्तान्तरण के कारण नयी पीढियाँ को कला, ज्ञान तथा सद् प्रवृत्तियाँ मिल जायेंगी जो उनको समाज में अपना स्थान ग्रहण करने में सहायता प्रदान करेंगी और समाज के स्थायित्व में सहायक होंगी। विद्यालय एक ऐसा साधन है जिसे समाज द्वारा वंशानुगत दाय का हस्तान्तरण सौंपा गया है। इस रूप में विद्यालय वह सामाजिक संस्था है जिस पर संस्कृति के संरक्षण और हस्तान्तरण का उत्तरदायित्व है।

शिक्षा का दूसरा कार्य है **विद्यार्थियों में वातावरण के प्रति एक समझौते की भावना का विकास करना**। यहाँ पर भी विद्यालय ही एक ऐसी संस्था है जो यह कार्य-भार संभाल सकती है। अतएव विद्यालय में शिक्षा इस प्रकार से देनी चाहिए कि विद्यार्थी जीवन की वास्तविकताओं से परिचित हो जाय। इस प्रकार का 'सीखना' उनकी तथा समाज की समृद्धि को बढ़ायेगा।

जनतंत्र के लिये शिक्षा उचित क्रियाओं के लिये एक विस्तृत निर्देश चाहती है क्योंकि वास्तविक तथा गूढ़ अनुभवों द्वारा व्यक्ति उचित रूप से सीख सकता है और विद्यालय का कर्त्तव्य है कि इस प्रकार के अनुभव के लिए अवसर प्रदान कर दे। इसे अपनी क्रियाओं को केवल बौद्धिक विकास की सीमाओं के अन्तर्गत नहीं बाँधना चाहिए, अपितु सम्वेगात्मक तत्वों को भी ध्यान में रखना चाहिये और यह भी देखना चाहिये कि जीवन के अनुभवों द्वारा व्यक्तियों में उचित भावनाओं का निर्माण रहो रहा है अथवा नहीं। उन्हें प्रजातंत्र राज्य में जो एक उत्तम नागरिक के गुण होने चाहिये, उन्हें शिक्षा द्वारा विकसित करना चाहिये वे इस प्रकार हैं—(अ) आत्मानुभूति,[1] (ब) मानवीय सम्बन्ध,[2] (स) आर्थिक कुशलता,[3] और (द) नागरिक उत्तरदायित्व[4]। एक व्यक्ति

1. Self realization. 2. Human relationship, 3. Economic-effiiciency. 4. Civic responsibility.

जिसको समाज की बहुमुखी शिक्षा नहीं मिली है, एक जनतंत्र राज्य का अच्छा नागरिक नहीं कहलायेगा क्योंकि वह अपनी इच्छा शक्ति को उचित रूप से प्रयोग नहीं कर सकेगा और वह झूँठे प्रचारों द्वारा प्रभावित हो जायगा। इस कारण राज्य को विद्यालय द्वारा तथा दूसरी अविधिक संस्थाओं द्वारा व्यक्ति को हर प्रकार की सम्भव सुविधाये प्रदान करनी चाहिये जिससे उचित राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक शिक्षा दी जा सके। एक ऐसे समाज में जो परिवर्तन की दशा में है और जिसमें शीघ्र ही सामाजिक परिवर्तन होते है, शिक्षा का कार्य और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। यह आवश्यक है कि ऐसे समाज के सदस्यों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाय कि उनमें सामयिक समस्याओं के सम्बन्ध में उचित सूझ का विकास हो सके तथा सरलतापूर्वक अपने आपको नये वातावरण मे व्यवस्थित कर ले। शिक्षा को समाज तथा उसके परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते रहना चाहिए क्योंकि शिक्षा समाज सापेक्ष है। विद्यालयो में विवाद ग्रस्त विषयों पर स्वतत्रता पूर्वक वाद-विवाद होना चाहिए जिससे छात्रों को उन समस्याओ के सम्बन्ध मे अन्तर्दृष्टि मिल सके। **जनतत्र के लिए वास्तविक शिक्षा ऐसी ही होनी चाहिए जो विद्यार्थियों को उनकी अन्यतम आवश्यकताओं का ज्ञान प्राप्त करने की तथा सत्य और पूर्व धारणाओं में अन्तर ज्ञात करने की, निष्कर्ष तक पहुँचने की, तथा उन वस्तुओ को पहिचानने की जो सामाजिक परिवर्तन या संभ्रान्त के समय आती है, सहयता प्रदान करें।**[1]

जनतन्त्र की शिक्षा के लिये अविधिक तथा सविधिक शिक्षा संस्थाओं का उत्तरदायित्व

व्यक्ति को उचित शिक्षा प्रदान करने का सर्व श्रेष्ठ साधन उसका परिवार है। एक व्यक्ति जनतंत्र जीवन का प्रथम सिद्धान्त अपने घर में ही सीखता है अपने परिवार में एक सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करने मे तथा परिवार के दूसरे सदस्यों की प्रगति से अनुभव प्राप्त करने से व्यक्ति यह सीखता है कि समाज में जीवन कैसे व्यतीत किया जाता है।

विद्यालय शिक्षा की सविधिक संस्था है जो जनतंत्र के लिये उचित शिक्षा का प्रबन्ध कर सकता है। यहाँ पर विद्यार्थी अभ्यास द्वारा वास्तविक, सामूहिक

---

1. True education for democracy "should help the pupil to appreciate the urgent necessity of acquiring knowledge and to discriminate between facts and prejudices to weigh and judge evidences, to arrive at conclusions and recognize the issue involved in a period of social transition or crises.

क्रियाओं के सहयोग द्वारा व्यक्ति भावी नागरिक के उत्तरदायित्व को सीखते हैं।

जनतंत्र उसी समय ठीक प्रकार से कार्य कर सकता है जब राष्ट्र के सब नागरिकों को शिक्षा ग्रहण करने की समान सुविधायें प्राप्त हों। इसके अतिरिक्त राज्य को यह भी देखना चाहिए कि राज्य के बालकों के लिये वह निःशुल्क अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करे।

अविधिक शिक्षा के साधन स्वस्थ तथा श्रेष्ठ जन चेतना के विकास में सहायक होते हैं। शिक्षा एक सतत् जीवन पर्यन्त क्रिया है। यह विद्यालय शिक्षण के अन्त के साथ ही समाप्त नही हो जाती। वरन् इसके पश्चात् भी चलती रहती है। अविधिक साधन विद्यालय की शिक्षा के पश्चात् इस बात का उत्तरदायित्व लेते है कि देश के नागरिक को उसके अधिकार तथा कर्त्तव्यों से अवगत कराएँ। यदि जनतंत्र का वास्तविक रूप में सफल होना है तो यह आवश्यक है कि उसके नागरिक बुद्धिमान, शिक्षित और क्रियाशील मत दाता हों जो जनता के कार्य में रुचि ले सकें। जनता का मत सरकारी योजनाओं पर सबसे अधिक प्रभाव डालता है। अतएव यह अत्यावश्यक है कि जनता के मत को उचित रूप से सुसंगठित बनाया जावे ताकि यह सदैव सरकारी क्रियाओं पर नियंत्रण रखे। जनता के मत का संगठन अविधिक साधनों द्वारा होना चाहिये।

संविधान को दृष्टि में रखते हुए भारत के लिए जनतंत्रीय शिक्षा

भारत के संविधान की प्रस्तावना में उसके उद्देश्य को बताते हुए कहा गया है—"हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिये तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिये तथा उन सब में, व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिये दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख २६ नवम्बर १९५९ ई० (मिति मार्गशीर्ष सप्तमी, सस्वत् २००६ विक्रमी) को एतद् द्वारा इस सविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

अतएव यह देखा जा सकता है कि भारत का संविधान पूर्णतः जनतन्त्रीय है इसके मुख्य अङ्ग है—न्याय, स्वतंत्रता, समानता तथा बन्धुता। देश की शिक्षा को इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिये क्योंकि सब नागरिकों को समान स्तर दिया जाता है। समान अधिकार, अवसर और सुविधायें इस दृष्टिकोण से प्रदान की गई है जिससे प्रत्येक बालक को शिक्षा प्राप्त करने का

सुअवसर मिले। यह उसी समय सम्भव है जब विद्यालय का प्रबन्ध सभी बालकों के लिये किया जाये। इसके लिये सब प्रकार के विद्यालयों का आयोजन करना चाहिये—प्राथमिक, माध्यमिक, टैक्नीकल विश्वविद्यालय आदि। इन सब में प्रवेश किसी ऐसे सिद्धान्त पर नहीं होना चाहिये जो स्वतंत्रता और न्याय के आदर्शों के विपरीत हो। हमारे देश में इस बात की भी अधिक आवश्यकता है कि प्रौढ़ों के लिये भी विद्यालयों का आयोजन किया जाय ताकि सामाजिक असमानता दूर हो सके।

समय की माँग यह है कि जनतंत्र के आदर्श, देश के समक्ष शिक्षा द्वारा रखे जायँ। वर्तमान काल में जनता के अशिक्षित होने के कारण तथा सामाजिक एवं बौद्धिक रुकावटों के कारण जो व्यक्ति की प्रगति मन्द हो जाती है जाति और समाजगत विषमता जनतंत्र को चारों ओर से चुनौती दे रही है। फलस्वरूप जनतंत्रीय विधान की आलोचना की जा रही है और भारतीय जनतंत्र जितना सफल होना चाहिये, नहीं हो रहा है। भारत के आसपास के देशों में एशिया में जनतत्र इसी कारण ठुकराया जा रहा है और एकतंत्र अधिनायकवादी शासन जन्म ले रहे है। भारत में भी एकाधिपत्य बढ़ रहा है और जनमत की भावना को कुचला जा रहा है। अतएव यहाँ उचित शिक्षा की आवश्यकता है। जनतंत्र नागरिकों के ऊपर थोपा नहीं जा सकता, इसे अन्तर से विकसित करना होगा। माहत्मा गांधी ने जनतंत्र के विषय में कांग्रेस के इतिहास में इलाहाबाद में १६३५ ई० मे कहा था—"**मेरा विचार है कि जनतंत्र शक्ति द्वारा विकसित नहीं किया जा सकता। जनतंत्र का भाव बाहर से नहीं थोपा जा सकता इसे अन्तर से ही निकालना होगा।**"[1] अतएव ऐसी ही शिक्षा उचित है जो नागरिकों को जनतंत्र के गुणो से अवगत कराये और उन गुणों का उनमें विकास करें।

महात्मा गांधी ने २६ जनवरी १६२५ ई० में 'यंग इण्डिया, मे लिखते हुए कहा था—"**स्वराज्य जनता को इस प्रकार की शिक्षा देता है कि उनमें इस प्रकार का भाव विकसित हो जाय जो सत्ता पर नियंत्रण रखे।**"[2] सत्ता के

---

1. Mahatma Gandhi in the history of the Congress, Allahabad in 1935, "I hold that democracy cannot be evolved by forcible methods. The spirit of democracy cannot be imposed from without. It has to come to from within.

2. Mahatma Gandhi writing in Young India, as early as Jan. 29, 1925; has said,"Swaraj is to be obtained by educating the masses to asense of their capacity to regulate and control authority.

दोष उसी समय दूर किये जा सकते हैं जब जनता को उचित ढंग की शिक्षा दी जावे और उनमें जनतंत्रीय गुणों का विकास किया जाए।

जनतंत्र और शिक्षा के उद्देश्य[1]

एक जनतंत्रीय समाज में शिक्षा के उद्देश्य की अभिव्यक्ति "उचित नागरिक" के पूर्ण विकास में निहित है। एक उचित नागरिक से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने स्वयं के प्रति तथा अपने सहयोगियों के प्रति उत्तरदायित्व को निभा सके। वह ऐसा व्यक्ति हो जो अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में जागरूक हो। उसमें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याओं को व्यावहारिक रूप से समझने की क्षमता हो। वह अन्ध-विश्वासों से स्वतंत्र हो। उसमें तर्क शक्ति हो। वह जीवन के प्रति सृजनात्मक रूप से विचार रखता हो। उसमें सामाजिकता की भावना का विकास हो गया हो। वह आर्थिक कुशलता रखता हो और अपने जीवनयापन के लिए धन अर्जित कर सकता हो उसकी रुचियों का सम्यक् विकास हो गया हो तथा उनमे व्यापकता हो। उसमें चिन्तन करने की क्षमता हो। अतएव जनतंत्र राज्य में शिक्षा इस प्रकार प्रदान करनी चाहिए जिससे एक नागरिक इन सब योग्यताओं से पूर्ण हो जाय। शिक्षा को अपने उद्देश्यो में व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकास दोनों को स्थान देना चाहिए। शिक्षा इस प्रकार देनी चाहिए कि बालक का सर्वाङ्गीण विकास सम्पन्न हो सके। बालक मे तर्क शक्ति, चिन्तन शक्ति, समस्या हल करने की शक्ति का विकास हो जाय। उसकी रुचियाँ अधिक व्यापक हो जायँ और वह अवकाश का सदुपयोग करने के लिये तैयार हो सके। इसके अतिरिक्त शिक्षा मे बालक के लिये व्यावसायिक उद्देश्य को भी महत्व दिया जाना चाहिए।

भारतवर्ष में इस समय शिक्षा के उचित उद्देश्यों का निर्धारित करना नितान्त आवश्यक है। यहाँ प्रजातंत्र उसी समय स्थायी हो सकता है जब यहाँ पर दी जाने वाली शिक्षा उचित नागरिक का विकास करे। शिक्षा द्वारा अन्ध-विश्वासों को दूर किया जाय। धर्म तथा जाति निरपेक्षता के सम्बन्ध में विचारों को संगठित किया जाय। देश के विभिन्न राज्यों के नागरिकों के बीच सद्भावना को बढ़ाया जाय। उनमे आर्थिक कुशलता बढ़ायी जाये। सेकन्डरी एडूकेशन कमीशन (१९५२-५३) के अनुसार भारतीय जनतन्त्र के लिए तीन उद्देश्य उचित हैं, वे है-(१) "चरित्र का प्रशिक्षण जो विद्यार्थी को इस योग्य बना दे कि वह रचनात्मक रूप से विकसित होती हुई सामाजिक व्यवस्था मे नागरिक के कर्त्तव्य का पालन कर सके। (२) व्यावहारिक तथा व्यावसायिक कुशलता में विकास हो

1. Democracy and aims of education.

ताकि वे अपने देश की आर्थिक स्थिति सुधारने में अपना सहयोग दे सकें, तथा (३) साहित्यिक, कलात्मक और सांस्कृतिक रुचियों का विकास जो उनके आत्म-प्रदर्शन के लिए तथा सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है, जिनके बिना एक राष्ट्र की सक्रिय संस्कृति का विकास सम्भव नहीं है।[1]

जनतंत्र और पाठ्यक्रम

हमने पाठ्यक्रम की रूपरेखा क्या होनी चाहिए, इस सम्बन्ध में अध्याय १० मे प्रकाश डाला है। यहाँ इस ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि पाठ्यक्रम का निर्धारण एक प्रजातंत्र मे जनतंत्रीय आदर्शों को प्राप्त करने के हेतु होना चाहिए। यह इस प्रकार होना चाहिए कि विभिन्न क्रियाओं द्वारा, खेल द्वारा, विद्यालय की शिक्षा, सहगामी क्रियाओं द्वारा बालकों को इस योग्य बना दे कि वे जनतंत्र में सफल जीवन व्यतीत कर सकें।

पाठ्यक्रम लचीला होना चाहिए और इसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता को स्थान मिलना चाहिए। बालक की बुद्धि, योग्यता तथा आवश्यकताओ के अनुसार उनके लिए पाठ्य विषयों का चुनाव होना आवश्यक है।

जनतंत्र में पाठ्यक्रम स्थानीय साधनों के आधार पर निर्मित होना चाहिए। इसका सम्बन्ध समाज से बहुत घनिष्ट होना चाहिए।

पाठ्यक्रम मे ऐसे विषयों का भी समावेश होना चाहिए जो विद्यार्थियो को अवकाश के लिए शिक्षा प्रदान करे। अवकाश का सदुपयोग एक जनतंत्र राज्य मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अतः पाठ्यक्रम निर्धारण मे इस पर विशेष बल देना चाहिए। पाठ्यक्रम विद्यार्थियों के अनुभवो पर भी आधारित होना चाहिए।

जनतंत्र मे पाठ्यक्रम निर्धारण करने में बालकों की व्यावसायिक आवश्यकताओ को भी ध्यान में रखना चाहिए।

1. Secondary Education Commission (1952-53), "Three aims fits in democracy, "the training of character to fit the student to participate creatively as citizens in the emerging democratic social order, the improvement of their practical and vocational efficiency so that they may play their part in building up the economic prosperity of their country, and the development of their literary, artistic and cultural interests which are necessary for self-expression and for the full development of the human personality, without which a living national culture cannot come into being.

जनतंत्र और विद्यालय[1]

जनतंत्र में विद्यालय के उत्तरदायित्व बहुत अधिक है। विद्यालय समाज द्वारा समाज की भलाई के लिए स्थापित किये जाते हैं। अतएव समाज की प्रगति के लिए विद्यालयों को क्रियाशील होना आवश्यक है। प्रजातंत्र में विद्यालयों को जनतंत्रीय आदर्शों को प्रतिपादित करना चाहिए। यदि विद्यालय जनतंत्र की भावना के ऊपर कोई ध्यान न देंगे तो देश मे जनतंत्र का स्थापित रहना कठिन हो जायगा। विद्यालयों को चाहिए कि वे विद्यार्थियों को जनतत्र में रहने योग्य बना दे। इसके अतिरिक्त विद्यालयों का कर्त्तव्य यह भी है कि जनतंत्र मे जो दोष आ जायँ उन्हें दूर करने की चेष्टा करे और इस प्रकार की शिक्षा प्रदान करें कि जनतंत्र सफलता की ओर अग्रसर हो।

विद्यालय सगठन में भी जनतंत्र की भावना को उचित स्थान मिलना चाहिए। अध्यापकों को स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे स्वयं पाठ्यक्रम निर्धारित करे। उन्हें शिक्षण पद्धति और पाठ्य-पुस्तको को चुनने की स्वतन्त्रता होना आवश्यक है। कक्षा अनुशासन तथा व्यवस्था मे अध्यापक के ऊपर कोई व्यर्थ की रोक-टोक नहीं लगानी चाहिए। हमारे देश में अध्यापकों की स्वतंत्रता तथा विद्यालय संगठन में जनतन्त्र की भावना को बहुत कम महत्व दिया जाता है, यह सर्वथा अनुचित है। यदि हम चाहते है कि हमारे देश के नागरिक जनतन्त्र के आदर्शों को अपनाये तो हमे सबसे प्रथम विद्यालयों में उचित वातावरण निर्मित करना होगा। विद्यालयों में सहयोग, सहानुभूति, प्रेम इत्यादि को प्रोत्साहन देने की ओर विशेष बल दिया जाना चाहिए।

जनतन्त्र की भावना विद्यालय संगठन में उसी समय प्रभावशाली होगी जब अध्यापकों तथा प्रधानाचार्य और इन्सपेक्टर इत्यादि के आपसी सम्बन्ध मित्रता और सहयोग पर आधारित हों। यदि प्रधानाचार्य या इन्सपेक्टर अध्यापकों पर प्रभुत्व रख कर कार्य कराना चाहते हों तो विद्यालयों का वातावरण दमनात्मक हो जाता है। अध्यापक अपनी स्वेच्छा को दबाने को बाध्य हो जाते हैं; उनमें नये निर्णय करने की, नवीन विचारधारा व्यक्त करने की तथा रूढ़िवादिता को छोड़कर समाज में नव-जीवन संचार करने की शक्ति का विघटन हो जाता है। ये सब बातें जनतन्त्र की भावना के विकास को रोक देती है।

जनतन्त्र में अध्यापक

अध्यापक का महत्व जनतन्त्र राज्य मे बहुत है। एक जनतन्त्र में अध्यापक

1. Democracy and school.

का समाज में स्तर उच्च होना चाहिए। वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो समाज में उचित परिवर्तन लाकर उसे प्रगति की ओर ले जाय।

जनतन्त्र राज्य में अध्यापक में बहुत से गुण भी होने आवश्यक हैं। उसके लिए सबसे आवश्यक तो यह है कि वह इस प्रकार से प्रशिक्षित किया गया हो कि वह बालकों में जनतंत्र की भावना का विकास कर सके। उसमें यह क्षमता हो कि वह प्रत्येक बालक की योग्यताओं को समझ कर उसे इस प्रकार शिक्षा दे कि वह देश का एक अच्छा नागरिक बन सके। वह स्वयं एक ऐसे चरित्र वाला व्यक्ति हो जिसका कि समाज में आदर हो।

शिक्षण विधियाँ तथा जनतन्त्र

जनतन्त्र की भावना शिक्षण विधियों पर भी प्रभाव डालती है। वे शिक्षण विधियाँ अच्छी समझी जाती हैं जो सक्रिय हो। जनतन्त्र के उद्देश्यों को प्राप्त करने मे उस समय तक सफलता नहीं मिल सकती जब तक शिक्षण विधियाँ कठोर, परम्परागत, स्थिर तथा स्थायी रूप धारण किये रहें। जनतन्त्र का मूल सिद्धान्त क्रियाशीलता एवं प्रगतिशीलता है। समाज प्रगति के लिए सदैव सक्रिय रहता है। अतएव निष्क्रिय शिक्षण विधियों का एक जनतन्त्र देश में कोई स्थान नहीं। केवल सक्रिय विधियाँ ही प्रगतिशील समाज में व्यक्ति का व्यवस्थापन करने में योगदान दे सकती हैं।

यदि जनतन्त्र भावना के अनुसार शिक्षण विधियों का चुनाव किया जाता है तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर विशेष ध्यान रखा जाता है। बालक को शिक्षा देने से यह तात्पर्य नहीं होता कि उसके मस्तिष्क को थोथे ज्ञान से भर दिया जाय वरन् बालक को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वह सीखने की क्रिया में सक्रिय रहे। उसको स्वयं अपने अनुभव से सीखने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। मॉन्टेसरी प्रणाली, प्रोजेक्ट प्रणाली, डाल्टन प्रणाली इत्यादि बालक को सीखने में स्वतन्त्रता प्रदान करती है। इस प्रकार की सब प्रणालियाँ जनतन्त्रीय शिक्षा की विधियों की ओर संकेत करती हैं। ये प्रणालियाँ बालक के बौद्धिक तथा सामाजिक विकास दोनों ही पर बल देती है।

जनतन्त्र में अनुशासन

जनतन्त्र मे स्वानुशासन[1] पर अधिक बल दिया जाता है। दमनात्मक अनुशासन का जनतन्त्र मे कोई स्थान नहीं है। विद्यालयों में भी अनुशासन वही अच्छा समझा जाता है कि जिसमे विद्यार्थी स्वयं समझ कर अनुशासन

1. Self-discipline.

बनाये रखें। अनुशासन अध्यापक की डाँट या मार के डर से नहीं होना चाहिए। विद्यालयों में बालकों को स्वशासन के अवसर प्रदान करके अनुशासित करना जनतन्त्र की भावना के अनुकूल है। अध्यापक का कार्य केवल पथ-प्रदर्शक का होना चाहिए न कि पुलिस के इन्स्पेक्टर का। उसे चाहिए कि वह विद्यार्थियों को विद्यालय की व्यवस्था तथा विद्यालय शासन में भाग लेने को अवसर प्रदान करे। इस प्रकार बालक अपने को विद्यालय का एक अङ्ग समझने लगेंगे और वे शासन में अनुशासन की महत्ता को समझ कर स्वयं अनुशासित रहना सीख जायेंगे। विद्यार्थी परिषद्, विद्यार्थी लोक-सभा, विद्यार्थी सम्मेलन इत्यादि को जब यह स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती है कि वे अनुशासन के प्रति विनीत रहें और विद्यालय के शासन में उनको महत्वपूर्ण भाग दिया जाता है तो बहुत कुछ अनुशासनहीनता की समस्या दूर हो जाती है। परन्तु यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि जनतन्त्र चाहे वह विद्यालय मे हो चाहे समाज में, सफल उसी समय हो सकता है जब उसके सदस्य उसके लिए तैयार हों और उसके प्रति उचित दृष्टिकोण रखें। हमारे देश में यह कठिनाई है कि कॉलिज छात्र-संघ अपने अधिकारों के सम्बन्ध में तो जागरूक हो जाते है परन्तु अपने कर्त्तव्यों की ओर से उदासीन रहते हैं। इसका फल यह होता है कि अधिकारियों में और उनमें संघर्ष का सूत्रपात हो जाता है। कुछ ही वर्षों में इस प्रकार के संघर्ष के अनेकों उदाहरण हमारे सामने आये हैं।

विद्यालय के अधिकारियों तथा छात्र संघ के संघर्ष का एकमात्र उत्तरदायित्व जनतन्त्र पर नहीं थोपा जा सकता। वास्तव में इसके अनेकों दूसरे कारण हैं। बहुधा तो यह होता है कि छात्र संघ में ऐसे पदाधिकारी सत्तारूढ़ हो जाते हैं जो देश की राष्ट्रीय दल बन्दियों से सम्बन्धित होते हैं तथा जो विषमताएँ देश के राजनैतिक वातावरण में होती हैं वे सभी विद्यालयों के अन्दर स्थान पा जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति जनतन्त्र में स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता लगाते हैं। वे यह भूल जाते है कि समाज का नियन्त्रण भी जनतंत्र के लिए आवश्यक है और वे इस प्रकार किसी भी प्रकार के अनुशासन को मानने के लिये तैयार नहीं होते। ऐसी स्थिति में यदि यह किया जाय कि छात्र संघ को भङ्ग कर दिया जाय तो समस्या हल नहीं होगी। इसके विपरीत अध्यापकों का कर्त्तव्य है कि वे अपने आचरण और व्यवहार का उदाहरण प्रस्तुत करके तथा बिना छात्र संघ की स्वतन्त्रता को नष्ट किए, सहानुभूति पूर्ण रवैये से अनुशासन के प्रति विद्यार्थियों में श्रद्धा जाग्रत करें। स्वानुशासन के सिद्धान्त में कोई दोष नहीं है जो दोष हैं वे सिद्धान्त को अशुद्ध ढङ्ग से कार्यान्वित करने में हैं।

जनतंत्रीय विचारधारा की सफलता के लिए छः मूल सिद्धान्त

किलपेट्रिक[1] महोदय के अनुसार जनतंत्र की भावना की सफलता के लिए छः मूल सिद्धान्त हमारे समक्ष आते हैं।

(१) **व्यक्ति स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त**—ये शब्द विलियम जेम्स द्वारा कहे गये हैं। इनसे तात्पर्य यही है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत निर्णय की स्वतंत्रता है और वह अपने कार्यों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। जनतंत्र में बहुमत का राज्य होता है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता होती है कि वह अपना मत व्यक्त कर सके और दूसरों को अपने दृष्टिकोण की ओर आकर्षित कर सके। परन्तु व्यक्ति की इस स्वतंत्रता से तात्पर्य यह नहीं है कि वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र है, उस पर कोई बन्धन नहीं है और वह मनमानी कर सकता है। यदि ऐसा होगा और हर व्यक्ति अपनी मनमानी करेगा तो किसी भी व्यक्ति को वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकेगी। इस कारण जनतंत्र के लिए दूसरा सिद्धान्त भी महत्वपूर्ण है।

(२) **समानता का सिद्धान्त, समाज में प्रत्येक व्यक्ति को बराबर अधिकार**[2] यदि प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त होंगे तो प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता पर बन्धन लग जायंगे। प्रत्येक व्यक्ति वही करने का अधिकारी होगा जिससे दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधा न पड़े। इस सिद्धान्त से तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को विकास तथा उन्नति करने का अधिकार है और उसे ऐसे अवसर प्राप्त होने चाहिए जिससे कि वह अपने जीवन को अपनी योग्यतानुसार सबसे उत्तम बना सके।

(३) **अधिकारों में कर्त्तव्य निहित है**—[3] यह सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्त की ही एक शाखा है। जब मैं कहता हूँ कि मेरा अधिकार यह है तो इसमें दूसरों के कर्त्तव्य निहित रहते है। मेरे अधिकार उसी समय मुझे प्राप्त हो सकते है जब दूसरे अपने कर्त्तव्यों को निबाहने के लिये तत्पर हों। जैसे यदि मुझे शान्ति पूर्ण जीवन व्यतीत करने का अधिकार है तो दूसरों का कर्तव्य यह है कि वे मुझे व्यर्थ न सताएँ। अतएव हर एक व्यक्ति को जनतंत्र में अपना ही भला नहीं देखना है वरन् दूसरों के भले का विचार करना भी उसके लिए आवश्यक है।

(४) **लोक-कल्याण के लिए पारस्परिक सहयोग द्वारा प्रयत्न करना**[4]—जनतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति की भलाई पर ध्यान दिया जाता है। इस कारण

1. Kilpatrick : Philosophy of Educalion, pp. 139-146. 1. The principle of Equality : Equal rights for all." 2. Rights imply Duties, 3. Cooperative effort for the common good.

प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह सामान्यतः सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए प्रयत्नशील रहे। यदि ऐसा नहीं होगा तो प्रत्येक व्यक्ति अपने ही लाभ की बात सोचेगा, हर व्यक्ति अपनी डेढ ईंट को मजजिद अलग बसायेगा और इस प्रकार जनहित और लोक-कल्याण का कोई महत्व नहीं रहेगा। ऐसी दशा में जनतंत्र की जड़ें हिल उठेंगी।

(५) **बौद्धिक स्वातन्त्र्य में विश्वास, बल प्रयोग और हिंसा में नहीं वरन् वाद-विवाद द्वारा समझाने-बुझाने और शान्तिमय एवं वैधानिक तरीकों मे विश्वास**—बुद्धि का उपयोग मानव सदैव करता आया है। परन्तु यहाँ जिस रूप में बुद्धि का उपयोग आवश्यक समझा गया है वह है वैज्ञानिक विधि। जनतंत्र की सफलता वहाँ के नागरिकों द्वारा वैज्ञानिक विधि का प्रयोग अपने निर्णय इत्यादि में करने पर निर्भर है।

बुद्धि का उपयोग स्वतंत्रता पूर्वक होना चाहिए। जॉन मिल्टन "स्वतन्त्रता पूर्वक" से तात्पर्य समझते हैं "जानने की, बात करने की तथा वाद-विवाद करने की चेतना के अनुसार स्वतंत्रता।" उन्होंने इसे "सब स्वतंत्रताओं से उच्च" माना है।[1] शिमर महोदय के अनुसार, "केवल चिन्तन और वाणी की सम्पूर्ण स्वतंत्रता द्वारा ही मानव एक स्थायी और अच्छे संसार की आशा कर सकता है।[2] संयुक्त राष्ट्र की "मानव सर्वाधिकार सम्बन्धी घोषणा" अपनी १९ वीं धारा में व्यक्तिगत अधिकारो के सम्बन्ध में इस प्रकार से वर्णन करती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्मति देने और विचार अभिव्यक्त करने का पूर्ण अधिकार है। इस अधिकार के अन्तर्गत किसी भी वस्तु के प्रति बिना बाधा के अपना स्वतन्त्र मत रखने, उसे व्यक्त करने, दूसरों से मत लेने तथा बिना किसी प्रतिबन्ध के अपने विचारों और आदर्शों को किसी माध्यम से व्यक्त करना है।[3] बिना इस प्रकार की स्वतन्त्रता के 'बुद्धि

1. John Milton called this, "free play" the liberty to know to utter and to argue freely according to conscience," and he counted this above all liberties.

2. W A. Shimer American Scholar : "only by absolute freedom to think and speak can man dare tope for permanently better world.

3. The Universal Diclaration of Human Rights by the United Nations thus summed up in its Article 19, this question of personal rights, "Everyone has the right to freedom of opinion and expression, this right includes freedom tohold opinions without interference and to seek, receive and impart information and ideas through any media and regradless of forntiers,"

के स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयोग[1] का सिद्धान्त अर्थहीन है। क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा तो बुद्धिमत्ता के साथ कार्य करने की कोई प्रभावशाली स्वतन्त्रता नहीं होगी।

जनतंत्र में इस प्रकार के अधिकार व्यक्ति तथा जनता दोनों को प्राप्त होने चाहिए ताकि व्यक्ति स्वतन्त्रता पूर्वक अपने विचार व्यक्त कर सके और वह यह भी सुन सके कि दूसरों के विचार क्या हैं? जनतंत्र की सफलता के लिए इस प्रकार की स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है। निरंकुश शासन में अथवा अधिनायक तन्त्र में मानव अपने विचार स्वतन्त्रता पूर्वक व्यक्त नहीं कर सकता। उस पर हर प्रकार के नियंत्रण लगाये जाते हैं और उसके लिए निर्णय सरकार द्वारा दिये जाते हैं। उसके विचारों को ऐसा मोड़ दिया जाता है कि वह हर प्रश्न पर एक ही पहलू से विचार करे। वह पहलू राज्य सरकार द्वारा ही निर्धारित होता है। वर्तमान काल में झूठे प्रचार इत्यादि भी विचारों की स्वतन्त्रता को नष्ट कर रहे हैं। कुछ देशों में व्यक्तियों को राज्य सरकार के विरुद्ध या राज्य सरकार की किसी भी नीति की आलोचना करने का अधिकार नहीं है। यदि इन देशों का कोई भी नागरिक आलोचना का साहस करता है तो उसे क्रूरता पूर्वक दबा दिया जाता है। सजा के भय से उसका मुँह बन्द कर दिया जाता है। कहीं-कहीं तो ऐसे स्वतन्त्र आलोचकों को गोली से उड़ा दिया जाता है।

जनतंत्र एक ऐसी भावना पर आधारित है जो मानवों के साथ उपरोक्त व्यवहार को घृणा की दृष्टि से देखती है। जनतंत्र में बिना किसी भय के नागरिकों को अपना मत प्रदान करने की स्वतंत्रता होती है। उन्हे इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे विचार विमर्श द्वारा तथा आपस में विचारों के आदान प्रदान द्वारा ऐसे निर्णय पर आयें जो जनहित के उपयोगी हों।

(६) **विचार-विमर्श की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त**—यह सिद्धान्त पाँचवें सिद्धान्त का ही एक उप सिद्धान्त है परन्तु यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जनतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतंत्रता होती है कि वह स्वयं अपने लिए चिन्तन करे और अपने विचारों तथा विश्वासों को दूसरों के समक्ष रखे। उसे स्वतंत्रता होती है कि वह अपने विचारों को उस समय भी व्यक्त कर सके जब वे दूसरे व्यक्तियों के विचारों से मेल न खाते हों। इसके साथ साथ वह अपने विचारों को दूसरों से सहमत भी बना सकता है और दूसरों को अपने विचारों के अनुकूल भी।

---

1. Freedom of discussion.

जनतंत्र में प्रत्येक समस्या पर सार्वजनिक रूप से विचार विमर्श होता है। सार्वजनिक विचार विमर्श ही जनतंत्र की सफलता का द्योतक होता है। यहाँ कोई व्यक्ति अपना मत दूसरों पर शक्ति या डंडे के जोर से नहीं थोप सकता वरन् उसे अपने मत को इस प्रकार दूसरों के समक्ष रखना होगा कि वे उससे सहमत हो जायं। वह अपने मत की विशेषताओं और जन-हित के लिए उसका महत्व व्यक्तियों को बतला सकता है और यदि वे सन्तुष्ट हो जाते हैं तो ही उसका मत सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया जा सकता है।

अन्त में हम जनतंत्र के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण उदाहरण के साथ इस अध्याय का अन्त करते हैं। अलेक्जेंडर मेकिलेजोन महोदय का कथन है कि "जनतंत्र की कला स्वतंत्रता पूर्वक सहयोग के साथ चिन्तन करने की कला है।[१]"

सारांश

ड्यूवी महोदय के अनुसार जनतंत्र मुख्यतः एक प्रकार से अनुभवों द्वारा प्रतिपादित भाई चारे के साथ जीवन बिताने की रीति है।

जनतंत्र जीवन के सब क्षेत्रों के लिए है। इनके सिद्धान्तो को राजनीनिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में प्रयोग किया जा सकता है।

जनतंत्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि (१) जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी हो, (२) जन-शिक्षा की व्यवस्था हो।

जनतंत्र के लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। प्रजातंत्र राज्य में एक उत्तम नागरिक के गुण जिन्हें शिक्षा द्वारा विकसित करना चाहिए वे है (अ) आत्मानुभूति, (ब) मानवीय सम्बन्ध, (स) आर्थिक कुशलता, और (द) नागरिक उत्तरदायित्व।

जनतंत्र की शिक्षा का उत्तरदायित्व दोनों प्रकार—अविधिक तथा सविधिक-शिक्षा के साधनों पर है। जनतंत्र की शिक्षा सबसे प्रथम परिवार में ही दी जाती है। विद्यालय सबसे महत्वपूर्ण संस्था है जो जनतंत्र के लिये उचित

---

1. Alexander Meiklejnhn : "The art of democracy is the art of thinking indepenedntly together".

शिक्षा का प्रबन्ध कर सकती है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेकों अविधिक साधन जनतंत्र के लिए शिक्षा प्रदान करने में सहायता कर सकते हैं।

संविधान को दृष्टि में रखते हुये भारत के लिये जनतंत्रीय शिक्षा का आयोजन होना आवश्यक है। जनतंत्र के आदर्शों को देश के नागरिकों के समक्ष शिक्षा द्वारा रखा जाना चाहिए।

जनतन्त्रीय समाज में शिक्षा के उद्देश्य की अभिव्यक्ति "उचित नागरिक के पूर्ण विकास में निहित है।"

पाठ्यक्रम का निर्धारण प्रजातन्त्र में जनतन्त्रीय आदर्शों को प्राप्त करने के लिये होना चाहिए।

प्रजातन्त्र में विद्यालयों को जनतन्त्रीय आदर्शों को प्रतिपादित करना चाहिए। विद्यालय संगठन में भी जनतन्त्र की भावना को उचित स्थान मिलना चाहिए। अध्यापकों को पाठ्यक्रम निर्धारण, पाठ्य-विधि अपनाने, पाठ्य-पुस्तकें चुनने इत्यादि की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। अध्यापकों, प्रधानाचार्य, इन्सपेक्टर इत्यादि के आपसी सम्बन्ध में सद्भावना का समावेश होना चाहिए।

जनतन्त्र में अध्यापक के उत्तरदायित्व बहुत हैं। इस कारण ऐसे समाज में बहुत ही गुणवान अध्यापकों की आवश्यकता है। उन्हें समाज में उच्च स्थान मिलना भी आवश्यक है।

जनतन्त्र की भावना के विकास के लिए सक्रिय शिक्षण विधियों की आवश्यकता है। इन विधियों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर विशेष बल देना चाहिए।

जनतन्त्र समाज में स्वानुशासन का सिद्धान्त ही उचित समझा जाता है। इस सिद्धान्त में कोई दोष नहीं हैं जो दोष है वे इस सिद्धान्त को गलत ढङ्ग से कार्यान्वित करने में है।

किलपेट्रिक महोदय के अनुसार जनतन्त्र की भावना की सफलता छः मूल सिद्धान्तों पर निर्भर है—

(१) व्यक्ति स्वातन्त्र्य।
(२) समानता का सिद्धान्त।
(३) अधिकारों में कर्त्तव्य निहित होने का सिद्धान्त।
(४) जनहित के लिए सहयोग द्वारा प्रयत्न करने का सिद्धान्त।
(५) बौद्धिक स्वातन्त्र्य में विश्वास।
(६) विचार-विमर्श की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. किस सीमा तक और किस प्रकार शिक्षा जनतन्त्रीय आदर्शों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान कर सकती है ?

२. आप जनतन्त्र के लिए शिक्षा से क्या समझते हैं। एक जनतन्त्रीय राज्य में शिक्षा में क्या विशेषताएँ होनी चाहिए ?

३. एक निबन्ध "प्रजातन्त्र में शिक्षा" पर लिखिए।

४. विद्यालय शिक्षण में जनतन्त्र के लिए शिक्षा किस प्रकार दी जा सकती है ? एक आदर्श कार्यक्रम जो भारत के विद्यालयों में लागू होना चाहिए उसका वर्णन कारण सहित लिखिए।

५. भारतीय संविधान को ध्यान में रखते हुए यहाँ के शैक्षिक कार्यक्रम का मूल्यांकन कीजिए।

६. भारतीय जनतन्त्र की सफलता में क्या-क्या बाधायें हमारे समक्ष हैं ? एक शिक्षक के नाते इन बाधाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए आप क्या करेंगे ?

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) जान ड्यूवी : **एडूकेशन ऑफ डिमोक्रेसी।**
(२) सिडनी हुक : **एडूकेशन फॉर मार्डन मेन।**
(३) किलपैट्रिक : **फिलासफी ऑफ एडूकेशन।**
(४) प्रेमनाथ : **दि बेसेज ऑव एडूकेशन।**
(५) ह्वाइटहेड ; **ऐम्स ऑव एडूकेशन।**

—: o :—

अध्याय २२

अवकाश के लिए शिक्षा[1]

हमने पिछले अध्याय में संकेत किया है कि जनतंत्र की सफलता इस बात पर भी निर्भर है कि जनतन्त्रीय समाज के नागरिक अवकाश का सदुपयोग करते हो। यह कहा जाता है कि व्यक्ति यदि अपने अवकाश का दुरुपयोग करेंगे तो समाज में अनेकों दोष उत्पन्न हो जायेंगे और व्यक्तिगत जीवन का स्तर निम्न हो जायगा। वर्तमान शिक्षा शास्त्री इसी कारण अवकाश के सदुपयोग के लिए शिक्षा पर बल देते हैं। परन्तु इससे पहिले कि हम अवकाश के लिए शिक्षा पर दृष्टि डालें हमें अवकाश का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना चाहिए।

अवकाश का अर्थः

डा० रंगनाथन के अनुसार अवकाश ऐसे **खाली समय को कहते हैं जो किसी शारीरिक, आर्थिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी या आध्यात्मिक आवश्यकता के कारण किये कार्य से घिरा नहीं रहता है।**[2] इड़ा क्रेवन के अनुसार अवकाश से तात्पर्य ऐसी क्रियाओं से स्वतंत्रता हो जो जीविका उपार्जन के लिए

---

1. Education for Leisure.

1. Dr. Ranganathan, Education for leisure, "identifies leisure with the time that is unoccupied with work forced by physical, economic, hygine or spiritual necessities.

की जाती हैं।[1] अवकाश वह समय है जब एक व्यक्ति अपना मनचाहा कार्य कर सकता है। अवकाश से तात्पर्य उस समय से है जिसमें कोई ऐसा कार्य न किया जाय जिसे व्यक्ति को बाध्य होकर आवश्यक रूप से करना पड़े।

अवकाश और आलस्य मे अन्तर है। आलस्य से तो यह अर्थ निकलता है कि व्यक्ति जब उसे कोई कार्य आवश्यक रूप से करना है तब भी न करे और हर समय सुस्ती दिखाये। अवकाश से तात्पय है कार्य करने के पश्चात् का वह समय जब व्यक्ति अपना आवश्यक कर्त्तव्य पूरा कर चुका है और उस समय उसे अपने मनचाहे कार्य को करने की स्वतंत्रता है। यह वह समय होता है जब वह अपना मन बहलाव कर सकता है। दफतर में या विद्यालय मे या दूकान पर या कारखानों इत्यादि मे जब व्यक्ति कार्य करके और अपने उत्तरदायित्व को निभाकर जब छुट्टी पाता है तो उसके अवकाश के समय का आरम्भ होता है। ऐसे समय में वह यदि खाली बैठा रहे और कुछ न करे तो यह उसका आलस्य कहलायगा परन्तु यदि वह इस समय में कुछ ऐसी क्रियाओं में व्यस्त हो जाय जो उसके व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास मे सहायक हों और समाज के नियमों के विरुद्ध न हो तो वह अवकाश का सदुपयोग करने वाला कहलायेगा।

अवकाश के सदुपयोग का महत्व

वर्तमान काल में मनुष्यों को प्राचीन काल की अपेक्षा कही अधिक अवकाश प्राप्त है। विज्ञान के आधुनिक विकास से पहिले केवल उच्च स्तर पर धनी व्यक्तियों को अवकाश प्राप्त था। एक साधारण व्यक्ति को बहुत कम ही समय अपने कार्य से छुटकारा मिलता था। उसको बहुत कठिन परिश्रम करना पड़ता था और जीवन पर्यन्त वह काम में जुटा ही रहता था। परन्तु मशीनों के अविष्कार के कारण अब एक मजदूर को भी अवकाश प्राप्त होने लगा है। उसे न तो उतना ही कठिन परिश्रम करना पड़ता है जितना कि वह पहिले करता था और न उसे उतने समय तक ही कार्य करना पड़ता है। किन्तु यह अवकाश जो उसे प्राप्त हो गया है इसका उपयोग कैसे किया जाय? यह वर्तमान यांत्रिक-युग की एक गम्भीर समस्या है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि आने वाले युग में विभिन्न कार्यों मे मशीन ही व्यक्ति का स्थान ले लेंगी जितने निम्न कोटि के और श्रमक परिश्रम के कार्य

1. Ida craven, "Leisure means simply freedom from activities, centring round the making of a livelihood.

इस समय भी व्यक्तियों द्वारा किये जाते है वे सब मशीनों द्वारा होने लगेगें और इस प्रकार मानवों को बहुत अवकाश का समय प्राप्त हो जायगा। बरट्रेन्ड रसेल[1] महोदय का तो यह कथन है कि एक साधारण व्यक्ति को तो इस समय भी एक दिन में केवल चार घंटे कार्य करने की आवश्यकता पड़ेगी यदि विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और उपभोग में विभिन्न राष्ट्रों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग हो। अवकाश के समय के बढ़ने के साथ यदि अवकाश के उचित उपयोग की शिक्षा नहीं है तो समाज का पतन अनिवार्य है क्योंकि खाली समय में मानव बिना किसी उचित शिक्षण के बुरे रास्ते को अपनाने लगेगा। पुरानी कहावत के अनुसार खाली मस्तिष्क शैतान का घर होता है।

अवकाश का सदुपयोग काम के लिए भी लाभप्रद है। एक व्यक्ति जो अवकाश का उचित उपयोग करता है वह अपने काम के समय उसमें रुचि लेता है और उसका अच्छे ढंग से उपयोग करने के लिए उत्साहित रहता है। ऐसे व्यक्ति का मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा रहता है और वह अपने काम में उच्च कुशलता प्राप्त करता है। औद्योगिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में बहुत से प्रयोग इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि जहाँ कर्मचारियों को संगठित तथा उपयोगी अवकाश की सुविधायें प्रदान की जाती हैं उन औद्योगिक कारखानों इत्यादि में प्रति व्यक्ति उत्पादन की मात्रा अधिक होती है। अतएव अवकाश के उपयोग की शिक्षा अप्रत्यक्ष रूप से काम की शिक्षा ही है।

अवकाश के लिए शिक्षा की आवश्यकता

यह देखा गया है कि अवकाश के लिये बिना शिक्षा दिये हुए व्यक्ति अवकाश का सदुपयोग करना नहीं सीख पाते। बालक को आरम्भ से ही अवकाश की शिक्षा देना आवश्यक है अन्यथा वह बड़ा होकर अवकाश के समय को नष्ट कर देता है। यदि बालक का विकास इस प्रकार से हुआ है कि वह अवकाश के समय में उचित क्रियाओं को करना सीख गया है तो वे बड़े होकर उन्हीं या उसी प्रकार की क्रियाओं को करने की मनोवृति रखते हैं और इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का विकास उचित दिशा में होता है।

अवकाश का दुरुपयोग बहुत से ऐसे कार्यों में होता है; जैसे—गप्प लड़ाना, सोते रहना, अफवाहें उड़ाना, निम्न प्रकार के मनोरंजन में रुचि लेना, नशा करना इत्यादि। इस प्रकार का व्यवहार उन्हीं व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जिन्हें अवकाश के उपयोग के सम्बन्ध में कोई शिक्षा नहीं मिली है। हमारे देश के नवयुवकों में बहुत से ऐसे दुर्गुण वर्तमान समय में दिखाई पड़ते हैं।

---

1 Bertrand Russell.

किसी भी चौराहे पर विद्यालय के पास शाम को झुन्ड के झुन्ड विद्यार्थी मिल जायेंगे जिनका काम केवल गप्प लड़ाना होगा या आपस में अश्लील हँसी मजाक करना या रास्ता चलती युवतियों से छेड़छाड़ करना। इस प्रकार के व्यवहार के अनेकों कारणों में से मुख्य यही है कि उन्हें इसके अलावा अवकाश के उपयोग के सम्बन्ध में कुछ पता ही नहीं है। वे यह नहीं जानते कि इस समय का इससे अच्छा उपयोग भी कर सकते है। यह सब दोष उनको दी जाने वाली शिक्षा पर ही है। उन्हें बाल्यकाल से ही यह नहीं सिखाया गया कि वह अपने अवकाश के समय में क्या करे।

अवकाश के लिए शिक्षा देते समय किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए ?

अवकाश के लिए शिक्षा देने में यह याद रखना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति एक ही प्रकार की क्रियाओं में रुचि नहीं ले सकता। रुचि की विभिन्नता तथा व्यक्ति के काम की रूप रेखा को ध्यान में रखकर ही अवकाश के लिए शिक्षा देनी चाहिए।

व्यक्ति उस समय प्रसन्नता का अनुभव करता है जब उसे आत्म-प्रदर्शन के अवसर प्राप्त होते हैं। जिसमे सृजनात्मक प्रवृत्ति होती है, वह रचनात्मक कार्यों में रुचि लेता है। अवकाश के लिए शिक्षा देते समय इन सभी बातों का ध्यान में रखना चाहिए। बालक को अवकाश के समय ऐसी क्रियाओं को करने को प्रोत्साहित किया जाय जो उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रकाशन का अवसर दें। इस प्रकार उसका मनोरंजन भी होगा और उसके व्यक्तित्व का विकास भी उचित दिशा में होगा।

यदि मनोरंजन के साधन उपयुक्त होते है तो व्यक्ति के अवरुद्ध संवेगों को प्रकाशन का अवसर मिल जाता है। वह चिन्ताओं इत्यादि से मुक्त होकर प्रफुल्ल चित्त हो जाता है। रूखे-सूखे काम के करने मे जो मानसिक तनाव उसमें घर जाते हैं वे मनोरंजन द्वारा ढीले पड़ जाते है और व्यक्ति फिर अपने को ताजा समझने लगता है तथा कठिन परिश्रम के लिए तैयार हो जाता है। इसलिये यह आवश्यक है कि अवकाश के लिए शिक्षा देते समय मनोरंजन पर अधिक बल दिया जाय। व्यक्ति को सिखाया जाय कि मनोरंजन के उपयुक्त साधन क्या हैं ? और किस प्रकार उनका उपयोग करके वह अपने तनावों को कम कर सकता है।

अवकाश का दर्शन यह है कि व्यक्ति यदि कोई कार्य को देर तक करता रहता है तो वह थक जाता है और आराम की आवश्यकता अनुभव करता है। परन्तु विभिन्न व्यवसाय में लगे हुए मनुष्यों का विभिन्न प्रकार से मनोरंजन होता है। एक दिन भर मेहनत मजदूरी करने वाला व्यक्ति काम करने के

पश्चात् बैठ कर कुछ पढ़ना या गृह खेलों का खेलना पसन्द करता है जबकि एक बैठे-बैठे काम करने वाला दौड़ भाग के खेलों द्वारा अपना मनोरंजन करना चाहता है। अवकाश के लिए शिक्षा देते समय इस बात को भी ध्यान रखना चाहिए। बालक को घर के खेलों तथा मैदान में खेलों दोनों में रुचि लेना सिखाना चाहिए जिससे बड़ा होकर वह बालक जैसा व्यवसाय अपनाये उसी के अनुसार अपना मनोरंजन उचित ढंग से कर सके।

अवकाश के लिए शिक्षा देने में एक और बात ध्यान देने योग्य है। मनोरंजन की क्रियाओं के साथ-साथ सामाजिक और नैतिक मूल्य भी सम्बन्धित हैं। खेल, प्रतियोगिताएँ इत्यादि के नियमों को जब बालक मान कर चलता है तो उसमें नैतिकता की भावना का विकास होता है। जब वह किसी टीम में दूसरे साथियों के साथ मिलकर खेलता है तो वह सामाजिक मूल्यों को समझने में सफल होता है। खेल-कूद अथवा दूसरे मनोरंजनों द्वारा जब व्यक्ति एक-दूसरे के सन्निकट आते है तो वे एक-दूसरे की भावनाओं का आदर करना सीख जाते ह और इस प्रकार उनमें सामाजिकता तथा नैतिकता का विकास होता है। अतएव अवकाश के लिए शिक्षा देते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि यह शिक्षा इस प्रकार से दी जाय जिससे बालकों में नैतिकता तथा सामाजिकता का विकास हो।

अवकाश के लिए शिक्षा किस प्रकार दी जाय ?

अवकाश के लिए शिक्षा देना सरल कार्य नहीं है। ऐसी शिक्षा का सगठन बहुत ध्यान पूर्वक करना चाहिए। शिक्षा की प्रकृति इत्यादि के सम्बन्ध में निर्णय लेने से पहिले यह आवश्यक है कि अनुसंधानों द्वारा यह पता लगा लिया जाय कि विभिन्न आयु-स्तर पर बालकों की मनोरंजन सम्बन्धी क्या रुचियाँ होती हैं। फिर इन्हीं रुचियों के अनुसार शिक्षा का आयोजन किया जाय। क्योंकि इस समय तक हमारे पास कोई विश्वस्त तथ्य इस प्रकार के नहीं है जो बालकों की विभिन्न आयु-स्तर पर रुचियों की ओर संकेत करे। हमें चाहिए कि विद्यालयो में बहु प्रकार के मनोरंजन के साधनों का आयोजन करें जो हर एक प्रकार की रुचि वाले बालक की आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

विद्यालयों में अवकाश के लिए शिक्षा देने के लिए एक अच्छे अध्यापक या नेता की आवश्यकता है। यह अध्यापक दूसरे अध्यापकों का सहयोग प्राप्त करके बालकों को अवकाश के समय में उचित प्रकार के मनोरंजन में भाग लेने को प्रोत्साहित करेगा। अध्यापक जो इस प्रकार की शिक्षा देने के लिए चुना जाय उसे बालकों का प्रेम प्राप्त होना चाहिए। डंडे के जोर से कार्य कराने वाला अध्यापक बालकों को लाभ के स्थान पर हानि ही पहुँचायेगा। अवकाश के लिए

शिक्षा देने वाले अध्यापक में गुण होने चाहिए—(१) सहानुभूति पूर्ण तथा प्रेम पूर्वक व्यवहार करने की योग्यता, (२) बालकों को संगठित करने की योग्यता, (३) विभिन्न आयु-स्तर पर बालकों की रुचियों तथा प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे ज्ञान, (४) मौलिकता तथा कल्पना, (५) मनोरंजन के साधन सम्बन्धी उचित ज्ञान।

अवकाश के समय की क्रियाएँ

अवकाश के समय की क्रियाओं का विद्यालय में उचित संगठन होना चाहिए। बालक को अवसर मिलना चाहिए कि वह इन विभिन्न क्रियाओं में भाग लेकर अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। क्रियाएँ यदि सावधानी पूर्वक चुनी जायेंगी तभी वह बालक के लिए लाभदायक सिद्ध होंगी। इनका चुनाव करने में इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए :—

(१) वे प्रत्येक आयु स्तर पर के बालक का रुचि के अनुसार हो।

(२) वे बालक की मूल आवश्यकताओ को ध्यान में रखती हों।

(३) वे बालक की सृजनात्मक तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों को प्रकाशन का अवसर प्रदान करे।

(४) उनके द्वारा बालक के संवेगात्मक व्यवस्थापन में सहायता पहुँचती हो।

(५) वे बालक को उचित सामाजिक अनुभव प्रदान करें।

(६) वे मानव की मूल प्रेरणाओं का शोधन करें और उन्हें समाज द्वारा स्वीकृत मार्गों की ओर मोड़ दें जिससे बालक के व्यक्तित्व का विकास उचित प्रकार से हो।

(७) वे बालकों को अच्छे मनोरंजन प्रदान करें।

(८) वे जाति या समाज की परम्पराओं के अनुकूल ही हों।

और (९) वे बालकों को मानसिक रूप से तथा शारीरिक रूप से स्वस्थ बनायें।

वे क्रियाएँ जो एक विद्यालय मे उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित की जा सकती है अनेको है। यहाँ हम संक्षेप में कुछ महत्वपूर्ण क्रियाओ का वर्णन करेंगे।

(१) **खेल-कूद की क्रियाएँ**—प्रत्येक विद्यालय में खेल-कूद की क्रियाओं का आयोजन होना चाहिए। ये क्रियायें बालक की शारीरिक वृद्धि मे सहायक होती हैं। इसके अतरिक्त इनमे मनोरंजन और सामाजिकता का विकास निहित रहता है। ये बालक के मानसिक सन्तुलन के लिए आवश्यक हैं। खेल-कूद की क्रियाओ में शारीरिक व्यायाम, क्रीड़ा-प्रतियोगिता, क्रिकेट, हॉकी, फुटबाल, बालीबाल, कबड्डी, बैडमिंटन, टैनिस इत्यादि का आयोजन होना चाहिए। इन

खेलों द्वारा बालक में सामूहिक सहयोग, अनुशासन, आत्म शासन इत्यादि के गुणों का विकास हो जाता है।

इन खेलों के अतिरिक्त विद्यालयों में आभ्यन्तर खेलों[1] का भी प्रबन्ध होना चाहिए।

(२) **प्रिय व्यापारों**[2]—प्रिय व्यापार द्वारा अवकाश के समय का सदुपयोग बहुत ही सुन्दर ढंग से होता है। यह बालक को मनोरंजन के साथ-साथ उचित अनुभव भी प्रदान करते हैं जो उसके व्यक्तित्व के विकास में अत्यन्त सहायता पहुँचाते है। विद्यालयो में फोटोग्राफी, चित्रकला, सिक्के या टिकट इकट्ठे करना इत्यादि प्रिय व्यापारों मे से किसी एक को बालक को चुनने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

(३) **उल्लास-यात्राएं, वन-विहार इत्यादि**[3]—विद्यालयों में बालकों को उल्लास यात्राओं और वन-विहार को जाने को प्रोत्साहित करना चाहिए। ये यात्राएं बालक की मूल प्रेरणाओं को उचित मार्गों में प्रकाशन का अवसर देती हैं। विद्यालय जीवन से जो थकान और नीरसपन बालक अनुभव करता है उसे इन अवकाश की क्रियाओं मे भाग लेकर दूर कर सकता है। वह इन क्रियाओं द्वारा नई स्फूर्ति और शक्ति से भर जाता है।

(४) **स्काउटिंग, एन० सी० सी०, ए० सी० सी० इत्यादि**[4]—ये क्रियायें बालकों मे विशेष प्रकार की अभिरुचियाँ तथा योग्यताएँ उत्पन्न करती हैं। इन क्रियाओं द्वारा बालक में अनेकों गुणों का विकास भी हो जाता है। वे गुण हैं स्फूर्ति, सेवा, कर्मठता, कार्यक्षमता, चतुरता, विनय, अनुशासन, व्यावहारिक बुद्धि, समाज-सेवा, उत्तम व्यवहार, नेताओं के प्रति श्रद्धा, राज्य के प्रति भक्ति कठिन परिस्थिति का मुकाबला करने की शक्ति। इस प्रकार ये क्रियायें बालक के चारित्रिक, शारीरिक तथा मानसिक विकास में सहयोग देती हैं।

(५) **समाज-सेवा-क्रियाएँ**—समाज सेवा, श्रमदान इत्यादि की क्रियाये भी अवकाश के समय का सदुपयोग में ही महत्वपूर्ण हैं। इन क्रियाओं द्वारा बालक के चरित्र का तो विकास होता ही है, इसके अतिरिक्त राष्ट्र की सेवा भी होती है। यह सामाजिकता तथा देश-प्रेम की भावना में वृद्धि करने में बहुत सहायता प्रदान करती हैं।

(६) **साहित्यिक क्रियाएँ**—ये क्रियाएँ छात्रों के मानसिक विकास में बहुत महत्वपूर्ण भाग लेती है। ये उनका बौद्धिक विकास करती हैं और उन्हें व्याव-

---

1. Indoor games, 2. Provision for hobbies, 3. Picknicking and hiking etc. 1. Scouting, Nattonal Cadet Corps, A.C.C. etc.

हारिक ज्ञान प्रदान करती हैं। जिन इस प्रकार की क्रियाओं का विद्यालयों में आयोजन किया जा सकता है उसमें से कुछ हैं-साहित्यिक गोष्ठी, वाद-विवाद, व्याख्यान, अन्त्याक्षरी, कवि सम्मेलन, लेख प्रतियोगिता, वाचनालय-अध्ययन, भाषण प्रतियोगिता इत्यादि। वाद-विवाद प्रतियागिता इत्यादि से छात्रों में आत्माभिव्यंजन की क्षमता उत्पन्न होती है। कवि सम्मेलन इत्यादि उनमें सौंदर्यानुभूति की भावना को प्रोत्साहित करते है।

और (७) **नाटक इत्यादि**[1]—नाटक इत्यादि में भाग लेने को भी बालकों को प्रोत्साहित करना चाहिए। नाटक द्वारा बालक अपने व्यक्तित्व की संकीर्णता से निकल आता है और अधिक व्यापक ढङ्ग से सामाजिक जीवन मे भाग लेता है। उसके ऊपर से बहुत से नियंत्रण उठ जाते है और उसे आत्म-प्रकाशन के अवसर मिल जाते है। नाटक खेलने में जो गुण बालक मे विकसित हो जाते है वे है : सामाजिकता, आत्म-प्रदशन, मानसिक स्वास्थ्य इत्यादि।

सारांश

अवकाश से तात्पर्य उस समय से है जब एक व्यक्ति अपना मनचाहा कार्य कर सकता है। यह वह समय होता है जब वह अपना मन बहलाव कर सकता है। अवकाश और आलस्य में अन्तर है।

अवकाश के सदुपयोग का महत्व—वर्तमान समय में न केवल धनी व्यक्तियों को वरन् सब नागरिकों को अवकाश प्राप्त होता है। मशीनों के अधिकाधिक प्रयोग से आने वाले समय में व्यक्तियों को और अधिक अवकाश प्राप्त होगा। इस कारण अवकाश के उचित उपयोग की शिक्षा व्यक्तियों को देना आवश्यक है। अवकाश का सदुपयोग काम के लिए भी लाभप्रद है।

अवकाश के लिये शिक्षा की आवश्यकता अवकाश के सदुपयोग को सिखाने के लिए है। बालक को प्रारम्भ से ही यदि अवकाश के लिए शिक्षा दी जाय तो उसके व्यक्तित्व का विकास उचित शिक्षा में होता है।

अवकाश के लिए शिक्षा देते समय इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए—(१) रुचि की विभिन्नता, (२) आत्म-प्रदर्शन के अवसर, (३) मनोरंजन के उपयुक्त साधन, (४) विभिन्न काम के आधार पर विभिन्न अवकाश के समय की क्रियाएँ, (५) सामाजिक और नैतिक मूल्यो को प्राप्त करने पर बल।

अवकाश के लिए शिक्षा देने में बहु प्रकार के मनोरंजन के साधनों का

1. Dramitics etc.

आयोजन होना चाहिए। एक या अधिक अच्छे अध्यापकों को इस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए अवकाश के समय की क्रियाएँ जो विद्यालय में आयोजित की जा सकती हैं, वे हैं—

(१) खेल-कूद की क्रियाएँ, (२) प्रिय व्यापार, (३) उल्लास यात्राएं, वनविहार इत्यादि, (४) स्काउटिंग, एन० सी० सो०, ए०सी०सी० इत्यादि, (५) समाज सेवा की क्रियाएँ, (६) साहित्यिक क्रियाएँ और (७) नाटक इत्यादि।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. अवकाश के व्यावहारिक उपयोग क्या हैं? वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में अवकाश का उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है?
२. अवकाश हमारे समक्ष क्या समस्याएँ प्रस्तुत करता है? इन समस्याओं का समाधान किस प्रकार से हो सकता है?
३. अवकाश के लिए शिक्षा का क्या महत्व है? विद्यालय में आप किस प्रकार की क्रियाओं को प्रोत्साहित करेंगे जिनके द्वारा बालक अवकाश का सदुपयोग सीख लें?
४. यदि अवकाश के लिए शिक्षा न दी जाय तो समाज में क्या विषमताएँ उत्पन्न हो जायेंगी।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) रंगानाथन : **एडूकेशन फॉर लेजर**।
(२) अमेरिकन यूथ कमीशन : **युथ एण्ड दी फ्युचर**।
(३) प्रेमनाथ : **दि बेसेज आफ एडूकेशन**।
(४) भाटिया : **थ्योरी आफ एडूकेशन एण्ड हिस्ट्री ऑफ ऐडूकेशनल थौट**

—: ० :—

पर शिक्षा का संगठन किया। इस समय भी हमारी शिक्षा प्रणाली का संगठन इसी घोषणा-पत्र पर आधारित है। परन्तु इस घोषणा-पत्र द्वारा जिस शिक्षा पद्धति पर बल दिया गया था वह अपने दृष्टिकोण में सर्वथा विदेशी थी। उसमें भारत की संस्कृति एवं परम्परा को लेश मात्र भी ध्यान नहीं रखा गया था। वास्तव में यह शिक्षा भारतीयों को उनके देश में ही विदेशी बनाने के लिए थी। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था "अंग्रेजी राज्य की शासन व्यवस्था के लिये योग्य कर्मचारी प्राप्त हो सकें।" आधुनिक शिक्षा पद्धति क्योंकि थोड़े-बहुत हेर फेर के अतरिक्त इसी घोषणा पत्र के आधार पर चल रही है इस कारण उसमें अनेकों दोषों का होना कोई अचरज की बात नहीं है।

भारत १५ अगस्त १९४७ को स्वतंत्र हो गया। स्वतंत्रता के पश्चात् तथा इससे पहिले भी भारतीय शिक्षा शास्त्रियों, विचारकों तथा राजनीतिज्ञों ने आधुनिक शिक्षा प्रणाली की कटु आलोचना की और इसमें परिवर्तन लाने के लिए अनेकों विचार व्यक्त किये परन्तु इनके प्रयासों को मनोवांचित फल प्राप्त न हो सकें हैं। स्वतंत्रता से पहिले तो विदेशी सरकार प्राय शिक्षा के प्रति उदासीन ही थी। उसने भारत को एक शिक्षा प्रणाली जिसके उद्देश्य अत्यन्त संकुचित थे, देकर अपने उत्तरदायित्व को पूरा हो जाना समझा। इसके अतिरिक्त वह कोई भी प्रगतिशील परिवर्तन शिक्षा में नहीं लाना चाहते थे क्योंकि वह नहीं चाहते थे कि भारत के नागरिक संकीर्णता, अन्ध-विश्वास इत्यादि के गर्त से निकल कर उनके शासन को चुनौती दें। परन्तु इनके शासन काल में देश में कुछ महान् नेताओं ने विदेशी शिक्षा के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। उन्होंने नवीन विचारों को प्रतिपादित किया। कहीं-कहीं उन्हें प्रयोगात्मक रूप भी दिया गया परन्तु शासन की सत्ता के कारण उन्हें अपने विचारों को व्यावहारिक रूप में लाने में सफलता न मिल सकी।

गान्धी जी की वार्धा-शिक्षा-योजना एक ऐसी ही शिक्षा योजना थी जो भारतवर्ष की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति को देखकर निर्धारित की गई तथा यहाँ की संस्कृति तथा परम्पराओं पर आधारित थी। गान्धी जी ने सन् १९३७ के अक्टूबर मास में वर्धा में शिक्षा-शास्त्रियों एवं विशेषज्ञों की एक परिषद् बुलाई। इस परिषद् में उन्होंने अपनी शिक्षा योजना विचारार्थ प्रस्तुत की। इस परिषद् ने डा० जाकिरहुसेन की अध्यक्षता में एक समिति के निर्माण का ठहराव किया। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में नयी तालीम या बुनियादी शिक्षा के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाला और एक नई शिक्षा प्रणाली को जो भारत के लिए अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होती थी, जन्म दिया। इस समय जो विभिन्न प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ थे उन्होंने इस प्रणाली को अपने प्रान्तों में लागू

करने का निर्णय किया। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार और बम्बई की सरकारों ने और काश्मीर रियासत ने प्रयोग के ढंग पर बुनियादी शिक्षा का आरम्भ कर दिया परन्तु कांग्रेस मंत्रिमंडलों के स्तीफे के कारण और दूसरे महायुद्ध के छिड़ जाने से शासन इस ओर उदासीन हो गया और देश में इस प्रणाली के प्रयोग में कोई विशेष उन्नति न हो पायी।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय शासन भारतीयों के हाथों में आगया और यह आशा की जाने लगी कि अब शिक्षा प्रणाली का नव-निर्माण शीघ्र ही हो जायगा। शासन भी इस ओर सक्रिय हो गया। अनेकों कमीशनें और कमेटियाँ भारतीय शिक्षा के विभिन्न पहलूओं के अध्ययन के लिए सरकार द्वारा निर्मित की गईं। इन्होंने अत्यन्त सावधानी पूर्वक भारतीय शिक्षा के दोषों का अवलोकन किया और इसकी पुनर्रचना सम्बन्धी सुझाव दिए। परन्तु शासन का उत्साह इन सुझावों के आते ही उतना शक्तिशाली नहीं रहता प्रतीत होता है जितना की कमेटियों इत्यादि की नियुक्ति के समय। अतएव उनकी रिपोर्टों को अलमारियों की सुन्दरता बढाने के लिए ही केवल उपयोग किया जाता है। इन रिपोंर्टों के कुछ सुझावों को तो शासन अवश्य मान लेता है परन्तु दूसरे सुझावों के सम्बन्ध में या तो आर्थिक कठिनाइयाँ सामने आजाती हैं या शासन उन्हें उस समय व्यावहारिक रूप में रखना उचित नहीं समझता। और इस प्रकार शिक्षा की रूपरेखा में परिवर्तन आना असंभव ही हो जाता है।

एक और कारण जो शिक्षा प्रणाली की पुर्नरचना मे बाधक है वह है यहाँ के नागरिकों की मनोवृत्ति जो परिवर्तन को पतन के रूप में लेते हैं। यह वह मनोवृत्ति है जो हर नवीन विचारधारा की आलोचना बिना उस पर तर्कपूर्ण ढंग से विचार किए हुए करती है। ऐसे व्यक्ति परम्पराओं के दास हैं और उनमें स्वतंत्र विचार करने की शक्ति क्षीण होती है। वे यह जानते है कि शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है परन्तु जब नवीन विचार उनके सामने रखे जाते हैं तो वह भयभीत हो उठते हैं कि कहीं यह शिक्षा को और दुषित न करदे और बिना उनको व्यावहारिक रूप में रखने का अवसर दिये हुए विद्रोह का झंडा खड़ा कर देते हैं। एक बहुत ही सुन्दर वर्तमान शिक्षा के गुण के सम्बन्ध युक्ति दी जाती है वह है कि वर्तमान शिक्षा ही ने तो महात्मा गान्धी, जवाहर लाल नेहरू, राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद इत्यादि जैसे नेताओं का पोषण किया तो यह दूषित कैसे हो सकती है। यह युक्ति कुछ सत्य तो प्रतीत होती है परन्तु यदि गम्भीर रूप से इस पर विचार किया जाये तो इसकी असत्यता दिखाई पड़ जायेगी। आधुनिक शिक्षा द्वारा कुछ बड़े नेता तो भारत को मिल गये परन्तु यह शिक्षा यदि दोष रहित है तो देश का एक सामान्य नागरिक क्यों नहीं उन

गुणों से परिपूर्ण है जिन्हें हम प्रत्येक नागरिक के लिए आवश्यक समझते हैं ? क्यों यहाँ व्यक्तित्व का सर्वांतमुखी विकास नहीं होता ? क्यों शिक्षा द्वारा बेकारी की समस्या बढ़ रही है ? क्यों एक ग्रामीण शिक्षा प्राप्त करके अपने सगे सम्बन्धियों से दूर हो जाता है ? वास्तव में ये नेता तो आधुनिक शिक्षा के अपवाद ही कहे जा सकते हैं। जैसे कभी कभी साधारण माता पिता के प्रतिभावान सन्तान उत्पन्न हो जाती है। जोन्स के विशेष प्रकार के सम्मेलन द्वारा इसी प्रकार से ये नेता, दूषित आधुनिक शिक्षा के दोष रहित बालक हैं। इसके अतिरिन्त यदि हम गान्धी जी, राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जी के विचारों की ओर ध्यान दें तो देखेंगे कि यही नेता उस शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध हैं जिसके द्वारा उन्होंने शिक्षा ग्रहण की। वास्तव में उन्होंने इस शिक्षा प्रणाली के दुर्गणों को उसमें लीन होकर देख लिया और अपनी महानता के कारण उससे ऊपर उठ गये वे चाहते हैं कि अन्य देशवासी भी ऊपर उठे और शिक्षा के दोषों का उनके ऊपर प्रभाव न पड़े।

उपरोक्त विवरण के आधार पर हम आधुनिक भारतीय शिक्षा की वर्तमान स्थिति में सुधार न होने के त्रिमुखी कारण दे सकते हैं।

(१) शिक्षा के आधारों की भारतीय संस्कृति तथा परम्पराओं से विलगता।

(२) शासन की उदासीनता।

(३) नागरिकों की मनोवृत्ति।

शिक्षा की पुनर्रचना से तात्पर्य

भारतीय शिक्षा की वर्तमान स्थिति से कोई सन्तुष्ट नहीं है। प्रत्येक नागरिक जो कुछ भी शिक्षा के सम्बन्ध में विचारने की योग्यता रखता है वह इसके दोषों के सम्बन्ध में अपनी चिन्ता व्यक्त करता है और चाहता है कि इसका नवनिर्माण हो या पुनर्संङ्गठन हो। वह जानता है कि वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली ऐसे नागरिक तैयार नहीं कर सकती जो स्वतंत्र भारत की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

शिक्षा प्रणाली में अपेक्षित परिवर्तन लाने के लिए दो मत दिए जाते हैं। एक मत तो इसी प्रणाली में सुधार लाने के पक्ष में हैं। दूसरा मत इस प्रणाली को समाप्त करके नई प्रणाली की रचना करने पर बल देता है। हम यह मानते हैं कि शिक्षा प्रणाली में सुधार लाकर इसका पुनर्संङ्गठन करना सरल है क्योंकि इस प्रणाली में यदि आमूल परिवर्तित करने की चेष्टा की जाय तो उसके लिए धन, समय तथा अन्वेषण की आवश्यकता है।

इसीलिये वर्तमान प्रणाली के पूर्णतया उन्मूलन के लिए बहुत ही कम शिक्षा शास्त्री सहमत होते हैं। परन्तु हमारा विचार है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली इतने दोषों से युक्त है कि इसमें सुधार लाना अत्यन्त कठिन है। हम एक ओर इसमें सुधार लाते हैं तो दूसरी ओर कुछ दोष बढ़ जाते हैं। जैसे हम परीक्षा प्रणाली में सुधार लाने के लिए विद्यार्थियों के साल भर के कार्य पर अङ्क प्रदान करते हैं। तो हमारे कुछ अध्यापकगण इन अङ्कों को प्रदान करने में पक्षपात की नीति को अपनाते है। फल यह होता है कि विद्यार्थियों के मूल्यांकन में सुधार होने की अपेक्षा और दोषों की वृद्धि हो जाती है। अतएव यदि इस प्रणाली में सुधार ही लाना है तो वह सुधार मौलिक होना चाहिए। वह सुधार सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली को सम्यक् रूप से परिवर्तित करने वाला होना चाहिए। वास्तव में हमारी शिक्षा को वांछनीय रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी पुनर्रचना हो न कि केवल पुर्नसंगठन।

आधुनिक भारतीय शिक्षा के मूल आधार ही जब दोषपूर्ण हैं तो उनके ऊपर शिक्षा का ढाँचा कैसे खड़ा हो सकता है ? जब नींव ही क्षीण हैं तो उस पर बनी हुई दीवार कैसे मजबूती से खड़ी रह सकती है ? आप दीवार में ऊपर से चाहे जितनी टीपटाप करें वह कभी भी मजबूत नहीं हो सकती जब तक कि उसकी नींव कमजोर है। इसी प्रकार आधुनिक भारतीय शिक्षा में आप चाहे कितने ही सुधार ऊपर से लायें वे शिक्षा को वांछनीय नहीं बना सकते जब तक कि इसके आधारों में मौलिक परिवर्तन नहीं लाया जायगा। जब हम कहते हैं कि शिक्षा की पुनर्रचना आवश्यक है तो हमारा तात्पर्य इससे यही है कि शिक्षा के आधारों में परिवर्तन लाकर सम्पूर्ण शिक्षा का नव-निर्माण किया जाय।

शिक्षा की पुनर्रचना कैसे हो :—

ऊपर यह बताया जा चुका है है कि शिक्षा की पुनर्रचना मे मुख्यतः तीन व्यवधान है। यदि इन तीनों व्यवधानों को हटा दिया जाय तो शिक्षा हमारी आकांक्षाओं के अनुरूप हो जायगी। यहाँ हम इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालेंगे।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की अवहेलना—शिक्षा की पुनर्रचना में पहिला रोड़ा है भारतीय संस्कृति और दर्शन की अवहेलना। आज की शिक्षा पाश्चात्य सभ्यता एवं सांस्कृति की ही प्रतीक है। पाश्चात्य के स्थान पर यदि भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता पर बल दिया जाने लगे तो पहिला रोड़ा हटाया जा सकता है।। पाश्चात्य सभ्यता के हटाने से हमारा तात्पर्य यह कभी नहीं है कि पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता में कोई विशेष दोष हैं या वहाँ उचित

शिक्षा का आयोजन नहीं है। हमारा तात्पर्य तो यह है कि किसी भी देश की राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली उसी देश की संस्कृति की प्रतीक होनी चाहिए। पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के द्वारा ही संसार में इतनी प्रगति हुई है परन्तु इससे तात्पर्य यह नहीं कि भारतवासी अपने देश के सम्बन्ध में कुछ न जाने । वे अपने देश के साहित्य, काव्य, संस्कृति, दर्शन, समाज के सम्बन्ध में तो अ, ब, स, तक न जाने परन्तु विदेशी संस्कृति इत्यादि की शिक्षा ग्रहण करने में गौरव समझें। ऐसी शिक्षा भारतीय व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास में बाधक होती है । वह शिक्षा ग्रहण करने वालों में मानसिक क्लेश को जन्म देती है। विद्यार्थी भारतीय समाज के दृष्टिकोण को समझने में असमर्थ रहता है और ऐसी धारणा बना लेता है कि जो कुछ मेरे देश में है वह निम्न है, तुच्छ है । इस प्रकार उसका सामाजिक व्यवस्थापन भी अत्यन्त कठिन हो जाता है।

गान्धी जी ने १९१७ में भड़ौच में दूसरी गुजरात शिक्षा-परिषद् के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा था :

"मुझे सदा ऐसा लगता रहा है कि आज शिक्षा में हमारी कौटुम्बिक व्यवस्था पर ध्यान नहीं दिया जाता। उसकी रचना करने में हमारी जरूरतों का विचार नहीं किया गया, यह स्वाभाविक था।"

मैकॉले ने हमारे साहित्य का तिरस्कार किया, हमें वहमी समझा, जिन लोगों ने हमारी शिक्षा की योजना बनाई, उनमें से अधिकांश को हमारे धर्म के बारे में गहरा अज्ञान था। कितनों ही ने उसे अधर्म समझा। हमारे धर्मग्रन्थ बहमों के संग्रह माने गये। हमारी सभ्यता दोषों से भरी मालूम हुई । यह समझा गया कि चूँकि भारतीय गुलाम प्रजा हैं, इसलिये इनकी व्यवस्था में दोष होने ही चाहिए। जिससे शुद्ध भाव होते हुए भी उन्होंने गलत विधान बनाया। नई रचना करनी थी, इसलिए संयोजकों ने आसपास के वातावरण पर ही ध्यान दिया। नई रचना इस विचार से की गई कि राज्य करने वालों की मदद के लिए वकील, डाक्टर और क्लर्कों की जरूरत होगी, हम सबको नये ज्ञान की जरूरत होगी। इसलिये हमारे जीवन का विचार किये बिना ही पुस्तकें तैयार की गई और अंग्रेजी कहावत के अनुसार घोड़े के आगे गाड़ी रख दी गई।"

गान्धी जी के उपरोक्त विचार जो इतने पहिले १९१७ ईसवीं में व्यक्त किये गये थे हमारी आधुनिक शिक्षा के आधारों की सम्यक् आलोचना करते हैं। परन्तु खेद तो इस बात का है कि स्वतन्त्रता के लगभग १४ वर्ष उपरान्त भी हम इस सम्बन्ध में कि शिक्षा के आधारों को उपयुक्त जामा पहिनायें और उनका निर्धारण भारतीय संस्कृति, धर्म, और सभ्यता के आधार पर कर सकें,

असफल हैं। इस समय आवश्यकता यह है कि आधुनिक भारतीय शिक्षा को राष्ट्रीय बनाया जाय।

राष्ट्रीय शिक्षा से हमारा तात्पर्य क्या है ?—राष्ट्रीय शिक्षा से हमारा तात्पर्य यहाँ ऐसी शिक्षा से है जिसकी नींव देश में ही हों न कि विदेश में। वर्तमान समय में हम एक ऐसे दोराहे पर खड़े हुए हैं जहाँ यह निर्धारित करना कठिन है कि हम किधर जायँ। एक ओर संसार के पाश्चात्य देशों की सभ्यता और विज्ञान की अपार प्रगति है जिसको जाने बिना किसी भी देश के नागरिक पिछड़े हुए ही कहे जा सकते हैं। दूसरी ओर भारतीय प्राचीन संस्कृति है जिसमें अध्यात्मिक गुणों पर बल दिया जाता है। कुछ भारतीय किसी एक रास्ते को अपनाते हैं कुछ दूसरे को अपनाने में ही देश का कल्याण समझते हैं। हमें यहाँ इस समय इस बात की आवश्यकता है कि जो उचित रास्ता अपनाना चाहिए उसे ठीक ढङ्ग से चुने तथा यह निर्धारित करें कि किस मार्ग को अपनाने से शिक्षा, भारतीय नागरिकों का सर्वतोमुखी विकास करने में सफल होगी। हम राष्ट्रीय शिक्षा से यही समझते हैं कि जो कुछ भारतीय संस्कृति में गुण है उन्हीं को आधार मानकर शिक्षा दी जाय। परन्तु इससे हमारा तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि आधुनिक विज्ञान या साहित्य की शिक्षा न दी जाय। यह शिक्षा भी आवश्यक है। हमारा कहना तो यह है कि विज्ञान के आविष्कारों इत्यादि के सम्बन्ध में तो हम पढ़ें परन्तु उनका मानव-जीवन में कैसे उपयोग हो, इसका मापदंड पश्चिमी सभ्यता में न ढूँढ़ कर अपनी संस्कृति में ढूँढें। इस प्रकार हम विज्ञान के विकास में भी पिछड़े न रहेंगे और अपनी संस्कृति जो आध्यात्मिकता, चरित्र-निर्माण तथा सात्विक सत्ता पर बल देती है उससे भी विलग न होंगे।

हम राष्ट्रीय शिक्षा की ऐसी शिक्षा से कल्पना नहीं करते जो केवल व्यक्ति का ऊपरी आवरण बदल दे, जो केवल उसे डिग्री प्राप्त करने की ही प्रेरणा दे, जो उसमें चिन्तन, तर्क और कल्पना शक्ति का विकास न करे, जो ज्ञान को पैसे में तौलने पर ही बल दे। हम तो भगवद् गीता के अनुसार उस प्रकार की शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा कहेंगे जो मानव में इस प्रकार के उच्च संवेगों को भर दे; जैसे—नम्रता, शान्तिप्रियता, आत्मनियन्त्रण तथा मानव साम्य जिससे मन की सम्पूर्ण शुद्धता मानव के आचरण में स्पष्टता प्राप्त करे।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा शान्तिरार्जवम्
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः—(१३, ७)

इसी प्रकार राष्ट्रीय शिक्षा के आधार उपनिषद् शिक्षा के अनुरूप—रचनात्मक स्वरूप से मस्तिष्क को शिक्षा देना होना चाहिए जो सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में सृजनात्मक कार्य करे।

भगवद् गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन। तुम्हारा अधिकार केवल कर्म पर है न कि उसके फल पर। इस कारण तुम्हारे कर्मों के फल तुम्हारे कर्म की प्रेरणा नहीं होने चाहिए, न तुम्हें निष्क्रियता से कोई मोह होना चाहिए।

कर्मण्येवाधिकारस्ते या फलेषु कदाचन
मा कर्म फलहेतु भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वत्व कर्मणि—(२ । ४७)

हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का ध्येय ऐसा होना चाहिए जिससे विद्यार्थी कर्म की महिमा को समझ लें और वे अपने कर्त्तव्यों की महत्ता को समझें। हमारे देश में इस समय इस प्रकार की शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। आज प्रत्येक नागरिक अपने अधिकारों की चर्चा तो करता है परन्तु कर्त्तव्य की ओर से पूर्णतया उदासीन है। कर्त्तव्य में ही अधिकार निहित है यह समझने में वह असमर्थ है। भारतीय जनतन्त्र की सफलता उसी प्रकार की शिक्षा पर निर्भर है जिसके आधार ऐसे दार्शनिक हों। गीता का दर्शन बुद्धि, विश्वास तथा कर्म के अभ्यास पर बल देता है यही भारतीय शिक्षा के मूल आधार होने चाहिए।

शिक्षा के सम्बन्ध में गान्धी जी का कहना है—"बालक की शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियों के पूर्ण विकास को शिक्षा कहा जा सकता है।" राष्ट्रीय शिक्षा के उद्देश्य वास्तव में यही होने चाहिए।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर का कथन है[२] कि शिक्षा का कार्य मनुष्य के सर्वोच्च उद्देश्य उसकी आत्मा के पूर्ण विकास और उसकी स्वतन्त्रता में सहायता प्रदान करना है। यह वातावरण बालक की सतत् विकासशील क्रियाओं के लिये पृष्ठभूमि तैयार करता है। किशोर के लिये यह उसकी वैज्ञानिक अथवा कलात्मक

---

1. *Ratna Navaretnam, New Frontiers in East West Philosophies of Education.* The principal aim therefore of the upanishadic education is to educate the mind itself as the creative principle in man, the creative principle of his culture and civilization.

2. Rabindra Nath Tagore, 'thoughts on Education.' Viswa Bharti Quarterly, Vol. XII, Pt. I, 1946, p. 19. : "Education is nothing short of the highest purpose of man—the fullest gro wth and freedom of soul. To the child, the enuironment wi]l provide an ever ready back ground for its spontaneous activity ; to the adolscent it will be an object of scientific or artistic curiosity ; the adult will see in him the soil on which his country and his people grow, the cultural and economic back ground of human existance.

रुचि की पूर्ति करता है और युवा के लिये यह आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तैयार करता है जिसके अनुरूप उसके देशवासी रहते हैं।

गुरुदेव शिक्षा का उद्देश्य आत्मा के सम्यक् विकास और स्वतन्त्रता को मानते हैं। वे शिक्षा को ब्रह्माण्ड की खोज और एक विकास की क्रिया की अभिव्यक्ति के रूप में मानते है। वातावरण को पुस्तकों, नियमों, इमारतो तथा शिक्षा विधियों से अधिक महत्वपूर्ण मानते है। उन्होंने अपने द्वारा स्थापित विद्यालय शान्तिनिकेतन मे अपने शैक्षिक विचारों को प्रयोगात्मक रूप में रखा। गुरुदेव के विचार भी हमें राष्ट्रीय शिक्षा के लिए उचित आधार प्रदान करते है। गान्धी जी और टैगोर दोनों ही शिक्षा द्वारा व्यक्ति की शक्तियों के विकास मे आस्था रखते है। ये विचार भारतीय दर्शन के अनुरूप ही हैं। अतएव इनको हमें राष्ट्रीय शिक्षा के शिलान्यास में महत्वपूर्ण स्थान देना आवश्यक है।

ऊपर हमने शिक्षा की पुनर्रचना के मार्ग में आने वाली एक बड़ी बाधा के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त किये। हमारा मत है कि यदि हम शिक्षा के आधार निर्धारित करने में प्राचीन दर्शन और आधुनिक महान भारतीयों के विचारों को अपने समक्ष रखे तभी आधुनिक शिक्षा के दोष दूर हो सकते है।

वर्तमान समय में भारतीय शिक्षा का ध्येय नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि के आधार पर होना चाहिए जिससे भारतीय अपने समाज के उत्थान में अपना योगदान दे सके। यहाँ के नागरिक वैज्ञानिक उन्नति से अवगत हों परन्तु अपने दृष्टिकोण में आध्यात्मिक हो। वे श्रम की महिमा को समझे। वे आर्थिक उन्नति और जीवन स्तर उच्च करने की चेष्टा करे परन्तु धन के दास न हो। उसमें देश प्रेम उच्चकोटि का हो परन्तु विश्वकल्याण की भावना का अभाव न हो। वे सर्वोदय समाज की स्थापना के लिये प्रयत्नशील रहे और समाज की अश्लीलता, अन्धविश्वास, स्वार्थीपन को दूर करने में सहायक हो। वे भारत के नवीन तीर्थ स्थलों जैसा कि हमारे प्रधानमन्त्री भारत के विकास के लिए किए हुए औद्योगिक निर्माणों को मानते हैं उनके विकास में अपनी सामर्थ्य भर सहायता प्रदान करे।

शासन का उत्तरदायित्व—भारतीय शिक्षा के आधार एवं ध्येय के प्रति उचित विचार बना लेने से ही शिक्षा की पुनर्रचना संभव नहीं है। इसके लिये शासन को सक्रिय होना पड़ेगा। इस ओर शासन की रुचि के बिना शिक्षा प्रणाली में कोई परिवर्तन संभव नहीं है। स्वतन्त्रता से पहिले तो शासन

की उदासीनता के कारण थे परन्तु अब इस ओर इसकी उदासीनता किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं है।

भारतीय शासन के सम्मुख जो आर्थिक कठिनाइयाँ हैं उनको ध्यान में रखते हुए भी यह कहा जा सकता है कि शासन को इस ओर अधिक जागरूक होने की आवश्यकता है। भारतीय संविधान के अनुसार भारत सर्व-प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है; परन्तु यहाँ का गणराज्य स्थायी तभी हो सकता है जब नागरिकों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध हो। शिक्षा की उचित व्यवस्था के लिए गान्धी जी के शब्दों में "भागीरथ प्रयत्नों" की आवश्यकता है। इन भागीरथ प्रयत्नों का जितना उत्तरदायित्व नागरिकों पर है उससे अधिक शासन पर।

वर्तमान समय में शासन द्वारा जो शिक्षा को प्राथमिकता मिलनी चाहिए वह नहीं है। इसके अतिरिक्त शासन द्वारा अनेक शिक्षा योजनायें इस प्रकार से निर्धारित की गई हैं कि सम्पूर्ण शिक्षा पर दृष्टिपात न करके केवल किसी एक अङ्ग में विशिष्ट सुधार लाना चाहती हैं। हमने ऊपर ही कहा है कि ये योजनाएँ शैक्षिक वातावरण में सुधार लाने के स्थान पर उसको और जटिल बना देती हैं और शिक्षा की पुनर्रचना और कठिन हो जाती है। इस समय आवश्यकता है सम्पूर्ण शिक्षा की पुनः रचना की न कि केवल इसके एक अङ्ग की। अभी तक स्वतन्त्रता के उपरान्त ऐसी कोई भी योजना नहीं बनाई गई जिसमें प्रायमरी शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तथा औद्योगिक और टैक्निकल शिक्षा की समस्याओं को सम्यक रूप से सुलझाया गया हो। शिक्षा एक क्रमिक क्रिया है इसका सुधार टुकड़ों में नहीं हो सकता।

नागरिकों की मनोवृत्ति—तीसरा रोड़ा जो शिक्षा की पुनर्रचना में बाधक है वह है यहाँ के नागरिकों की मनोवृत्ति। इस मनोवृत्ति को बदलना होगा परन्तु कठिनाई तो यह है कि मनोवृत्ति बदलने के लिए वाँछनीय शिक्षा की आवश्यकता है और वाँछनीय शिक्षा का विकास तब तक संभव नहीं जब तक मनोवृत्ति में सुधार नहीं होता। ऐसी दशा में क्या किया जाय? यह एक गम्भीर प्रश्न है। किन्तु इस समस्या के हल के सम्बन्ध में देश के महान् नेताओं ने कदम उठाये हैं। वे समाज सेविकों द्वारा उचित प्रकार की मनोवृत्ति के विकास पर बल देते हैं। गाँधी जी तो एक ऐसे महान् व्यक्ति थे जिन्होंने स्वयं अकेले ही हमारे देशवासियों को अन्धकार से निकाल कर प्रकाशमय पथ की ओर अग्रसर कर दिया। उनका उदाहरण हमें आशावादी बना देता है। जब रूढ़ियों में बसी हुई गुलामी की भावना से देश स्वतन्त्र हो सकता है, जब अस्पृश्यता का भूत हमारे धर्म के ठेकेदारों पर से उतर सकता है, जब बाल-

विवाह और विधवा विवाह इत्यादि के प्रति उचित दृष्टिकोण एक महान व्यक्ति की शिक्षा के कारण बहुत थोड़े समय में देशवासियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है तो यदि अनेकों प्रगतिशील विचार वाले व्यक्ति इस ओर अग्रसर हों तो जनता की मनोवृत्ति को बदला जा सकता है। गान्धी जी के अतिरिक्त आचार्य विनोबा भावे का नाम भी यहाँ उल्लेखनीय है। आचार्य जी भूदान, श्रमदान इत्यादि के द्वारा समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में लगे हुए हैं और उनके विचारों को समाज अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखता है। उनकी शान्ति सेना का आदर्श तो विश्व के इतिहास में एक अनूठा ही प्रयोग है। हमारे देशवासियों की मनोवृत्ति बदल तो सकती है पर इसके लिए चाहिए लग्न, उत्साह, तथा स्वार्थहीन ढंग से कार्य करने वाले नेता। खेद तो इस बात का है कि शिक्षा के क्षेत्र में ऐसे नेताओं का सर्वथा अभाव है। जो नेतागण जनता की मनोवृत्ति के ऊपर नियन्त्रण रख सकते हैं उन्हें शिक्षा की ओर ध्यान देने का समय नहीं। उनके स्थान पर इस क्षेत्र में ऐसे नेताओं ने रुचि लेनी आरम्भ कर दी हैं जिनकी द्विमुखी चाल है। जो मुँह से कुछ कहते हैं तथा जिनके मन में कुछ और है जो स्वार्थ के वश में हैं। ये नेता चाहे शिक्षकों के मध्य से आते हों, चाहे राजनीतिज्ञों मे से हों, वे शिक्षा के वातावरण को दूषित करने में हीं सहायक होते हैं।

मनोवृत्ति को बदलने का उत्तरदायित्व वास्तव में शिक्षकों का है। उन्हीं पर शिक्षा में परिवर्तन होना या न होना निर्भर है। शिक्षा को संकीर्णता की जन्जीरों से स्वतंत्र शिक्षक वर्ग ही कर सकता है। उन्हें चाहिए कि वे अपनी व्यवहार कुशलता, कर्मनिष्ठता द्वारा समाज के सदस्यों में शिक्षा की पुर्नरचना के प्रति अनुराग उत्पन्न करें।

यहाँ श्री के० जी० सैयदन महोदय के विचार उनकी पुस्तक "शिक्षा की पुर्नरचना" से व्यक्त किए गये है ध्यान देने योग्य हैं। वे कहते हैं—

'वास्तविक राष्ट्रीय तथा सप्राण शिक्षा-पद्धति बाहर से यंत्रवत् थोपी गयी शिक्षा-पद्धति से इस बात में भिन्न होती है कि वह राष्ट्रीय जीवन की तूफानी शक्तियों में से उत्पन्न होती है और उन्हीं शक्तियों के निर्देशन में आगे बढ़ती है और राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा आदर्शों को पूरा करने की कोशिश करती है, जबकि बाहर से यंत्रवत थोपी गयी शिक्षा-पद्धति एक बनी बनायी योजना होती है जो बाहर से प्रतिपादित कुछ उद्देश्यों को ध्यान में रखकर तैयार की जाती है। इस परिस्थिति से एक अनिवार्य निष्कर्ष यह निकलता है कि राष्ट्रीय शिक्षा की किसी भी बुनियादी योजना में अध्यापकों तथा समाज के अन्य सभी सदस्यों को शैक्षणिक तथा तत्सम्बन्धी सामाजिक समस्याओं तथा प्रयासों में

।दलचस्पी होती है और इनकी ओर ध्यान देना वे अपना कर्तव्य समझते हैं। इस दृष्टि से वर्तमान सामाजिक- राजनीतिक परिस्थिति अध्यापकों के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है क्योंकि बुनियादी तौर पर उनकी जागृतिपूर्ण लगन और कर्तव्य के प्रति उनकी निष्ठा से ही न केवल शिक्षा के क्षेत्र को बल्कि पूरे राष्ट्रीय जीवन का पुनरुत्थान हो सकता है।

शिक्षा का पुर्ननिर्माण या पुर्नरचना में सफलता उसी समय प्राप्त हो सकती है जब देश के नागरिक रुढ़िवादिता के शिकंजे से बाहर निकल आयें। वे "जो चीज है, वही ठीक है या उसको बदलना हमारे बस के बाहर है" न मानने लगें। आधुनिक शिक्षक इसलिए निस्सहाय है, जैसा कि सैयदन महोदय कहते हैं, कि शिक्षक सम्बन्धी विचारकों तथा अध्यापकों के दिमाग इस ओर से बिलकुल खाली हैं। इनमें जो अधिक प्रगतिशील हैं उनमें से भी बहुतेरे शिक्षा के बारे में सतही प्रयोग करके या जहाँ-तहाँ पैबन्द लगाकर संतोष कर लेते हैं। उनके इन प्रयोगों तथा पैबन्दों का महत्व अपने पिंजरे मे इधर-उधर भागने वाली 'गिलहरी की स्फूर्तिमय निरर्थक क्रिया' से अधिक नहीं होता।"

शिक्षा की पुनर्रचना में किन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है ?

हम इस अध्याय के अन्त में शिक्षा की पुनर्रचना में जिन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है उनका वर्णन करेंगे हमने ऊपर इस बात पर बल दिया है कि हमारे देश में शिक्षा की पुनर्रचना होना आवश्यक है। हमने यह भी वर्णन किया है कि यह पुनर्रचना किस प्रकार संभव हो सकती है। परन्तु हमने अब तक इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है कि उस पुनर्निर्माण की हुई शिक्षा का व्यावहारिक स्वरूप क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर वास्तव में बहुत विवादास्प्रद है और हम कोई ऐसा स्वरूप नहीं वर्णन कर सकते जो आलोचना का विषय न हो। इसके अतिरिक्त शिक्षा के स्वरूप में हेर-फेर होना स्वाभाविक ही है उस समय जब इसको सैद्धान्तिकता से निकाल कर व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाय। यहाँ पर हम नवीन शिक्षा में जिन शैक्षिक अङ्गों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है उन हर प्रकाश डालेंगे।

नवीन शिक्षा के उद्देश्य—(१) शिक्षा द्वारा बालकों का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आत्मिक विकास हो।

(२) वे उच्च चरित्र के बनें और सादगी तथा पवित्रता से अपना जीवन व्यतीत कर सकें।

(३) वे देश के उत्तम नागरिक बनें और जनतन्त्र में उन्हें महान् आस्था हो। वे समाज सेवा के लिए तत्पर रहे तथा उनका ध्येय राष्ट्र एवं समाज की उन्नति हो।

(४) वे वातावरण में अपना व्यवस्थापन करने की क्षमता रखते हो।

(५) वे आर्थिक कुशलता रखते हो तथा अपने जीवन-यापन के लिए अपनी योग्यतानुसार व्यवसाय को चुन सकें।

(६) वे अपने अवकाश के समय का सदुपयोग कर सकें। उनके मनोरंजन स्वास्थ्यप्रद हों।

(७) वे देश की विभिन्न जातियों, विभिन्न प्रदेश के नागरिकों तथा विभिन्न भाषा भाषी व्यक्तियों को आदर तथा प्रेम की दृष्टि से देखने की योग्यता रखें। वे जाति-पाँति छुआछूत प्रदेश या वर्ग या भाषा के आधार पर विभाजित व्यक्तियों के बीच सद्भावना एवं मैत्री का प्रचार कर सकें।

(८) वे प्रत्येक धर्म को आदर की दृष्टि से देखें और उन धर्मों के मूल गुणों से अवगत हो तथा उनके मुख्य प्रवर्तकों के जीवन चरित्र से प्रेरणा ग्रहण करें।

(९) उनमें सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण की भावना का विकास हो। वे संकीर्ण राष्ट्रीयता से उठकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चिन्तन करने की क्षमता रखते हों।

और (१०) उनमें तर्क, बुद्धि, विवेक का विकास हो गया हो।

शिक्षा का पाठ्यक्रम—शिक्षा के पाठ्यक्रम का नियोजन उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के आधार पर होना चाहिए। गान्धीजी के अनुसार "पाठ्यक्रम के प्रत्येक विषय का उद्देश्य यही है कि बच्चों का जीवन ठीक वैसा ही हो, जैसा कि उसे होना चाहिए। प्रत्येक विषय जीवन के धर्म को, विधि और उद्देश्य को खोलकर रख दे।" पाठ्यक्रम बालक के वातावरण के अनुकूल ही निर्धारित होना चाहिए। उसमें लचीलापन हो और वह बालक के अनुभवों पर केन्द्रित हो।

शिक्षण व्यवस्था—हमारे संविधान की धारा ४ यह है कि—"राज्य, इस संविधान के प्रारम्भ से दश वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था की समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने का प्रबन्ध करने का प्रयास करेगा।" १० वर्ष समाप्त हो जाने पर भी इस धारा का पालन नहीं हो पाया है अतएव हमारी नवीन शिक्षा की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिससे प्रत्येक बालक के लिए १४ वर्ष की आयु तक शिक्षा का आयोजन हो। इस प्रकार की शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिए।

विद्यालयों के संगठन में जनतन्त्रीय भावना का ध्यान रखना चाहिए। निरीक्षण की पद्धतियों में नवीन विचारधारा का समावेश होना चाहिए।

हर प्रकार की मानसिक योग्यता के विद्यार्थी के लिए विद्यालयों का आयोजन होना चाहिए ।

प्रत्येक स्तर के पूर्व प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा की पुनर्रचना होना आवश्यक है । प्रौढ़ शिक्षा तथा समाज कल्याण के लिये शिक्षा का आयोजन होना चाहिए ।

औद्योगिक तथा प्रविधिक विद्यालयों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए ।

शिक्षण पद्धति—प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों में बेसिक शिक्षा की प्रणाली को अपनाना चाहिए । हर दशा में वर्तमान शिक्षण पद्धति में परिवर्तन लाना आवश्यक है । बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में जो संशय है उन पर ध्यानपूर्वक विचार करके ही इस पद्धति का अपनाना उचित होगा । शिक्षण पद्धति कार्य-प्रधान हो और इसमें हस्तकला को महत्व मिले इस पर तो अधिक तर शिक्षा शास्त्री सहमत ही हैं । अतएव शिक्षण पद्धति में इस पर बल देना उचित है ।

अनुशासन—शिक्षा की पुनर्रचना में जिस प्रकार के अनुशासन पर बल दिया जाना चाहिए वह स्व-अनुशासन है । दमनात्मक अनुशासन जो अभी तक हमारे विद्यालयों में प्रधानता प्राप्त किये हुए है उसका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है ।

अध्यापक और उसका प्रशिक्षण—नवीन शिक्षा की सफलता के लिए योग्य अध्यापकों की अत्यन्त आवश्यकता है । शिक्षा की पुनर्रचना में यह ध्यान में रखना पड़ेगा कि अयोग्य अध्यापक शिक्षा क्षेत्र में न आजायें इसके लिए अध्यापकों के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है । प्रशिक्षण केवल योग्य चुने हुए व्यक्तियों को दिया जाय जो अध्यापन कार्य में रुचि लें । प्रशिक्षण देने में शिक्षा की समस्याओं को स्पष्ट रूप से विद्यार्थियों के सामने रखना आवश्यक है ।

नवीन शिक्षा में अनेकों अन्य तत्व भी हैं; जैसे—परीक्षा प्रणाली, शैक्षिक वातावरण इत्यादि जिनके सम्बन्ध में हमने यहाँ वर्णन नहीं किया है । इन तत्वों में भी परिवर्तन लाना आवश्यक होगा । अन्त में हम फिर यह कहेंगे कि शिक्षा की पुनर्रचना छोटे-छोटे खण्डों में नहीं हो सकती वरन सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली में एक बार परिवर्तन लाने से ही यह संभव है । हमें सम्पूर्ण प्रणाली को ध्यान में रखकर ही कोई भी कदम शिक्षा की पुनर्रचना के लिए उठाना आवश्यक है ।

सारांश

आधुनिक भारतीय शिक्षा अत्यन्त शोचनीय दशा में है । इसमें अनेकों दुर्गुण भर गये हैं जिनको दूर करना असंभव सा होगया है । शिक्षा प्रणाली में सुधार लाने की सब चेष्टायें विफल हो रही हैं ।

भारतीय शिक्षा की वर्तमान स्थिति में सुधार न होने के त्रिमुखी कारण दिये जा सकते हैं : (१) शिक्षा के आधारों की भारतीय संस्कृति तथा परम्पराओं से विलगता, (२) शासन की उदासीनता, (३) नागरिकों की मनोवृत्ति ।

इस समय आवश्यकता यह है कि शिक्षा की पुनर्रचना की जाय, केवल पुनर्संङ्गठन से काम नहीं चल सकता ।

शिक्षा की पुनर्रचना में तीन रोड़े है जिनको हटाना आवश्यक है । पाश्चात्य के स्थान पर यदि भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता पर बल दिया जाने लगे तो पहिला रोड़ा हटाया जा सकता है । भारतीय शिक्षा को राष्ट्रीय बनाना आवश्यक है । हम राष्ट्रीय शिक्षा से यही समझते हैं कि जो कुछ भारतीय संस्कृति में गुण है शिक्षा उन्हीं को आधार मानकर दी जाय । भारतीय शिक्षा का ध्येय वर्तमान समय मे व्यक्तित्व का विकास भारतीय संस्कृति की पृष्ठ भूमि में इस प्रकार होना चाहिए कि व्यक्ति भारतीय समाज के उत्थान मे अपना योगदान प्रदान कर सके ।

दूसरा रोड़ा जो शिक्षा की पुनर्रचना में बाधक है वह है शासन की उदासीनता । शासन यदि अपना उत्तरदायित्व समझ ले तो यह रोड़ा हट सकता है ।

तीसरा रोड़ा नागरिकों की मनोवृत्ति में परिवर्तन लाकर हटाया जा सकता है । इसके लिए आवश्यकता है लग्न, उत्साह तथा स्वार्थहीन ढंग से कार्य करने वाले नेता तथा व्यवहार कुशल एवं कर्म निष्ट शिक्षकों की आवश्यकता है ।

शिक्षा की पुनर्रचना में इन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—(१) शिक्षा के उद्देश्य जो भारतीय संस्कृति एवं समाज के आधार पर निश्चित होने चाहिए, (२) शिक्षा का पाठ्यक्रम शिक्षा के पुनर्रचित उद्देश्यों को प्राप्त करने के हेतु निर्धारित होना चाहिए, (३) शिक्षण व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए कि हर स्तर पर नागरिक के तथा उसके बालकों के लिए शिक्षण संस्थाओं का आयोजन हो । शिक्षण संस्थाओं के संगठन में जनतन्त्री वातावरण पर बल दिया जाय, (४) शिक्षण पद्धति कार्य-प्रधान हो और इसमें हस्तकला पर बल दिया जाय, (५) स्वानुशासन ही उचित अनुशानन समझा जाये, और (६) अध्यापक योग्य हों तथा उनका प्रशिक्षण ठीक प्रकार से हो ।

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

१. आधुनिक भारतीय शिक्षा में क्या दोष हैं ? इन दोषों को दूर करना क्यों अत्यन्त कठिन है ?
२. 'भारतीय शिक्षा की पुनर्रचना'' पर एक निबन्ध लिखिए ।
३. शिक्षा के प्रति शासन की उदासीनता आप कैसे सिद्ध कर सकते है ? ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस प्रश्न का उत्तर दीजिये ।
४. एक शिक्षक के नाते आप क्या करेंगे जो भारतीय नागरिक शिक्षा के प्रति उचित दृष्टिकोण अपना सकें ?
५. भारतीय संविधान को ध्यान में रखते हुए भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कीजिये ।

सहायक पुस्तकों की सूची

(१) गाँधी जी : **सच्ची शिक्षा ।**
(२) मशरूवाला : **तालीम की बुनियादें ।**
(३) मशरूवाला : **शिक्षा का विकास ।**
(४) मशरूवाला : **शिक्षा में विवेक ।**
(५) गणेशप्रसादसिंह : **हमारी शिक्षा ।**
(६) पटेल, एम० एस० : **दि एडूकेशनल फिलासफी आफ महात्मा गाँधी ।**
(७) कुमरिया, आर० आर० : **नया जीवन ।**
(८) सैयदैन, के० जी०: **शिक्षा की पुनर्रचना ।**
(९) बंशीधरसिंह एवं भूदेव शास्त्री : **स्वतन्त्र भारत में शिक्षा की प्रगति ।**
(१०) माथुर, बी० ऐस० (ed) : **गाँधी जी ऐज ऐन एडूकेशनिस्ट ।**
(११) नवरतननाम, रतना : **न्यु फ्रन्टीयर्स इन ईस्टवेस्ट फिलासफीज आफ एडूकेशन ।**
(१२) सम्पूर्णानन्द : **थोडस आन एडूकेशन एण्ड सम ऐलाइड प्रोब्लम्स ।**

—: ० :—

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

(अ, आ)

अन्तर्राष्ट्रीयता २७९, २८२, २८३, २८४, २८६
अधिकारों में कर्त्तव्य निहित है ३०२
अध्यापक ५२, ८२, २४७, २६९, २८६, २३१
अनुशासन १६, १८, ३२, ३६, ५२, ७३, ८२, १२५, १२६, १३०, १३२, ३००, ३३१
अपराधी बालक १३४
अपीक्योरस २२
अमूर्त १२
अमेरिका २७९
अवकाश ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१३
अवकाश के लिये शिक्षा ३०८
अवकाश के समय की क्रियाएँ ३१३
अविधिक साधन २२२, २३४, २९४, २९५
अस्त्यात्मक शिक्षा २३
आगस्ट कोमटे १८४
आत्म-नियन्त्रण १३०
आत्मानुभूति ६७, १०८
आत्माभिव्यक्ति का उद्देश्य १०७
आत्महीनता १६५

आर्थिक कुशलता २९३
आदर्शवाद २०, ४३, ४४, ४६, ४७, ४८, ५०, ५६, ५७, ८१, १४४
आदर्शवादी दृष्टिकोण ११८
आध्यात्म ४४

(इ, ई)

इण्टर नेशनल ब्यूरो ऑफ एडूकेशन २७९
ई० बी० टेलर १०३
ईश्वर ४५, ७९

(उ, ऊ)

उपचार १६९
उपनिषद् ३२४

(ए, ऐ)

एच० रग १०२
एनसाइक्लोपीडिया ऑव माडर्न एडूकेशन ९६
एलवुड १०३
एलरिज १८४
एशिया माइनर २१
ऐडम्स १२९
ऐमाइल २२

(क)

कममेनियस ४५, २७९
कलाकौशल १५६
कमीशन ऑफ इन्टलैक्चुअल कोआरेपशन २७९
कान्ट ४६
कार्य करके सीखना ३६
किलपेट्रिक महोदय २६०
कुसमायोजित व्यक्तित्व १७०
कुसमायोजन १६३, १६४
कोरप्रधान पाठ्यक्रम १५५
कोल महोदय १८५
कौशोर २५

(ग)

गान्धी जी ३१६, ३२३
गुजरात शिक्षा परिषद् ३२३

(ज)

जनतन्त्र २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६६, ३००, ३०४
जनतन्त्र में अध्यापक २६६
जनतन्त्र राज्य और शिक्षा २५४
जनतन्त्रीय भावना १७४
जाकिर हुसैन ३१६
जॉर्ज पॉयन १८६
जार्ज मिल्टन ३०३
जॉन हॉपकिन्स ६४
जीवन दर्शन १३
जी० सी० चटर्जी २६५
ज्ञान ६८

(ट)

टाफ्ट महोदय २७६
टी० पी० नन १०६

(ड)

डंकन १८४
डाल्टन-प्रणाली २६, ३६
डारविन ६५
डिमाक्रिटस २२
डेकार्ट ४६
डोलार्ड १८६
ड्यूबस २७६
ड्यूबी १२, ६४-६६, ७१, ७३, ७४, ७५, ७६, ७८, ११२, १२८, १८६, २२६

(त)

त्रुटि एवं प्रयास विधि ८१

(थ)

थॉमस एक्युनाज १०१

थॉमस हाब्स २२
थोल्स २१

(द)

दर्शन १०, ६४
दर्शन-शास्त्र १३, १५, १६, १७, २०, ४३
दार्शनिक २
देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता में अन्तर २७३

(ध)

धर्म २५६
धर्म की शिक्षा २३६
धर्म और शिक्षा २५६, २६१
धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा समिति के सुझाव २६५
धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता २६२

(न)

नकारात्मक शिक्षा २३, २५
नॅन ३५, ११४, १४१
नीतिशास्त्र ३८
नैतिक शिक्षा ३२

(प)

परिवार २३५, २३७
पॉयन २०२
पाठ्यक्रम ३१, ५४, ८१, १३६, १३६, १४०, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १५३, १५४, १५५, २२७, २६८
पीकिङ्ग ६४
पी० एन० क्रिपाल २६५
पेस्टालॉजी ४५
पैनसोफिक कॉलिज २७६
प्रकृतिवाद २०, २१, ३३, ३५, ३७, ३८, ४२, ७७, १४२, १४४
प्रकृतिवादी १६, २१
प्रजातन्त्र और शिक्षा २६०
प्रत्याहरण १६५

प्रभावात्मक विचारधारा २९
प्रयोगवाद २१, ६३, १४३
प्रोजेक्ट पद्धति २९, ३६
प्लेटो १२, ४५, ४६

(फ)

फ्रान्सिस पार्कर १३२
फ्रान्सिस बेकन २२
फिक्टे १२
फ्रेड्रिक ई० बोन्टन १८६
फ्रेड्रिक ले प्ले १८४
फ्रोबेल ४६

(ब)

बटलर १७
बरलिङ्गटन ६४
बरट्रेन्ड रसेल १०, ९९, ११७, ३१०
बर्कले ४६
बॉगले ११२
बालक १, १७
बॉयड २९१
बाल केन्द्रित पाठ्यक्रम १५३
ब्राउन १०२, १९६
ब्राइट मैन १०
बेकन २२
बेब्सटर ९८
बोगार्ड्स १८४
बौद्धिक स्वातन्त्र्य ३०३

(भ)

भगवतगीता ३२५
भगवान कृष्ण ३२५
भारतीय विद्यालय २
भारतीय सँविधान तथा समिति के सुझाव २६८
भारतीय शिक्षा ३१८
भारतीय शिक्षा की पुनर्रचना १७३

भोगवादी १२

(म)

मनो सामाजिक वातावरण ४७
महात्मा गाँधी २६३, २९६
माइलेप्स २१
मॉन्टेसरी प्रणाली ३६
मुक्त्यात्मक विचार धारा १३०
मूर महोदय १८५
मैकइवर १८४
मैक्स वेबर १८६
मैरिल १८४
मैकाले ३२३
मौलाना अबुलकलाम आजाद २०६

(य)

यंग १०४
यंग इण्डिया २८६
यथार्थवाद १४२
युनेस्को २८१, २८२

(र)

रंगनाथन ३०८
रवीन्द्रनाथ टैगौर ३२५
रस्क १०९
राधाकृष्णन आयोग २६३, २६६
रॉस ११४, १४१
रॉस फिने १८६
राज्य एक शिक्षा संस्था के रूप में २५३
राष्ट्र भाषा २७६
राष्ट्रीय शिक्षा ३२४, ३२५
राष्ट्रवादी शिक्षा में दोष २७७
राष्ट्रीयता २७३, २७४, २७५
राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा २७३
रिवलिन ९६
रौस १३

(ल)

लीग ग्रांव नेशन्स २७६
ल्यूकरटियस २२
ल्यूसिपस २२

(व)

वरमारट ६४
वातावरण ४७, ६०
वार्धा-शिक्षा-योजना ३१६
विकास की अवस्थाएँ २४
विचार विमर्श की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त ३०४
विषय केन्द्रित पाठ्यक्रम १५४
विलियम ईगर २४३
विद्यालय ४६, ७१, ७२, ७३, ७८, २२३, २२४, २२५, २४६, २६६
विश्वविद्यालय ६४
वुडवर्थ १०३
व्यक्ति स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त ३०२
व्यावसायिक शिक्षा १७२, १७३, १७५, १७७

(श)

शिक्षक ४, १७
शिक्षा ४८, ८०, ८६, ६१, ६२, ६३, ६७, १०२, १०८, १६५, २४८
शिक्षा का पाठ्यक्रम २५, ७०, ३३०
शिक्षण विधि ३१, ५५
शिक्षा का उद्देश्य २६, ३०, ३५, ३७, ५०, ६६, २८३
शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन २४८
शिक्षा की पुनर्रचना ३२१, ३२६
शिक्षा के आधार १
शिक्षा के कार्य १६७, १६८
शिक्षा के सामाजिक आधार १८३
शिक्षा के साधन २२१
शिक्षा तथा दर्शन ६
शिक्षा-दर्शन ११, ६६

शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीयता २७८
शिक्षा-समाज-विज्ञान १८६, १८७, १८८, १९२, १९१, २००, २०२
शिक्षा-सिद्धान्त ११
शिक्षण पद्धति ३२१
शिमट ३०३
शिल्प-कला १५५
शोषकाल २६५
श्यामती एण्ड्रूज २७९
श्रेणिक प्रक्रिया ५१

(स)

सहयोगात्मक समायोजन १६९
संस्कृति ३, १०२
संयुक्त राष्ट्र संघ २८०, ३०३
समाज शिक्षा २०५, २०६, २१४
सत्य, शिव, सुन्दर ४५, ४८
समाज १, ५१, २४४, २४५, २४६, ४७
समाज और शिक्षा २४३
समानता का सिद्धान्त ३०२
समाज-विज्ञान १८४
समाज-शास्त्र १८४
सदरलैण्ड १०३
सविधिक साधन २२१, २९४
सर्वाधिकार तन्त्र तथा जनतन्त्र राज्य में अन्तर २५३
सहगामी क्रियाएँ २८५
सांस्कृतिक उद्देश्य १०२, १०८
सामाजिक आधार ५
सामाजिक उद्देश्य १११
सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा १९६, १९७
सी पी० पीटर्स १८२
सी० राजगोपालाचार्य २६३
सेकेन्डरी एडुकेशन कमीशन १५१
सैलर्स १७
स्वतन्त्रता १२५, १२१